लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

(तृतीय भाग)

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[तृतीय भाग]

[कृदन्त-कारक-प्रकरणम्]

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न

- प्राप्ति-स्थान -

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक :
नचिकेता भाटिया
6442, मुखर्जी स्ट्रीट
गान्धीनगर, दिल्ली-110031

LAGHU-SIDDHĀNTA KAUMUDĪ-BHAIMĪ VYĀKHYĀ
Part III, Fourth Edition 2008

लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या
तृतीय भाग, चतुर्थ संस्करण २००८

मूल लेखक : **भीमसेन शास्त्री (1920-2002)**

मुख्य वितरक :
भैमी प्रकाशन
537, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-110006

मूल्य : तीन सौ पच्चीस रुपये केवल
Price : Rs. Three hundred twentyfive only.

मुद्रक : **राधा प्रेस**, गान्धीनगर,
दिल्ली-110031

॥ ओ३म् ॥

लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तार्तीयस्तन्यते भागः कृदन्तकारकात्मकः ॥

अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ।

(वाक्यपदीय २.४८७)

जिन लोगों ने ज्ञानवृद्धों की उपासना नहीं की, उनकी विद्या फलती फूलती नहीं —(**महावैयाकरण भर्तृहरि**) ।

ऋग्वेद में व्याकरणमहिमा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

(ऋग्वेद ४.५८.३)

* * *

अर्थ :—मनुष्यों में एक बैल घुस गया है जो दिव्य गुणों से युक्त महान् देव है । इस के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं । यह तीन स्थानों पर बन्धा हुआ बार बार शब्द करता है* । इस शब्द देवता के साथ अपना सायुज्य स्थापित करने के लिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए । —**पतञ्जलि (महाभाष्यकार)**

---

*चार सींग—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । तीन पैर—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीन काल । दो सिर—नित्य और अनित्य शब्द। सात हाथ—सात विभक्तियां । बन्धे रहने के तीन स्थान—छाती, कण्ठ और सिर ।

आत्म-निवेदन

लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या का यह तृतीयखण्ड व्याकरण-जिज्ञासुओं के आगे प्रस्तुत करते मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इस में संदेह नहीं कि इस खण्ड को तैयार करने में पर्याप्त समय लगा है परन्तु कोई भी पाठक इसे पढ़ कर कम से कम इतना अवश्य अनुभव करेगा कि इस के प्रणयन में काफी परिश्रम किया गया है।

कृदन्त-कारक-प्रकरणात्मक यह खण्ड भी पहले खण्डों की तरह सब प्रकार की विशेषताओं से संवलित है। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति, समास, परिभाषाजन्य विशेषता तथा पदों से निकला अर्थ दे कर पुनः उस की सरल शब्दों में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। वरदराज ने इस सूत्र का ऐसा अर्थ क्यों और कैसे किया है—इसे समझाने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ **आधारोऽधिकरणम्** (६०२) सूत्र पर वरदराज ने इस का अर्थ इस प्रकार लिखा है—**कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात्**। यह अर्थ सूत्र के पदों से कैसे निकला—इसे आप इस व्याख्या में अच्छी तरह समझ सकते हैं।

मूल लघुकौमुदी में आने वाले प्रत्येक रूप का अर्थ या विग्रह दर्शाते हुए उस की पूर्ण सिद्धि तो दी ही गई है परन्तु उस रूप के अतिरिक्त अन्य अनेक उदाहरण भी विशाल संस्कृत वाङ्मय से यथासम्भव प्रत्येक सूत्र पर संगृहीत किये गये हैं जिस से सूत्र का विषय पूरी तरह जिज्ञासुओं के हृदयंगम हो सके। संक्षेप में कहें तो इस खण्ड में मूल उदाहरणों के अतिरिक्त लगभग तीन सहस्र अन्य नये उदाहरण अर्थसहित दिये गये हैं। आवश्यक स्थानों पर फुटनोटों में प्रायः शास्त्रीय टिप्पणियां भी साथ दे दी गई हैं।

इस व्याख्या में लघुकौमुदी की प्रत्येक पंक्ति का भाव स्पष्ट करने में कोई कसर छोड़ी नहीं गई। प्रायः टीकाकार लघुकौमुदी के जिन स्थलों को छोड़ देते या नाममात्र का अनुवाद या टिप्पणी कर देते हैं वहां इस व्याख्या में उन उन स्थानों का पूरा पूरा विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ लघुकौमुदी के इन स्थलों को देखें—**अतः क्विँप्** (पृ० २२३); **क्तिन्नपीष्यते** (पृ० २१८); **लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्** (पृ० १२५); **तेनाप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्** (पृ० १३६) **केचिदविहिता अप्यूह्याः** (पृ० १७०); **अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा** (पृ० ३०८); **कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव** (पृ० ३२७); **परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः** (पृ० २६६) इत्यादि। आप इस व्याख्या में इन के विवरण को देख कर अवश्य ही सन्तुष्ट हो जायेंगे ऐसी व्याख्याकार को पूरी आशा है।

व्युत्पन्न विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली शङ्काओं को भी दे कर उन का इस व्याख्या में समाधान प्रस्तुत किया गया है। यथा—**ईद्यति** (७७४); **चजोः कु घिण्यतोः** (७८१), **दो दद् घोः** (८२७) आदि सूत्रों का इस व्याख्या में अवलोकन करें।

लघुकौमुदीकार के सूक्ष्म इङ्गितों की ओर इस व्याख्या में विशेष ध्यान दिया गया है। यथा—**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः०** (८७८) सूत्र पर वरदराज ने जहां 'अलम्' का उदाहरण 'अलं दत्त्वा' दिया है वहां 'खलु' का उदाहरण 'खलु पीत्वा' न दे कर 'पीत्वा खलु' दिया गया है। यहां विपरीतक्रम क्यों किया गया है? इस का समाधान आप इस व्याख्या में यथास्थान देख सकते हैं।

ग्रन्थकार की विसङ्गतियों की ओर भी इस व्याख्या में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यथा **ल्वादिभ्यः** (८१८) की वृत्ति में ग्रन्थकार ने ल्वादियों की संख्या २१ दी है परन्तु प्वादियों में केवल एक धातु के बढ़ जाने से उस की संख्या **प्वादीनां ह्रस्वः** (६९०) पर चौबीस गिनाई गई है—यह विसङ्गति कैसी? आप को इस का यथेष्ट सन्तोषप्रद उत्तर इस व्याख्या में यथास्थान मिलेगा। इसी प्रकार लघुकौमुदी के अशुद्ध पाठों की भी इस व्याख्या में ऊहापोह की गई है। यथा—**पचो वः** (८२२) सूत्र पर '**क्षै क्षये**' पाठ, **ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः** (वा० ५०) वार्त्तिक पर '**पूनिः**' पाठ का विवरण इस व्याख्या में द्रष्टव्य है।

प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध प्रत्यय के लिये संस्कृतवाङ्मय से चुनी हुई सुन्दर उक्तियों, सुभाषितों या प्रयोगों से भी इस व्याख्या को विभूषित करने का प्रयास किया गया है। लगभग छः सौ से भी अधिक सुन्दर उक्तियां इस में संगृहीत की गई हैं। ये सब वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्रग्रन्थ, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, महाकाव्य, नाटक, भट्टिकाव्य, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, भर्तृहरि-शतकत्रय आदियों से संकलित की गई हैं। कठिन उक्तियों का प्रायः हिन्दी में अर्थ भी दिया गया है। इस का उद्देश्य व्याकरण में भी काव्यों की तरह रसवत्ता का अनुभव कराना है।

सुप्रसिद्ध अनेक प्रत्ययों के लिये छात्रों के लिये उपयोगी कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ और टिप्पणी सहित अकारादिक्रम से इस में जोड़ी गई है। इस सूचियों में लगभग अढ़ाई हज़ार से अधिक शब्दों का संग्रह है। कुछ प्रधान सूचियां इस प्रकार हैं—

(१) तव्यत्-तव्य-अनीयर् प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २०५)।
(२) क्त-क्तवतुँप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २५०)।
(३) शतृँप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १५२)।
(४) शानच्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १०२)।
(५) उणादिप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १००)।
(६) तुमुँन्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३११)।
(७) ल्युट्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २७५)।
(८) क्त्वाप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३५०)।

(९) ल्यप्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३५०) ।

आशा है विद्यार्थियों को अनुवाद आदि में इन से बहुत लाभ होगा ।

कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल १६ सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है । इस व्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्युपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्रों की भी सोदाहरण सरल संक्षिप्त व्याख्या दी गई है । इस प्रकार इस व्याख्या में कारकप्रकरण के ६५ सूत्र व्याख्यात हुए हैं । कुल मिला कर लघुकौमुदी का कारकप्रकरण इस में ५६ पृष्ठों में व्याख्यात हुआ है, आशा है इस से आरम्भिक जिज्ञासु अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे ।

पहले भागों की तरह इस भाग में भी प्रत्येक अवान्तर प्रकरण के अन्त में प्रयाससाध्य अभ्यास जुटाए गये हैं । इन में लगभग २०० प्रश्न पूछे गये हैं । ये प्रश्न आधुनिक परीक्षा के प्रश्नों की तरह नहीं हैं । इन प्रश्नों के उत्तर इसी व्याख्या में ही निहित हैं । इस व्याख्या के अवगाहन से ही विद्यार्थी उन प्रश्नों का उत्तर पा सकते हैं ।

इस भाग में भी पूर्ववत् प्रत्येक प्रत्यय के अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाना इस व्याख्या का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस से विद्यार्थियों को पाणिनि के अन्तस्तल तक पहुंचने का अवसर प्राप्त होता है और वे पाणिनीयशास्त्र के महत्त्व को हृदयंगम कर लेते हैं ।

ये हैं इस व्याख्या के कुछ उद्दिष्ट लक्ष्य । लेखक कहां तक अपने उद्देश्य में सफल हुआ है इस का निर्णय वा परीक्षण करना पाठकों का ही काम है ।

इस व्याख्या के संशोधक प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री एम्० ए०, एम्० ओ० एल्० (पाणिनीय) रहे हैं। शास्त्री जी ने इस भाग के प्रायः प्रत्येक शब्द को पढ़ कर अनेक स्थानों पर अपने अनुभवपूर्ण टिप्पण तथा संशोधन सुझाए हैं —मैं वयोवृद्ध शास्त्रीजी का चिर कृतज्ञ हूं ।

इस ग्रन्थ के मुद्रण तथा प्रूफ़संशोधन में सर्वाधिक सहयोग देने वाले मेरे दो पुत्र ही रहे हैं—श्रीपतञ्जलिकुमार शास्त्री एम्० ए०, एम्० फिल् तथा अश्विनीकुमार विद्यार्थी । इन दोनों के प्रयत्न से ही यह ग्रन्थ पाठकों तक इस रूप में पहुँच सका है ।

आज की महर्घता में जहां कागज़ और छपाई आदि के दाम आकाश को छू रहे हैं–इस पुस्तक का मुद्रण कराना कोई आसान कार्य नहीं है, पुनरपि जैसे कैसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है–इस की मुझे प्रसन्नता है । यदि कृपालु पाठकों का सहयोग रहा तो इस के अन्तिम तीन भाग (समास, तद्धित, स्त्री–प्रत्यय) भी शीघ्र मुद्रित हो सकेंगे । इति शम् ।

मुकर्जी स्ट्रीट
गांधीनगर, दिल्ली-३१
वियजदशमी (११.१०.१९८०)

सुरभारती-समुपासक
भीमसेन शास्त्री

द्वितीय संशोधित संस्करण (२००१ ई०)

विषय–सूची

श्रीमद्वरदराजाचार्य्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[तृतीयो भागः]

——:o:——

पाणिन्यादिमुनीन् वन्दे नीरक्षीरविवेकिनः ।
यत्कृपालेशतः कृत्स्ना देववाणी प्रकाशते ॥१॥
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
कृदन्तादिरयम्भागस्तार्तीयस्तन्यते मया ॥२॥
यत्नस्यास्य महत्त्वं मे कृतिः संवक्ष्यति स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ॥३॥

——:o:——

अथ कृदन्तप्रकरणम्

अब कृदन्तप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

व्याख्या—**सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) के अनुसार पीछे सुबन्त और तिङन्त प्रकरणों का वर्णन हो चुका है। सुबन्तों का पूर्वार्ध और तिङन्तों का उत्तरार्ध के प्रथम भाग में। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) के अनुसार प्रथम कृदन्त (कृत् + अन्त) प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

कृत् यह प्रत्ययविशेषों की संज्ञा है। इस का वर्णन पीछे **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र पर कर चुके हैं। वहां पर क्विप्, क्विन्, कञ् आदि कुछ कृत्प्रत्ययों का विधान भी किया गया था परन्तु वह सब प्रासङ्गिक था। अब उन का विधिवत् प्रकरण प्रस्तुत

किया जा रहा है । कृदन्तों का ज्ञान विद्यार्थियों के लिये अत्यावश्यक है । इन के ज्ञान से अनुवाद तथा भाषण आदि में संस्कृत की सुषमा बहुत निखरती है । यथा **सोऽगमत्, सोऽपश्यत्** इन तिङन्त प्रयोगों के स्थान पर **स गतः, स गतवान्, तेन दृष्टम्, स दृष्टवान्** आदि कृदन्तों का प्रयोग बहुत सुन्दर प्रतीत होता है[1] । हितोपदेश, पञ्चतन्त्र तथा संस्कृतनाटक आदियों का अधिकांश भाग इन कृदन्तप्रयोगों से भरा पड़ा है । अतः आरम्भिक विद्यार्थियों को इन के ज्ञान से बहुत लाभ पहुंच सकता है । किञ्च यह प्रकरण विशेष कठिन भी नहीं है । यहां तिङन्तप्रकरण की तरह अनेक प्रकार के सूत्रों से रूप सिद्ध नहीं किया जाता अपितु प्रायः तीन-चार सूत्रों से ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है । हम ने इस प्रकरण को पूर्ववत् पूरे यत्न से खोलने का प्रयास किया है । विद्यार्थी वा जिज्ञासु यदि थोड़ा सा भी यत्न करेंगे तो इस प्रकरण में शीघ्र निष्णात हो कर लाभान्वित हो सकेंगे ।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया

अब कृदन्तों के वर्णन में प्रथम कृत्यप्रक्रिया का प्रकरण प्रारम्भ होता है—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(७६६) धातोः ।३।१।९१॥

आ तृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङ् (३०२) इति कृत्सञ्ज्ञा ॥

अर्थः—यहां से ले कर अष्टाध्यायी में तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जिन प्रत्ययों का वर्णन किया गया है वे धातु से परे हों । **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र से इन प्रत्ययों की कृत्सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—धातोः ।५।१। 'प्रत्ययः' 'परश्च' दोनों का अधिकार आ रहा है । यह भी अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार अष्टाध्यायी में तृतीयाध्याय की समाप्ति-पर्यन्त जाता है—ऐसा महाभाष्य में स्वीकार किया गया है । अर्थः—(प्रत्ययाः) यहां से ले कर तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्यय (धातोः) धातु से (पराः) परे होते हैं । इन प्रत्ययों में तिङ् प्रत्यय भी आ जाते हैं यद्यपि वे भी धातु से परे होते हैं तथापि **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र में 'अतिङ्' की व्यवस्थानुसार तिङ्प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य प्रत्ययों की ही कृत्सञ्ज्ञा होती है[2] । अतिङ् में नञ् पर्युदास अर्थ में

---

१ **एकतिङ् वाक्यम्** के अनुसार प्रत्येक वाक्य में एक तिङन्त अवश्य होता है, सो यहां भी स गतोऽस्ति, स गत आसीत्, तेन दृष्टमस्ति, तेन दृष्टमासीत् इत्यादि पूर्ण वाक्य समझना चाहिए । तिङन्त के अनायास गम्यमान होने से इसे छोड़ दिया जाता है ।

२. ध्यान रहे कि सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचारक्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, णिङ्, सिच्, क्स, स्य, तास्, शप्, श्यन्, श, श्ना, श्नम्, आदि कुछ प्रत्यय

है । कृत्संज्ञा करने का प्रयोजन **कर्तरि कृत्** (७६६) आदि सूत्रों के द्वारा कृत्प्रत्ययों का अर्थनिर्देश करना तथा **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा कृदन्तशब्दों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा का विधान करना है । प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण ही कृदन्तों से सुप्प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है । तिङ् की कृत्संज्ञा नहीं होती अतः तिङन्तों की प्रातिपदिकसंज्ञा न होने से उन से परे सुपों की उत्पत्ति भी नहीं होती ।

कुछ लोग यहां अष्टाध्यायी में शङ्का करते हैं कि इस **धातोः** अधिकार के चलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । क्योंकि पीछे इसी पाद में **धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (७११) सूत्र से 'धातोः' का अनुवर्तन हो ही रहा है अतः उसी से यहां का कार्यनिर्वाह भी हो सकता है—परन्तु उन का यह कथन युक्त नहीं है । कारण कि **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) आदि सूत्रों में दो बार 'धातोः' पदों की आवश्यकता पड़ती है वरन् वहां 'धातोरिति विहितः' यह अर्थ नहीं हो सकता तब 'लूभ्याम्' 'लूभिः' इत्यादियों में भी इट् की अनिष्ट प्राप्ति होती—इस का विवेचन उसी सूत्र (४०४) पर पीछे सविस्तर किया जा चुका है ।

अब कृदन्तप्रकरण की एक अत्यावश्यक बहुव्यापृत परिभाषा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] परिभाषासूत्रम्—**(७६७) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ।३।१।९४।।**

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।।

अर्थः—इस उपर्युक्त धात्वधिकार में असमानरूप वाला[1] अपवादप्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प से हो, परन्तु यह बात स्त्र्यधिकार के प्रत्ययों में लागू नहीं होती ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । असरूपः ।१।१। अस्त्रियाम् ।७।१। तत्र इत्यव्ययपदम् (**तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** से) । समानं रूपं यस्य स सरूपः, **ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु** (६.३.८४) इति समानस्य सभावः, बहुव्रीहिसमासः । न सरूपः—असरूपः, नञ्समासः । किसी प्रत्ययविशेष का निर्देश न होने से इस परिभाषा को सामान्यतया उत्सर्ग-अपवादविषयक ही माना जाता है अतः 'उत्सर्गस्य बाधकः' का अध्याहार कर लिया जाता है । अर्थः—(तत्र) पूर्वोक्त 'धातोः' के अधिकार मे (असरूपः) असमानरूप वाला अपवाद प्रत्यय (उत्सर्गस्य बाधकः) उत्सर्ग का बाधक (वा) विकल्प से हो । (अस्त्रियाम्[2]) परन्तु यह नियम स्त्र्यधिकार

इस धात्वधिकार से पहले ही अष्टाध्यायी में कहे गये हैं । उन की कृत्संज्ञा नहीं होती । यदि उन की कृत्संज्ञा हो जाये तो तदन्तों से भी सुप्प्रत्ययों की उत्पत्ति होने लगे जो अनिष्ट है ।

१. अपवादप्रत्यय की असमानरूपता उत्सर्गप्रत्यय की अपेक्षा से समझनी चाहिए ।

२. 'अस्त्रियाम्' पर स्वरित का चिह्न है अतः **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) के नियमानुसार यहां 'स्त्री' से स्त्र्यधिकार ग्रहण किया जाता है । तृतीयाध्याय के

में प्रवृत्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वैसे तो अपवाद (विशेष) सर्वत्र उत्सर्ग (सामान्य) का बाधक होता है[1] परन्तु इस धात्वधिकार में वह उत्सर्ग का बाध विकल्प से किया करता है पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति हो जाती है। उदाहरण यथा—

तव्यत्तव्यानीयरः (७७१) द्वारा धातुमात्र से तव्यत् तव्य और अनीयर् सामान्य प्रत्यय विधान किये गये हैं। **अचो यत्** (७७३) द्वारा अजन्त धातुओं से विहित यत् प्रत्यय इन का अपवाद है। परन्तु प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा पक्ष में तव्यत् आदि भी हो जायेंगे। चेयम् (यत्), चेतव्यम् (तव्यत् या तव्य), चयनीयम् (अनीयर्)। जेयम् (यत्), जेतव्यम् (तव्यत् या तव्य), जयनीयम् (अनीयर्)। देयम् (यत्), दातव्यम् (तव्यत् या तव्य), दानीयम् (अनीयर्)।

इसी प्रकार तव्यत् तव्य और अनीयर् इन सामान्य प्रत्ययों का **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से विहित ण्यत् प्रत्यय अपवाद है पर वह अपवाद प्रकृतपरिभाषा के कारण विकल्प से प्रवृत्त होगा, पक्ष में तव्यत् आदि भी हो जायेंगे—कार्यम् (ण्यत्), कर्त्तव्यम् (तव्यत् या तव्य), करणीयम् (अनीयर्)। त्याज्यम् (ण्यत्), त्यक्तव्यम् (तव्यत् या तव्य), त्यजनीयम् (अनीयर्)। हार्यम्, हर्तव्यम्, हरणीयम्।

ण्वुल्तृचौ (७८४) द्वारा विहित ण्वुल् और तृच् सामान्य प्रत्यय हैं। इन का **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (७८७) से विहित 'क' प्रत्यय अपवाद है। प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा पक्ष में ण्वुल् और तृच् भी हो जायेंगे—बुधः (क), बोधकः (ण्वुल्), बोद्धा (तृच्)[2]। क्षिपः (क), क्षेपकः (ण्वुल्), क्षेप्ता

अन्तर्गत **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.९४) से लेकर **आक्रोशे नञ्यनिः** (३.३.११२) तक का प्रसिद्ध अधिकार पढ़ा गया है उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है। कुछ लोग चतुर्थाध्यायस्थ 'स्त्रियाम्' (४.१.३) यह स्त्रीप्रत्ययों वाला अधिकार समझते हैं। यह उन की भूल है।

१. सामान्यविधि को उत्सर्ग तथा विशेषविधि को अपवाद कहते हैं। विशेष सामान्य का बाधक होता है और यह उचित भी है। सामान्यविधि विशेषविधि के विषय को छोड़ कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है। जैसा कि कहा गया है—**प्रकल्प्य (परित्यज्य) चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते**। लोक में भी यह देखा जाता है 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय', ब्राह्मणों को (ब्राह्मणमात्र को) दही दिया जाये और कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण को तक्र (मठा) दिया जाये, ऐसा कहने पर सामान्यविधि से प्राप्त दधिदान विशेषविहित तक्रदान से बाधित हो जाता है। कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं दिया जाता, तक्र ही दिया जाता है। अतः अपवाद उत्सर्ग को नित्य बाधता है।

२. यहां पर दैवादिक **बुध अवगमने** इस अनिट् धातु का प्रयोग किया गया है, यदि भौवादिक बुध धातु का प्रयोग होगा तो धातु के सेट् होने से 'बोधिता' रूप बनेगा।

(तृच्) । ज्ञः (क), ज्ञायकः[1] (ण्वुल्), ज्ञाता (तृच्) । प्रियः (क)[2], प्रायकः (ण्वुल्), प्रेता (तृच्) । किरः (क), कारकः (ण्वुल्), करिता-करीता[3] (तृच्) ।

इसी तरह ण्वुल् तृच् इन सामान्य प्रत्ययों का **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः** (७८६) द्वारा ग्रह्यादियों से विहित णिनिँप्रत्यय अपवाद है । परन्तु प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा, पक्ष में ण्वुल्-तृच् भी हो जायेंगे ; ग्रह् — ग्राही (णिनिँ), ग्राहकः (ण्वुल्), ग्रहीता (तृच्)[4] ।

परन्तु अपवादों का वैकल्पिकत्व तभी होता है जब वे उत्सर्ग के साथ असरूप हों अर्थात् अपवाद और उत्सर्ग का रूप एक-जैसा न हो, भिन्न-भिन्न हो । ध्यान रहे कि यह असरूपता प्रत्ययों से अनुबन्धों को हटा कर ही देखनी चाहिये[5] । यथा **कर्मण्यण्** (७६०) द्वारा विहित अण् प्रत्यय उत्सर्ग है, **आतोऽनुपसर्गे कः** (७६१) द्वारा विधान किया गया 'क' प्रत्यय उसका अपवाद है । यहां अपवाद वैकल्पिक बाध नहीं करेगा अपितु उत्सर्ग का नित्य ही बाध करेगा । कारण कि 'अण्' और 'क' दोनों सरूप = एक जैसे रूप वाले प्रत्यय हैं । अनुबन्धों को हटा कर दोनों का 'अ' रूप ही शेष रहता है । कम्बलं ददातीति—कम्बलदः, गां ददातीति—गोदः । इन में केवल अपवाद 'क' प्रत्यय ही हुआ है ।

अचो यत् (७७३) सामान्यसूत्र है । इस का **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) अपवाद है । पर यत् (य) ण्यत् (य) असरूप प्रत्यय नहीं अतः यहां ण्यत् प्रत्यय नित्य बाध करेगा । कृ—कार्यम्, हृ—हार्यम् । यत् प्रत्यय न होगा ।

इसीप्रकार—**अचो यत्** (७७३) का **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) द्वारा विधीयमान क्यप् प्रत्यय अपवाद है । पर यत् (य) और क्यप् (य) समान रूप वाले प्रत्यय हैं अतः अपवाद नित्य बाध करेगा—इत्यः, स्तुत्यः, वृत्यः, आदृत्यः ।

ऋहलोर्ण्यत् (७८०) का **पोरदुपधात्** (७७५) अपवाद है । पर ण्यत् (य) यत् (य) सरूप प्रत्यय हैं अतः अपवाद द्वारा उत्सर्ग का नित्य बाध होगा— लभ्यम् ।

यह परिभाषा **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) के अधिकार में प्रवृत्त नहीं होती । अतः वहां अपवाद चाहे उत्सर्ग के साथ असरूप भी क्यों न हो उत्सर्ग का नित्य ही बाधक होता है । उदाहरण यथा —

स्त्रियां क्तिन् (८६३) सामान्यसूत्र है । **अ प्रत्ययात्** (८६७) उस का अपवाद है । 'क्तिन्' और 'अ' यद्यपि परस्पर असरूप हैं तथापि अपवाद 'अ' उत्सर्ग 'क्तिन्' का बाध नित्य ही करेगा —चिकीर्षा । जिहीर्षा ।

---

१. ण्वुलि **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) इति युँक् ।

२. प्रीणातीति प्रियः ; 'प्रायकः' और 'प्रेता' का भी यही अर्थ है पर प्रयोग दुर्लभ है ।

३. **वृतो वा** (६१५) इत्यनेन इटो वा दीर्घः ।

४. **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६६३) इतीटो दीर्घः ।

५. जैसाकि पाणिनीय परिभाषापाठ में कहा गया है— **नाऽनुबन्धकृतमसारूप्यम्** अर्थात् अनुबन्धों के कारण विरूपता नहीं माननी चाहिए ।

इस सूत्र पर निम्नलिखित चार बातें विद्यार्थियों को सदा ध्यान में रखनी चाहियें—

(१) उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों के दोनों प्रत्यय **धातोः** (७६६) के अधिकार के अन्तर्गत हों।

(२) उन का रूप अनुबन्धों को हटाने के बाद विशुद्ध (Naked) अवस्था में समान न हो।

(३) वे दोनों अष्टाध्यायी के तृतीयाध्यायान्तर्गत **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.९४) वाले अधिकार में न पढ़े गये हों।

यदि ये तीनों शर्तें पूरी हों तो—

(४) अपवाद विकल्प से उत्सर्ग का बाधक होगा अर्थात् पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति हो जायेगी। अन्यथा वह नित्य ही बाधक होगा जैसाकि सर्वत्र हुआ करता है—

उत्सर्गे चापवादे च धातोरित्यधिकारता।
विमुक्तेष्वनुबन्धेषु न सारूप्यं क्वचिद् भवेत्॥
स्त्र्यधिकारे तृतीयेऽपि नान्तर्भावस्तयोर्यदि।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर् वाऽसौ सामान्यबाधकः॥

नोट—ध्यान रहे कि इस वाऽसरूपपरिभाषा की भी प्रवृत्ति कहीं कहीं नही होती। पाणिनीयव्याकरण में ये तीन परिभाषाएं सुप्रसिद्ध हैं—

(१) **ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

(२) **क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

(३) **लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

इन की व्याख्या तथा उदाहरण व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब 'कृत्य' संज्ञा विधान करने के लिये अग्रिम अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(७६८) कृत्याः ३।१।९५॥

ण्वुल्तृचौ (७८४) इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः॥

अर्थः—ण्वुल्तृचौ (३.१.१३३) सूत्र से पहले जितने प्रत्यय कहे गये हैं उन की कृत्यसंज्ञा हो।

व्याख्या—कृत्याः।१।३। यह अधिकारसूत्र है, इस का अधिकार अष्टाध्यायी में **ण्वुल्तृचौ** (३.१.१३३) सूत्र से पहले तक जाता है[1]। अर्थः—यहां से आगे (प्रत्ययाः) जो प्रत्यय कहे हैं वे (कृत्याः) कृत्यसंज्ञक हों। कृत्यसंज्ञा का उपयोग **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०), **कृत्य-ल्युटो बहुलम्** (७७२) आदि सूत्रों में आगे किया गया है।

---

१. **ण्वुल्तृचौ** (३.१.१३४) सूत्र इस अधिकार में नहीं आता अत एव काशिकाकार इस सूत्र को **कृत्याः प्राङ् ण्वुलः** इस प्रकार पढ़ते हैं।

ध्यान रहे कि कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों की कृत्संज्ञा भी अक्षुण्ण रहती है। यहां एक-संज्ञा का अधिकार न होने से संज्ञाद्वय का समावेश अनायास सिद्ध हो जाता है। अष्टाध्यायी मे (१) तव्यत्, (२) तव्य, (३) अनीयर्, (४) यत्, (५) क्यप्, (६) ण्यत् ये छः प्रत्यय विविध सूत्रों द्वारा इस कृत्य के अधिकार में कहे गये है। वार्त्तिककार ने **केलिमर उपसंख्यानम्** द्वारा सातवां केलिमर् प्रत्यय भी प्रतिपादित किया है। इस प्रकार कृत्यप्रत्यय कुल सात हो जाते हैं—

तव्यं च तव्यतञ्चैवाऽनीयर्-केलिमरौ तथा।
यतं ण्यतं क्यपं चापि कृत्यान् सप्त प्रचक्षते॥[1]

अब कृत्यप्रत्ययों का अर्थ-निर्देश करने के लिये प्रथम सामान्यसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७६९) कर्त्तरि कृत् ।३।४।६७॥

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते—

अर्थः—कृत्सञ्ज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हों। इस सूत्र के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—कर्त्तरि।७।१। कृत्।१।१। प्रत्ययः।१।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(कृत्) कृत्संज्ञक (प्रत्ययः) प्रत्यय (कर्तरि) कर्त्ता अर्थ में होता है।

कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हुआ करते हैं। जैसे ण्वुल् और तृच् कृत्संज्ञक प्रत्यय हैं अतः ये जिस जिस धातु से विधान किये जायेंगे उस उस के कर्त्ता को निर्दिष्ट करेंगे। यथा - 'कृ' धातु से ण्वुल् (वु) प्रत्यय हो कर 'वु' को 'अक' आदेश तथा ऋकार को वृद्धि करने से 'कारकः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—करोतीति कारकः अर्थात् 'करने वाला'। इसी प्रकार तृच् (तृ) प्रत्यय करने पर आर्धधातुक-निबन्धन गुण (३८८) हो कर 'कर्त्ता' प्रयोग निष्पन्न होता है। इस का भी अर्थ है—करोतीति कर्त्ता अर्थात् 'करने वाला'।

तव्यत्, तव्य, अनीयर् आदि वक्ष्यमाण कृत्यप्रत्यय भी कृत्संज्ञक होते हैं, अतः वे भी प्रकृतसूत्र से कर्त्ता अर्थ में प्राप्त होते हैं। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. पाणिनि की इस 'कृत्य' संज्ञा का आश्रय ले कर कल्हण ने श्लेषद्वारा राज-तरङ्गिणी में एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम्॥ (राज० ४.६३५)

अर्थात् काश्मीरनरेश जयापीड और पाणिनि में अन्तर ही क्या है? पाणिनि कृत्य (प्रत्यय) करता है, जयापीड भी कृत्य (कर्त्तव्य) कर चुका है। पाणिनि गुण-वृद्धि का विधान करता है जयापीड भी गुणवृद्धि (गुणों की वृद्धि) में निरन्तर तत्पर है।

खल्

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७७०) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०॥**

एते भावकर्मणोरेव स्युः ॥

अर्थः—कृत्यसंज्ञक प्रत्यय, क्त प्रत्यय तथा खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही हों।

व्याख्या—तयोः ।७।२। एव इत्यव्ययपदम् । कृत्यक्तखलर्थाः ।१।३। प्रत्ययाः ।१।३। (**प्रत्ययः** इस अधिकृत का वचनविपरिणाम द्वारा)। इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः** (३.१.६९) सूत्र पढ़ा गया है, अतः प्रकृत में 'तयोः' से पूर्वोक्त 'कर्मणि' और 'भावे' पदों की ही अनुवृत्ति होती है। कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च[1] कृत्य-क्त-खलर्थाः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(कृत्यक्तखलर्थाः प्रत्ययाः) कृत्यप्रत्यय क्तप्रत्यय तथा खलर्थप्रत्यय (तयोः—भावे कर्मणि) भाव और कर्म में (एव) ही होते हैं। यदि धातु अकर्मक होगी तो ये प्रत्यय भाव में और यदि सकर्मक होगी तो ये प्रत्यय कर्म में होंगे[2]। इन के उदाहरण यथा—

(कृत्य)—तव्यत् तव्य अनीयर् आदि कृत्यप्रत्यय हैं। कर्तव्यः कटो भवता, करणीयः कटो भवता (आप से चटाई बनने योग्य है)। यहां कृ धातु सकर्मक है अतः कृत्यप्रत्यय कर्म में हुआ है। भवता शयितव्यम्, भवता शयनीयम् (आप को सोना चाहिये)। यहां शी धातु अकर्मक है अतः कृत्यप्रत्यय भाव में हुआ है।

(क्त)—कृतो घटस्त्वया (तुझ से घड़ा बनाया गया है)। यहां 'कृ' धातु सकर्मक है अतः क्त प्रत्यय कर्म में किया गया है। भवता शयितम् (आप से सोया गया)। यहां शीङ् धातु अकर्मक है अतः क्तप्रत्यय भाव में किया गया है।

(खलर्थ) ईषत्करः कटो भवता, सुकरः कटो भवता (आप से चटाई बनाना आसान है)। यहां कृ धातु के सकर्मक होने से **ईषद्दुःसुषु०** (८७६) सूत्र द्वारा खल् प्रत्यय कर्म में किया गया है। दुर्जीवमपथ्यभुजा रोगिणा (कुपथ्य खाने वाले रोगी का जीवित रहना कठिन है)। यहां जीव् धातु अकर्मक है अतः पूर्वोक्तसूत्र से खल् प्रत्यय भाव मे किया गया है। इसी प्रकार युच् आदि अन्य खलर्थ प्रत्ययों के विषय में भी समझना चाहिये।

यद्यपि यहां भाव और कर्म कृत्यप्रत्ययों के वाच्य प्रतिपादित किये गये हैं तथापि क्वचित् इन के साथ साथ इन से अन्य भी कुछ एक अर्थ द्योतित होते है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में उन का कुछ उल्लेख नहीं किया गया पर विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी होने से उन का यहां कुछ निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है—

(क) **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** ।३।३।१६३॥ प्रैष (अपने से निकृष्ट नौकर आदि को कार्य में लगाना), अतिसर्ग (किसी को इच्छानुसार काम करने की

१. खलोऽर्थः खलर्थः, खलर्थ एवार्थो येषां ते खलर्थाः। खलर्थ खल्, युच् आदि प्रत्यय आगे उत्तरकृदन्त में व्याख्यात है वहीं देखें।

२. 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' इत्यनुवृत्तेस्सकर्मकेभ्यो भावे न सन्तीति बोध्यम्।

तव्य - तव्य अनीयर्

अनुमति देना) और प्राप्तकाल (जिस का समय आ चुका है ऐसी बात)—इन अर्थों के गम्य होने पर भी कृत्यों का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—

प्रैष में—जलमानेतव्यं त्वया (तुझे पानी लाना होगा), त्वयाऽत्र स्थातव्यम् (तुझे यहां ठहरना होगा)। यहां क्रमशः कर्म और भाव में कृत्य (तव्यत्) प्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ यह भी द्योतित होता है कि किसी अपने से निकृष्ट को आदेश दिया जा रहा है,

अतिसर्ग में—भवता जलं पातव्यम् (आप को जल पीना चाहिये या यथेच्छ कुछ अन्य), भवता शयितव्यम् (आप को सोना चाहिये या यथेच्छ कुछ अन्य करना चाहिये)। यहां क्रमशः कर्म और भाव में कृत्यप्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ अतिसर्ग अर्थात् यथेच्छ काम करने की अनुमति भी द्योतित होती है।

प्राप्तकाल में—त्वयेदानीं पलायितव्यम् (तुझे अब भागने का अवसर है), शयनं त्यक्तव्यं त्वया (शयन छोड़ने का तेरा समय है)। यहां क्रमशः भाव और कर्म में कृत्यप्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ कार्य की प्राप्तकालता भी द्योतित होती है।

ध्यान रहे कि इन अर्थों में लोँट् का भी प्रयोग वैध है। जलमानय, अत्र तिष्ठ आदि।

(ख) **अर्हे कृत्यतृचश्च** (३.३.१६९)योग्य कर्त्ता गम्य या वाच्य हो तो धातु से कृत्य, तृच् और लिँङ् का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—त्वया कन्या वोढव्या (तव्य), त्वं कन्याया वोढा (तृच्), त्वं कन्यां वहेः (लिँङ्) (तुम कन्या को ब्याहने योग्य हो)।

(ग) **शकि लिँङ् च** (३.३.१७२)—यदि धातु के अर्थ की शक्यता (हो सकना) गम्यमान हो तो लिँङ् और कृत्य प्रत्ययों का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—भवता खलु भारो वोढव्यः, भवान् खलु भारं वहेत् (आप से भार उठाया जा सकता है)।

अब कृत्यप्रत्ययों का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७१) **तव्यत्तव्यानीयरः ।३।१।९६।।**

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भावे—औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च। चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया।।

अर्थः धातु से परे तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते है। **भावे**—भाव में स्वाभाविक एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ करता है।

व्याख्या—तव्यत्तव्यानीयरः ।१।३। धातोः ।१।५। (यह अधिकृत है)। प्रत्ययाः ।१।३। पराः ।१।३। [**प्रत्ययः परश्च** अधिकारों से वचनविपरिणाम कर के]। तव्यत् च तव्यश्च अनीयर् च तव्यत्तव्याऽनीयरः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(धातोः) धातु

से (पराः) परे (तव्यत्तव्यानीयरः) तव्यत् तव्य और अनीयर् (प्रत्ययाः) प्रत्यय होते है। किसी भी धातु से इन तीनों प्रत्ययों का समुदित प्रयोग लोक या वेद में कहीं नहीं देखा जाता अतः ये प्रत्यय पर्याय से होते हैं।

तव्यत् का अन्त्य तकार तथा अनीयर् का अन्त्य रेफ **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। तव्य और अनीय ही शेष रहता है। तव्यत् और तव्य के रूपों में कोई अन्तर नहीं पड़ता केवल उन की स्वरव्यवस्था में ही अन्तर पड़ता है। तव्यत्प्रत्ययान्त शब्द **तित्स्वरितम्** (६.१.१७६) से स्वरितान्त होते हैं परन्तु तव्य-प्रत्ययान्त शब्दों में 'तव्य' का 'त' **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) सूत्र से उदात्त रहता है। अनीयर् में रेफ के इत् होने से **उपोत्तमं रिति** (६.१.२११) से अनीयर् का 'नी' उदात्त हो जाता है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः विशेषजिज्ञासु इसे काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में समझने का प्रयत्न करें।

तव्यत् तव्य और अनीयर् ये तीनों प्रत्यय **धातोः** (७६६) के अधिकार में पढ़े गये हैं अतः **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक हैं। परन्तु **कृत्याः** (७६८) से कृत्यसञ्ज्ञक भी हैं। अतः **कर्तरि कृत्** (७६९) से यद्यपि इन को कर्त्ता में होना चाहिये था तथापि उस के अपवाद **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार भाव और कर्म में ही होते हैं। धातु के अर्थ को ही भाव कहते हैं। भाव न तो स्त्री होता है और न पुंलिङ्ग अतः **सामान्ये नपुंसकम्** के अनुसार उस में नपुंसक लिङ्ग ही सम्भव है। इस के अतिरिक्त भाव सदा अद्रव्यरूप होता है, इस से उस में संख्या का योग उपपन्न नहीं होता अतः द्विवचन और बहुवचन नहीं होते केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है। एकवचन का प्रयोग महाभाष्य में औत्सर्गिक या स्वाभाविक माना गया है वह विना संख्यायोग के भी हो सकता है [देखें भावकर्मप्रक्रिया पर एतद्विषयक हमारी एक टिप्पण]। जब प्रत्यय भाव में होता है तब कर्त्ता अनुक्त या अनभिहित रहता है, तब **कर्तृकरणयो-स्तृतीया** (८९५) सूत्र से उस में तृतीया विभक्ति हुआ करती है। उदाहरण यथा—

एधितव्यम् एधनीयं वा त्वया (तुझे बढ़ना चाहिये; तुम बढ़ने में समर्थ हो; तुम्हारा बढ़ने का अवसर है इत्यादि)। यहां 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से अनुबन्धलोप कर भाव में **तव्यत्तव्यानीयरः** (७७१) से तव्यत् प्रत्यय किया गया है। तव्यत् प्रत्यय के तकार की इत्संज्ञा और लोप करने से 'तव्य' मात्र शेष रहता है—एध्+तव्य। **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से तव्यत् प्रत्यय आर्धधातुक है अतः **आर्ध-धातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से उसे इट् का आगम हो कर -एध्+इट् तव्य=एध्+इतव्य -'एधितव्य' यह कृदन्त शब्द बनता है। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। भाव में नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाकर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'एधितव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के कर्त्ता 'युष्मद्' में अनुक्त होने से तृतीयाविभक्ति होकर 'त्वया' बना। ध्यान रहे कि कर्त्ता चाहे कोई रहेगा तृतीयान्त रहेगा, हां उस के वचन में परिवर्त्तन

हो सकता है पर 'एधितव्यम्' अपरिवर्त्तित रहेगा। यथा—

एधितव्यं त्वया, एधितव्यं युवाभ्याम्, एधितव्यं युष्माभिः।
एधितव्यं मया, एधितव्यम् आवाभ्याम्, एधितव्यम् अस्माभिः।
एधितव्यं तेन, एधितव्यं ताभ्याम्, एधितव्यं तैः।
एधितव्यं तया, एधितव्यं ताभ्याम्, एधितव्यं ताभिः।
एधितव्यं पुरुषेण, एधितव्यं पुरुषाभ्याम्, एधितव्यं पुरुषैः। इत्यादि।

तव्यप्रत्यय में भी 'तव्यत्' की तरह सिद्धि होती है केवल तकार का लोप नहीं होता।

अनीयर् प्रत्यय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं अतः इट् का आगम नहीं होता शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें—एध्+अनीयर्=एध्+अनीय=एधनीय=एधनीयं त्वया, युवाभ्याम् इत्यादि।

सकर्मक धातुओं से जब कर्म में तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय किये जाते हैं तो कर्म उक्त या अभिहित हो जाता है तब उस में द्वितीया विभक्ति न हो कर **प्रातिपदिकार्थ०** (८८८) सूत्र से प्रथमा विभक्ति ही होती है। उदाहरण यथा—

'चिञ् चयने' (स्वा० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः इस से कर्म मे तव्यत् आदि प्रत्यय हो जाते हैं। तव्यत् और तव्य के वलादि आर्धधातुक होने से प्राप्त इट् का आगम **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषिद्ध हो जाता है। अब **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से आर्धधातुकनिबन्धन इग्लक्षण गुण कर सुबादियों की उत्पत्ति हो कर—'चेतव्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। चेतव्यो धर्मस्त्वया मयाऽन्येन सर्वैर्वाऽस्माभिः। अनीयर् प्रत्यय में गुण हो कर **एचोऽयवायावः** (२२) से एकार को अयादेश हो जाता है—चयनीयो धर्मस्त्वया मयाऽन्येन वा। ध्यान रहे कि 'चेतव्य' या 'चयनीय' में कर्म में कृत्यप्रत्यय किया गया है अतः कर्म के अनुसार ही इनमें लिङ्ग विभक्ति और वचनों की व्यवस्था होगी। यहां 'धर्मः' कर्म पुंलिङ्ग और प्रथमा का एकवचन था अतः चेतव्यः' और 'चयनीयः' में भी पुंलिङ्ग और प्रथमा का एकवचन हुआ है। कर्त्ता अनुक्त है अतः उस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति हुई है। अनुक्त होने से उसका कृत्यप्रत्ययान्त से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है अतएव उस के द्विवचनान्त व बहुवचनान्त होने पर भी 'धर्मः' और उस के विशेषण 'चेतव्यः' या 'चयनीयः' आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यथा—चेतव्यो धर्मो युवाभ्याम्, चेतव्यो धर्मो युष्माभिः। हां यदि कर्म द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होगा तो कृत्प्रत्ययान्त भी तद्वत् वचन और लिङ्ग भी ग्रहण कर लेगा। यथा—त्वया पुस्तके पठितव्ये, अस्माभिः सम्माननीया गुरवः, त्वया पुष्पाणि चेतव्यानि।[1]

---

१. ध्यान रहे कि यहां कृत्यप्रत्ययों के योग मे अनुक्त या अनभिहित कर्ता मे हम ने प्रसिद्धत्वात् तृतीयाविभक्ति के प्रयोग ही दिखाये हैं, परन्तु ऐसे स्थलों पर अनुक्त कर्त्ता में षष्ठीविभक्ति के प्रयोग भी हो सकते हैं। जैसा कि आचार्य पाणिनि ने कहा है—**कृत्यानां कर्तरि वा** (२.३.७१) अर्थात् कृत्यप्रत्ययो के योग में

केलिमर

तव्यत् तव्य और अनीयर् की सिद्धि मे ध्यान देने योग्य कुछ बातें—

(१) तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय धातुमात्र से हो सकते हैं।

(२) तव्यत् और तव्य प्रत्यय वलादि आर्धधातुक हैं अतः यदि धातु सेट् होगी तो इन प्रत्ययों को इट् का आगम हो जाता है। धातु के अनिट् होने पर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है। अनीयर् प्रत्यय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं अतः उसे इट् का आगम प्राप्त ही नही होता।

(३) तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्ययों के परे होने पर यदि कोई प्रतिबन्ध नहीं तो गुण हो जाता है।[1]

(४) इट् और गुण से निपटने के बाद अवान्तर कार्य या सन्धि आदि कर के उसे कृदन्त शब्द बना कर तब उस से स्वादियों की उत्पत्ति करनी चाहिए। यदि भाव में प्रत्यय हुआ हो तो केवल नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन मे ही सिद्धि करनी पड़ती है, यदि कर्म में प्रत्यय हुआ हो तो कर्म के लिङ्गवचनानुसार विभक्ति लाई जाती है। स्त्रीलिङ्ग में टाप् आदि प्रत्यय लाये जाते हैं तब सुँ आदि की उत्पत्ति होती है। यथा—त्वया कन्या वोढव्या, अस्माभिः स्त्रियो बहु मन्तव्याः। द्वे अपि कन्ये दर्शनीये। इत्यादि।

अब तव्यत् आदियों के साथ एक अन्य प्रत्यय का भी विधान करने के लिए एक वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(४६)[2] **केलिमर उपसंख्यानम्** ॥

पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि प्रत्ययः ॥

अर्थः—**तव्यत्तव्यानीयरः** (७७१) सूत्र में केलिमर् प्रत्यय को भी पढ़ना चाहिए।

व्याख्या—केलिमरः ।६।१। उपसङ्ख्यानम् ।१।१। यह वार्तिक महाभाष्य में **तव्यत्तव्यानीयरः** (७७१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिए। अर्थः तव्यत् आदि प्रत्ययों के साथ (केलिमरः) केलिमर् प्रत्यय का भी (उपसंख्यानम्) उपसंख्यान=परिगणन करना चाहिए।

केलिमर् प्रत्यय में आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा अन्त्य रेफ

अनुक्त कर्त्ता में विकल्प से षष्ठीविभक्ति हो जाती है। पक्ष में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया। यथा—

चेतव्यो धर्मस्त्वया, चेतव्यो धर्मस्तव। एधनीयं त्वया, एधनीयं तव। **गन्तव्या** ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् (मेघदूत ७)।

१. कहीं कहीं पर प्रतिबन्ध भी हुआ करता है। यथा कुट्+इट् तव्य=कुटितव्यम् यहा पर **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्न् ङित्** (५८७) सूत्र से तव्यत् के ङिद्वत् हो जाने से **क्ङिति च** (४३३) द्वारा लघूपधगुण का निषेध हो जाता है।

२. इस व्याख्या के द्वितीय भाग में चौंतीसवीं वार्तिक से आगे वार्तिको के क्रमाङ्क में एक संख्या की वृद्धि अशुद्ध मुद्रित होती चली गई है। उसे पाठक ठीक कर लें। यहां से वार्तिक क्रमाङ्क पुनः शुद्ध कर दिया गया है।

कृत्य, ल्युट्

हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'एलिम' ही शेष रहता है।[1] उदाहरण यथा—

पचेलिमा माषाः (पकाने योग्य उड़द)। 'डुपचँष् पाके' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप हो कर 'पच्' शेष रहता है। इस से केलिमर् प्रत्यय हो कर उस के अनुबन्धों का लोप कर 'पचेलिम' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस का विशेष्य 'माषाः' है अतः तदनुसार लिङ्ग-विभक्ति-वचन लाने से 'पचेलिमा माषाः' सिद्ध होता है। यहां कर्म में केलिमर् किया गया है।

भिदेलिमाः सरलाः (तोड़ने या काटने के योग्य चीड़ के पेड़)। यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा० उभय० अनिट्) धातु से केलिमर् प्रत्यय किया गया है। धातु के इर् का लोप करने पर —भिद्+केलिमर्=भिद्+एलिम। केलिमर् के कित्त्व के कारण **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से प्राप्त लघूपधगुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है—भिदेलिम। अब इस कृदन्त शब्द से 'सरलाः' इस विशेष्य के अनुसार लिङ्ग और विभक्तिवचन लाने पर 'भिदेलिमाः सरलाः' सिद्ध होता है। यहां भी कर्म में प्रत्यय किया गया है। इसी प्रकार —'भवतेदम् अवधेलिमम्' आदि प्रयोग जान लेने चाहियें। यहां पर केलिमर् के कित्त्व के कारण **आतो लोप इटि च** (४८९) सूत्र से धा के आकार का लोप हुआ है।

नोट—काशिकाकार ने इस केलिमर् प्रत्यय को कर्मकर्ता अर्थ में माना है। उन के मतानुसार 'पचेलिमा माषाः' का अभिप्राय है—अपने आप पकने वाले उड़द अर्थात् ऐसे उड़द जो शीघ्र ही गल जाते हैं। इसी प्रकार 'भिदेलिमाः सरलाः' का अभिप्राय है—अपने आप टूटने वाले चीड़ के पेड़ अर्थात् ऐसे चीड के पेड़ जिन का तोड़ना बहुत आसान है। पर भाष्यकार ने इन उदाहरणों की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'पक्तव्याः' और 'भेत्तव्याः' लिख कर यह सिद्ध कर दिया है कि यह प्रत्यय कर्म में होता है। भाव में इस प्रत्यय का प्रयोग निषिद्ध तो नहीं पर देखा कहीं नहीं गया। नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व के कृत्खण्ड में इस पर एक सुन्दर श्लोक लिखा है -

भिदेलिमानि काष्ठानि शालयोऽमी पचेलिमाः।
छिदेलिमा जीर्णरज्जुस्तृणजालं दहेलिमम्॥

अब कृत्प्रत्ययों के विषय में एक सुप्रसिद्ध नियम का अवतरण करते हैं —

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७७२) कृत्यल्युटो बहुलम्।३।३।११३॥**

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं[2] वदन्ति॥

---

१. ककार अनुबन्ध गुणवृद्धिनिषेध आदि के लिये तथा रेफ अनुबन्ध **उपोत्तमं रिति** (६.१.२११) स्वर के लिये है।

२. बहुलस्य भावो बाहुलकम्। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) इति मनोज्ञादित्वाद्

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै—दानीयो विप्रः ॥

अर्थः - कृत्यप्रत्यय और ल्युट्प्रत्यय बहुल होते हैं। **क्वचिदिति**—सूत्रों के विधान को बारंबार समझ कर 'बहुल' के चार प्रकार वैयाकरण कहा करते हैं—(१) कहीं प्रवृत्त हो जाना; (२) कहीं प्रवृत्त न होना, (३) कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना; (४) और कहीं कुछ और ही हो जाना।

व्याख्या - कृत्यल्युटः।१।३। बहुलम्।१।१। कृत्याश्च ल्युट् च कृत्यल्युटः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(कृत्यल्युटः) कृत्य तथा ल्युट् प्रत्यय (बहुलम्) बहुल होते है। 'बहुल' का अर्थ है—बहून् अर्थान् लाति—आदत्त इति बहुलम्[1]। अर्थात् अनेक बातों को ग्रहण या प्रकट करने वाला। आचार्य जिस के साथ 'बहुलम्' लगा देते हैं वहां अनेक बातों से उन का आशय होता है[2]। इन आशयों का पूर्वसूरियों ने उपर्युक्त उपेन्द्रवज्रोपनिबद्ध पद्य में चार प्रकार से वर्गीकरण किया है।

(१) **क्वचित् प्रवृत्तिः**
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं प्रवृत्ति के अयोग्य स्थानों पर भी प्रवृत्त हो जाता है।

(२) **क्वचिद् अप्रवृत्तिः**—
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं प्रवृत्ति के योग्य स्थानों पर भी प्रवृत्त नहीं होता।

(३) **क्वचिद् विभाषा**—
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है।

वुञ्। बह्वर्थादानं बहुलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिति तत्रैवायं भावप्रत्ययः—(न्यास ३.३.१)।

१. बहूपपदात् 'ला आदाने' (अदा० पर० अनिट्) इत्यस्माद्धातोर् **आतोऽनुपसर्गे कः** (७६१) इति कप्रत्यये **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्याकारलोपः।

२. 'बहुलम्' शब्द का प्रयोग आचार्य पाणिनि ने लगभग पैंतीस बार अपने सूत्रपाठ में किया है। यह शब्द प्रायः नपुंसक के एकवचन में ही प्रयुक्त किया गया है। आचार्यवर इस का प्रयोग पारिभाषिक शब्द की तरह ही करते प्रतीत होते हैं। परन्तु उन्होंने इस परिभाषा का विवेचन कहीं नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वव्याकरणों में निर्बाधरूपेण प्रयुक्त परिभाषा का उन्होंने भी निर्बाधरूपेण ग्रहण कर लिया है। 'बहुलम्' की व्याख्या में उपर्युक्त पद्य का आदिस्रोत अभी तक अज्ञात है परन्तु इस पद्य की प्राचीनता संशय से परे है। यह श्लोक कातन्त्रोणादि की दुर्गसिंहवृत्ति (१.२६), दशपादी उणादिवृत्ति (पृष्ठ १७७), न्यास (३.३.१) और पदमञ्जरी (३.३.१) आदि में भी उद्धृत है। कहीं यह व्याडिरचित किसी लुप्त ग्रन्थ का ही न हो—यह अभी अस्पष्ट है।

(४) **क्वचिद् अन्यद् एव**—

'बहुलम्' वाले स्थल पर कहीं कुछ और भी कार्य हो सकता है ।

उदाहरणार्थ प्रकृतसूत्र में कृत्य और ल्युट् प्रत्ययों को 'बहुलम्' कहा गया है । इस से ये प्रत्यय प्रतिपादित नियमों से विपरीत स्थानों पर भी प्रवृत्त हो जायेंगे ।[1] यथा कृत्यप्रत्यय भाव और कर्म अर्थों में विधान किये गये हैं परन्तु ये करण, सम्प्रदान आदि अन्य कारकों में भी देखे जाते हैं—स्नाति अनेन इति स्नानीयं चूर्णम् । उबटन को 'स्नानीय' कहते हैं क्योंकि इस के द्वारा स्नान किया जाता है । यहां स्ना (ष्णा शौचे, अदा० प० अनिट्) धातु से करण में कृत्य (अनीयर्) प्रत्यय हो कर सवर्णदीर्घ हो गया है । दीयतेऽस्मै इति दानीयो विप्रः । जिसे दान दिया जाता है उस ब्राह्मण को 'दानीय' कहते हैं । यहां दा (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु से सम्प्रदान में कृत्यप्रत्यय (अनीयर्) किया गया है । इसी प्रकार—

उद्विजन्तेऽस्माद् इति उद्वेजनीयः (जिस से लोग डरते या घबरा कर परे हटते हैं वह) । यहां अपादान में उद्पूर्वक विज् (ओँविजीँ भयचलनयोः; तुदा० आत्मने० सेट्) धातु से कृत्यप्रत्यय अनीयर् किया गया है । **उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते** (पञ्च० ३.१३६) ।

शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम् (जहां सोते हैं ऐसा स्थान या कमरा) । यहां शी (शीङ् शये, अदा० आत्मने० सेट्) धातु से अधिकरण में अनीयर् किया गया है । **परिशून्यं शयनीयमद्य मे** (रघु० ८.६६) ।

स्नान्ति अस्याम् इति स्नातव्या मणिकर्णिका (स्नान जहां पर करते हैं ऐसा मणिकर्णिका घाट) । यहां स्ना धातु से अधिकरण में तव्यत् किया गया है । (देखें व्या० चन्द्रो० द्वितीय खण्ड पृष्ठ १५) ।

क्रीडन्ति अनेनेति क्रीडनीयम् (जिस से खेलते हैं—खिलौना) । यहां क्रीड् धातु से करण में अनीयर् किया गया है ।[2]

इसी तरह ल्युट् के विषय में भी समझना चाहिए । ल्युट् प्रत्यय भाव [हस्—हसनम्, गम्—गमनम्], करण [उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्] और अधिकरण [गावो दुह्यन्तेऽस्यामिति गोदोहनी पात्री] में विधान किया गया है[3] पर प्रकृतसूत्र में 'बहुलम्'

१ परन्तु यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रकार का अर्थ या कारक-परिवर्तन हमारे अधीन नहीं है । हम अपनी इच्छा के अनुसार कृत्य आदि प्रत्ययों का अर्थ परिवर्त्तन नहीं कर सकते । यह तो पूर्ववर्त्ती शिष्टों के प्रयोगों के अनुसार ही अन्वाख्यान किया जाना चाहिए, स्वेच्छा से नहीं । **शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी** (महाभाष्य ६.३.१०९) ।

२. **क्रीडतः (तस्य) क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणांश्च ह ।** (महाभारत १३.८६.२१)

३. भाव में—**ल्युट् च** (३.३.११५) नपुंसकविशिष्ट भाव में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है ।

करण तथा अधिकरण में—**करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) करण और अधिकरण में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है ।

यत्

के कारण अन्य कारको में भी हो जाता है —प्रस्कन्दति अस्माद् इति प्रस्कन्दनम् (जहां से कूदते हैं वह स्थान)। यहां प्रपूर्वक स्कन्द् (स्कन्दिर् गतिशोषणयोः, भ्वा० पर० अनिट्) धातु से अपादान में ल्युट् हो कर यु को अन हो गया है।

राजभोजनाः शालयः। भुज्यन्त इति भोजनाः, राज्ञां भोजनाः—राजभोजनाः शालयः (राजाओं द्वारा खाये जाने वाले शालि-चावल)। यहां भुज् धातु से कर्म में ल्युट् किया गया है।

ये सब 'बहुलम्' के चतुर्धा वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रथम प्रकार 'क्वचित्प्रवृत्तिः' के ही उदाहरण हैं। दूसरे 'क्वचिदप्रवृत्तिः' का उदाहरण 'रामो जामदग्न्यः' है। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र में बहुल-ग्रहण के कारण समास की अप्रवृत्ति हुई है। इसका विवेचन आगे समासप्रकरण में किया जायेगा। तीसरे 'क्वचिद्विभाषा' का उदाहरण **मघवा बहुलम्** (२८८) सूत्र है। उस की व्याख्या पीछे कर चुके हैं।

चौथे 'क्वचिदन्यदेव' का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस में कहीं प्रकृति बदल जाती है तो कही प्रत्यय। कहीं प्राप्त गुण या वृद्धि आदि का अभाव हो जाता है या कहीं कुछ अन्य अतर्कित कार्य हो जाता है। जैसे 'मघवा' की सिद्धि में उपधादीर्घ करते समय संयोगान्तलोप को असिद्ध नहीं माना जाता। 'बहुलम्' के इस चतुर्थ विध के उदाहरण उणादिप्रकरण में प्रायः यत्र-तत्र बहुत मिलते हैं।

अब अन्य कृत्यप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७७३) अचो यत्।३।१।९७॥

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्॥

अर्थः—अजन्त धातु से परे यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अचः ।५।१। यत् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। [**धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं]। 'अचः' यह 'धातोः' का विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्त-विधि होकर 'अजन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(अचः = अजन्तात्) अजन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (यत्) यत् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। यह भी पूर्ववत् कृत् और कृत्यसञ्ज्ञक है। कृत्य होने से इसकी भी प्रवृत्ति **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार भाव और कर्म में ही होती है। यत् मे तकार इत्-संज्ञक है अतः इसका लोप होकर 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७) द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है।

चेयम्—'चिञ् चयने' (स्वा० उभय० अनिट्) धातु के ञकार अनुबन्ध का लोप होकर 'चि' यह अजन्त धातु बन जाती है। यह धातु सकर्मक है। **अचो यत्** सूत्र से इस से कर्म मे यत् प्रत्यय तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से इकार के स्थान पर एकार गुण होकर विशेष्यानुसार नपुंसक प्रक्रिया मे सुँ ला कर अमादेश (२३४) और पूर्वरूप (१३५) करने पर 'चेयम्' (चुनने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है। चेयं पुष्पं सत्कर्मादि वा। यदि विशेष्य पुंलिङ्ग होगा तो 'चेयः' (धर्मः), और

यदि स्त्रीलिङ्ग होगा तो अजाद्यतष्टाप् (१२४५) से स्त्रीप्रत्यय टाप्, अनुबन्ध-लोप तथा सवर्णदीर्घ होकर सुँ का लोप (१७९) हो जायेगा—चेया सज्जनसंगतिः। ध्यान रहे कि वाऽसरूपविधि से पक्ष में तव्यत् आदि भी होंगे—चेतव्यम्, चयनीयम् आदि।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) नी+यत्=नेयम् (ले जाने योग्य)।
(२) जि+यत्=जेयम् (जीतने योग्य)।
(३) क्षि+यत्=क्षेयम् (क्षीण होने योग्य)।
(४) श्रु+यत्=श्रो+य=श्रव्यम्। **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से अवादेश हो जाता है (सुनने योग्य)।
(५) प्र√हि+यत्=प्रहेयम् (भेजने योग्य)।
(६) क्री+यत्=क्रेयम् (खरीदने योग्य)।
(७) पू+यत्=पव्यम् (पवित्र करने योग्य)।
(८) लू+यत्=लव्यम् (काटने योग्य)।
(९) अधि√इ+यत्=अध्येयम् (पढ़ने योग्य)[1]।
(१०) आ√श्रि+यत्=आश्रेयम् (आश्रय करने योग्य)।

'डुदाञ् दाने' (जुहो० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप होकर 'दा' शेष रहता है। अतः यह अजन्त धातु है। इस से **अचो यत्** इस प्रकृतसूत्र द्वारा कर्म में यत् प्रत्यय होकर 'दा+य'। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७४) ईद् यति।६।४।६५॥

यति परे आत ईत् स्यात्। देयम्। ग्लेयम्॥

अर्थः—यत् परे होने पर आकार को ईकार आदेश हो।

व्याख्या—ईत्।१।१। यति।७।१। आतः।६।१। (**आतो लोप इटि च** से) अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। 'आतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थः—(आतः=आदन्तस्य) आकारान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो (यति) यत् प्रत्यय परे हो तो। अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश आकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल्=आकार को ही होगा।

'दा+य' यहां आकारान्त अङ्ग है—'दा'; इससे परे यत् प्रत्यय विद्यमान है। अतः **ईद्यति** इस प्रकृतसूत्र से दा के आकार को ईकार आदेश होकर 'दी+य'

---

१. **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) सूत्र में 'एति' से इण् गतौ (अदा० प० अनिट्) धातु का ग्रहण होता है इङ् या इक् का नहीं अत एव **तस्मादध्येयं व्याकरणम्** (महाभाष्य पस्पशा०) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं।

हुआ। अब **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से ईकार को एकार गुण करने पर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'देयम्' (देने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

इसी प्रकार 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से यत् की विवक्षा में प्रत्यय लाने से पूर्व ही **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से ऐकार को आकार आदेश होकर **अचो यत्** (७७३) द्वारा भाव में यत् प्रत्यय लाने से—'ग्ला+य' हुआ। अब **'ईद् यति'** सूत्र से आकार को ईकार आदेश तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से उस ईकार को भी एकार गुण होकर विभक्ति लाने पर 'ग्लेयम्' (ग्लान होना चाहिए) प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

(१) पा पाने—पा+यत्—पी+य=पेयम् (पीने योग्य)।
(२) ज्ञा अवबोधने—ज्ञा+यत्—ज्ञी+य=ज्ञेयम् (जानने योग्य)।
(३) मा माने—मा+यत्=मी+य=मेयम् (मापे जाने योग्य)।
(४) ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्था+यत्=स्थी+य=स्थेयम् (ठहरना चाहिये)।
(५) गै शब्दे—गा+यत्=गी+य=गेयम् (गाने योग्य)।
(६) ध्यै चिन्तायाम्—ध्या+यत्=ध्यी+य=ध्येयम् (ध्यान करने योग्य)।
(७) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि—ख्या+यत्=ख्यी+य=ख्येयम्, आख्येयम् (कहने योग्य)। चक्षिङः स्थाने ख्याञादेशः (२.४.५४)।
(८) घ्रा गन्धोपादाने—घ्रा+यत्=घ्री+य=घ्रेयम् (सूंघने योग्य)।
(९) ष्णा शौचे—स्ना+यत्=स्नी+य=स्नेयम् (स्नान करना चाहिये)।
(१०) डुधाञ्—धा+यत्=धी+य=धेयम्, निधेयम् (रखने योग्य)[2]।
(११) ओहाक् त्यागे—हा+य=ही+य=हेयम्[3] (छोड़ने योग्य)।

प्रश्न—**ईद्यति** (७७४) सूत्र में ईकार आदेश की बजाय यदि इकार आदेश कर देते तो भी इकार को एकार गुण होकर देयम्, ग्लेयम्, पेयम् आदि सिद्ध हो सकते थे पुनः आचार्य ने दीर्घ आदेश क्यों किया है?

उत्तर—यह सत्य है कि 'इद्यति' सूत्र बनाकर भी यहां कार्य चल सकता था परन्तु आचार्य को इस की अनुवृत्ति अगले **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र में ले जा कर 'दीयते, मीयते, स्थीयते, गीयते, पीयते' आदि प्रयोग सिद्ध करने थे,

---

१. गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥ (मोहमुद्गरे)

२. हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयं प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम्।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सिताऽसितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः॥
(व्या० चन्द्रोदय, २य खण्ड पृष्ठ २५)

३. हेयं दुःखमनागतम्—(योगदर्शन २.१६)।

वे बिना दीर्घ आदेश के सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः आचार्य ने यहां भी दीर्घविधान कर दिया है।

अब अग्रिमसूत्र में पुनः इसी यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७५) पोरदुपधात् ।३।१।६८।।

पवर्गान्ताद् अदुपधाद् यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् । लभ्यम् ।।

अर्थः—जिस के अन्त में पवर्ग और उपधा में अत् हो उस धातु से यत् प्रत्यय होता है। यह सूत्र ण्यत् (७८०) का अपवाद है।

व्याख्या—पोः ।५।१। अदुपधात् ।५।१। यत् ।१।१। (**अचो यत्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों का अधिकार पीछे से आ रहा है। अत् उपधा यस्य सः—अदुपधः, तस्माद् अदुपधात् । बहुव्रीहिसमासः । 'पोः' यह 'धातोः' का विशेषण है; विशेषण से तदन्तविधि होकर 'पवर्गान्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(पोः—पवर्गान्तात्) अन्त में पवर्ग वाली तथा (अदुपधात्) उपधा में अत् वाली (धातोः) धातु से परे (यत् प्रत्ययः) यत् प्रत्यय हो जाता है। अजन्त न होने से **अचो यत्** (७७३) द्वारा यत् न हो सकता था, **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इस वक्ष्यमाण सूत्र से ण्यत् प्राप्त था उसका अपवाद यह यत् विधान किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

शपँ आक्रोशे (भ्वा० उभय० अनिट्), डुलभँष् प्राप्तौ (भ्वा० आत्मने० अनिट्) ये दोनों धातुएँ अनुबन्धों से मुक्त होकर क्रमशः शप् और लभ् रह जाती हैं इन के अन्त में पवर्ग तथा उपधा में अत् विद्यमान है। अतः **'पोरदुपधात्'** इस प्रकृत सूत्र से ण्यत् का बाधक यत् प्रत्यय होकर विभक्ति लाने से—शप्यम् (शाप के योग्य), लभ्यम् (प्राप्त करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यदि यहां ण्यत् हो जाता तो उसके णित् होने से **अत उपधायाः** (४५५) सूत्र से उपधा के अत् को वृद्धि होकर 'शाप्यम्, लाभ्यम्' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

रम्—रम्यम् । रभ्—रभ्यम्, आरभ्यम् । गम्—गम्यम् । वम्—वम्यम् । तप्—तप्यम् । जप्—जप्यम् । नम्—नम्यम् । कम्—कम्यम् (णिङन्तपक्षेऽचो यदिति यति णेर्लोपे काम्यमिति) । भ्रम्—भ्रम्यम् ।

पवर्गान्त कहने से पच्—पाक्यम्, वच्—वाक्यम् आदि में यत् नहीं होता। इन में **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत् होकर उसके णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि एवं **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से कुत्व हो जाता है।

अदुपध कहने से कुप्—कोप्यम्, गुप्—गोप्यम् इत्यादि में यत् न होकर ण्यत् ही होता है।[1] दोनों स्थानों पर लघूपधगुण (४५१) हुआ है। 'अदुपध' में तपर कहा गया है अतः उपधा में दीर्घ आकार होने पर भी यत् न होगा; यथा आप्—आप्यम्, प्राप्यम् । ण्यत् हो जाता है। यत् और ण्यत् में स्वर का ही अन्तर पड़ता है।

---

१. ण्यति तित्स्वरः । यति तु **यतोऽनावः** (६.१.२०७) इत्याद्युदात्तत्वं स्यात् ।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अन्य कृत्यप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७७६) एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः क्यप् ।३।१।१०९॥

एभ्यः क्यप् स्यात् ॥

अर्थः—इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः ।५।१। क्यप् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं) । 'एति'—यह 'इण् गतौ' धातु का श्तिप्-प्रत्ययान्त रूप है । इस प्रत्यय का विवेचन पीछे (३९८) सूत्र पर सविस्तर किया जा चुका है । एतिश्च स्तुश्च शास् च वृ च दृ च जुष् च एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुष्, तस्मात् एतिस्तुशास्वृदृजुषः, समाहारद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(एतिस्तुशास्वृदृजुषः) इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् (धातोः) धातु से (परः) परे (क्यप्) क्यप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । क्यप् प्रत्यय में ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा पकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञक है अतः दोनों का लोप होकर 'य' मात्र शेष रहता है । ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध के लिये तथा पकार अनुबन्ध अग्रिमसूत्रद्वारा ह्रस्व को तुँक् आगम प्राप्त कराने के लिये जोड़ा गया है । यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत् और कृत्य उभयसंज्ञक है । इस सूत्र में प्रतिपादित धातुओं का विवरण इस प्रकार समझना चाहिए—

एति —इण् गतौ (जाना, अदा० प० अनिट्) । इत्यः ।[1]

स्तु —ष्टुञ् स्तुतौ (स्तुति करना, अदा० उ० अनिट्) । स्तुत्यः ।

शास्—शासुँ अनुशिष्टौ (शिक्षा देना, शासन करना, दण्ड देना, अदा० प० सेट्) । शिष्यः ।

वृ —वृञ् वरणे (चुनना, स्वा० क्र्यादि० उभय० सेट्) । वृत्यः ।[2]

दृ —दृङ् आदरे, प्रायेणाङ्पूर्वः (आदर व सत्कार करना, तुदा० आत्मने० अनिट्) । आदृत्यः ।

जुष् —जुषीँ प्रीतिसेवनयोः (प्रसन्न होना या सेवन करना, तुदा० आत्मने० सेट्) । जुष्यः ।

---

१. उपेयम् अभ्युपेयम् आदि यत्प्रत्ययान्त रूप इस इण् धातु के नहीं हैं । ये रूप ईङ् गतौ (दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु के हैं । 'उप + एयम्' में **एङि पररूपम्** (३८) से पररूप हो जाता है । नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस पर एक सुन्दर श्लोक लिखा है —

ईङ् गताविति धातोर्यत् तस्मादेयमिति स्थिते ।
एङीति पररूपे स्याद् उपेयमिति न त्विणः ॥

२. यहां पर 'वृ' में 'वृञ्' का ही ग्रहण करना है 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्र्या० आत्मने०) का नहीं ऐसा वार्तिककार ने लिखा है—

क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम् (महाभाष्य ३.१.१०९ पर)

इण् और स्तु धातुओं से **अचो यत्** (७७३) द्वारा यत् तथा अन्यों से **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) द्वारा ण्यत् प्राप्त होता था उन का अपवाद यह क्यप् प्रत्यय विधान किया गया है।

इण् और ष्टुञ् (स्तु) धातुओं से प्रकृतसूत्रद्वारा कर्म में क्यप् प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो कर—'इ+य' तथा 'स्तु+य' हुआ। अब यहां **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से क्यप् के आर्धधातुक होने के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण प्राप्त होता है परन्तु क्यप् के कित्त्व के कारण **क्क्ङिति च** (४३३) से उस का निषेध हो जाता है। अब इन दोनों में अग्रिमसूत्र द्वारा तुँक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम् —**(७७७) ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् ।६।१।६९॥**

इत्यः। स्तुत्यः। शासुँ अनुशिष्टौ –

अर्थः पित् कृत् परे होने पर ह्रस्व का अवयव तुँक् हो।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। पिति ।७।१। कृति ।७।१। तुँक् ।१।१। प् इद् यस्य स पित्, तस्मिन् पिति, बहुव्रीहिसमासः। जिस के पकार की इत्संज्ञा हो उसे पित् कहते हैं। शप्, तिप्, सिप्, क्यप् आदि प्रत्यय पित् हैं। अर्थः—(पिति कृति) कृत्संज्ञक पित् के परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुँक्) तुँक् हो जाता है। तुँक् में ककार और उकार इत् होने से लुप्त हो जाते हैं 'त्' मात्र शेष रहता है। तुँक् कित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) की व्यवस्थानुसार यह ह्रस्व का अन्तावयव माना जायेगा।

'इ+य, स्तु+य' यहां पर **कृदतिङ्** (३०२) से क्यप् प्रत्यय कृत्संज्ञक है और यह पित् भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र से ह्रस्व इकार उकार को तुँक् का आगम कर अनुबन्धलोप करने से –इत्+य=इत्य, स्तुत्+य =स्तुत्य। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति हो कर—'इत्यः' (गमन योग्य या पाने योग्य) और 'स्तुत्यः' (स्तुति या प्रशंसा के योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

प्रकृतसूत्र में कृत्संज्ञक कहने से 'पटुतरः, पटुतमः' आदि मे तद्धित तरप् तमप् परे होने पर ह्रस्व उकार को तुँक् का आगम नहीं होता।

पित् कहने से 'कृतम्, हुतम्, जितम्' आदि में कृत्संज्ञक क्त के परे होने पर तुँक् का आगम नहीं होता।

ह्रस्व को तुँक् का विधान किया है इस से 'आनीय, आलूय, आहूय' आदि में कृत्संज्ञक पित् ल्यप् प्रत्यय के परे रहते दीर्घ को तुँक् नहीं होता।

पूर्वसूत्रगत शास् धातु के उदाहरण की सिद्धि दर्शाते हैं—

'शासुँ अनुशिष्टौ' धातु से कर्म में **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) सूत्र से क्यप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर 'शास्+य' हुआ। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७७८) शास इदङ्हलोः ।६।४।३४॥**

शास उपधाया इत् स्यादङि हलादौ क्ङिति च। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः॥

अर्थः—अङ् परे हो या हलादि कित् वा ङित् परे हो तो शास् धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—शासः ।६।१। इत् ।१।१। अङ्हलोः ।७।२। उपधायाः ।६।१। क्ङिति ।७।१। (**अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से)। अङ्गस्य ।६।१। यह अधिकृत है। अङ् च हल् च=अङ्हलौ, तयोः=अङ्हलोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'क्ङिति' यह अङ् का विशेषण नहीं बन सकता 'हलि' का ही विशेषण सम्भव है। अतः 'हलि' से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'हलादौ क्ङिति' बन जाता है। अर्थः—(अङ्गस्य) अङ्गसंज्ञक (शासः) शास् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अङि हलादौ क्ङिति च) अङ् परे होने पर या हलादि कित् ङित् परे होने पर।

'शास्+य' यहां 'य' (क्यप्) यह हलादि कित् प्रत्यय परे है अतः शास् की उपधा आकार के स्थान पर 'इ' आदेश हो कर—शिस्+य। अब **शासिवसिघसीनां च** (५५४) सूत्र से सकार को **मूर्धन्य षकार** हो कर विभक्तिकार्य करने से—शिष्यः (शिक्षा देने के योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

अङ् के उदाहरण—अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन् आदि हैं। यहां शास् से परे लुँङ् में च्लि को **सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च** (३.१.५६) से अङ् हो गया है।

हलादि ङित् के उदाहरण—तौ शिष्टः, आवां शिष्वः, वयं शिष्मः आदि हैं। यहां **सार्वधातुकमपित्** (५००) के अनुसार तस्, वस्, मस् हलादि ङित् प्रत्यय परे हैं।

एतिस्तु० (७७६) पर अन्य उदाहरण यथा—

वृत्यः—'वृञ् वरणे' धातु से कर्म में **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) से क्यप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वृ+य'। क्यप् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है। अब पित् कृत् के परे होने पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से ह्रस्व ऋकार को तुँक् का आगम हो कर विभक्ति लाने से 'वृत्यः' (चुनने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी तरह आङ्पूर्वक 'दृङ् आदरे' धातु से कर्म में क्यप्, गुणनिषेध तथा तुँक् का आगम करने से 'आदृत्यः' (सत्कार करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

जुष्यः—'जुषीँ प्रीतिसेवनयोः' धातु से कर्म में क्यप् प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप और लघूपधगुणनिषेध कर विभक्ति लाने से 'जुष्यः' (सेवन करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि इण् आदि धातुओं से क्यप् के साथ तव्यत् आदि प्रत्यय भी वाऽसरूपविधि से हो जाते हैं—

इण्—इत्यः, एतव्यः, अयनीयः।

स्तु—स्तुत्यः, स्तोतव्यः, स्तवनीयः।

शास्—शिष्यः, शासितव्यः, शासनीयः।

क्यप् , ण्यत्

वृञ्—वृत्यः, वरितव्यः-वरीतव्यः[1], वरणीयः ।
दृङ्—आदृत्यः, आदर्तव्यः, आदरणीयः ।
जुष् —जुष्यः, जोषितव्यः, जोषणीयः ।
अब मृज् धातु से क्यप् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७७९) **मृजेर्विभाषा ।३।१।११३।।**

मृजेः क्यब्वा । मृज्यः ।।

अर्थः—मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—मृजेः ।५।१। विभाषा ।१।१। क्यप् ।१।१। (**एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । 'मृजेः' में इक् प्रत्यय धातुनिर्देश के लिये लगाया गया है (देखें ३९८ सूत्र पर यही व्याख्या) । अर्थः—(मृजेः, धातोः) मृज् धातु से (परः) परे (विभाषा) विकल्प से (क्यप्) क्यप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है ।

मृज् धातु ऋदुपध है । ऋदुपधों से **ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः** (३.१.११०) सूत्र से नित्य क्यप् हुआ करता है । यथा वृत्—वृत्यम् (बर्तना चाहिए), वृध्—वृध्यम् (बढ़ना चाहिए) । इत्थं मृज् धातु से नित्य प्राप्त क्यप् का यहां विकल्प किया जा रहा है ।

मृजूँ शुद्धौ (शुद्ध करना, साफ़ करना; अदा० परस्मै० वेट्) धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा कर्म में वैकल्पिक क्यप् प्रत्यय हो जाता है । क्यप्पक्ष में अनुबन्धलोप होकर—मृज्+य । यहां पर **मृजेर्वृद्धिः** (४८२) इस वक्ष्यमाणसूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है, इस का **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है । अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्ति लाने से 'मृज्यः' (शुद्ध करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है ।

मृज् से क्यप् के अभावपक्ष में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८०) **ऋहलोर्ण्यत् ।३।१।१२४।।**

ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोर्ण्यत् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।।

अर्थः—ऋवर्णान्त धातु से तथा हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ऋहलोः ।६।२। ण्यत् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । 'ऋहलोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग छान्दस है । 'ऋहलोः - ऋहलः' यह 'धातोः' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोः' बन जाता है । अर्थः (ऋहलोः - ऋहलः=ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च) ऋवर्णान्त तथा हलन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (ण्यत् प्रत्ययः) ण्यत् प्रत्यय हो जाता है । ऋवर्णान्त धातुओं से **अचो यत्** (७७३) से यत् प्राप्त था इस अंश में यह उस का अपवाद है । ण्यत् में णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा तकार

---

1. **वृतो वा** (६१५) इतीटो वा दीर्घः ।

हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक है। अनुबन्धों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। ण्यत् में तकार स्वरप्रयोजनार्थ तथा णकार **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है।

ऋवर्णान्त के उदाहरण यथा—

कार्यम्——'डुकृञ् करणे' (तनादि० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप हो कर 'कृ' अवशिष्ट रहता है। यह धातु ऋवर्णान्त है अतः **ऋहलोर्ण्यत्** से कर्म में ण्यत् हो कर इत्संज्ञक णकार और तकार के लुप्त हो जाने पर 'कृ+य'। ण्यत् के णित्व के कारण ऋकार को **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर अर्थात् आर् आदेश करने से—कार्+य='कार्य' हुआ। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा हो कर नपुंसक के एकवचन में विभक्ति कार्य करने पर 'कार्यम्' (करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से 'हार्यम्' (हरने योग्य) तथा 'धृञ् धारणे' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से 'धार्यम्' (धारण करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

हलन्त का उदाहरण—

जिस पक्ष में मृज् से क्यप् नहीं होता उस पक्ष मे **ऋहलोर्ण्यत्** इस प्रकृतसूत्रद्वारा हलन्तत्वात् मृज् धातु से ण्यत् प्रत्यय हो जाता है—मृज्+ण्यत्=मृज्+य। अब यहां अग्रिम दो सूत्र प्रवृत्त होते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८१) चजोः कु घिण्ण्यतोः ।७।३।५२।।

चजोः कुत्वं स्याद् घिति ण्यति च परे ।।

अर्थः—घित् या ण्यत् परे होने पर चकार तथा जकार को कवर्ग आदेश हो।

व्याख्या—चजोः ।६।२। कु ।१।१। (लुप्तविभक्तिकं पदम्)। घिण्ण्यतोः ।७।२। चश्च ज् च—चजौ, तयोः=चजोः। चकारादकार उच्चारणार्थः। घ् इद् यस्य स घित्, घित् च ण्यत् च—घिण्ण्यतौ, तयोः=घिण्ण्यतोः।[1] अर्थः—(घिण्ण्यतोः) घित् अथवा ण्यत् प्रत्यय परे हो तो (चजोः) चकार वा जकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। यहां निमित्त और कार्यी में यथासंख्य नही होता[2]। **स्थानेऽन्तरतमः**

---

१. 'घित्+ण्यतोः' में सर्वप्रथम **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्व=दकार, **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से दकार को नकार—घिन्+ण्यतोः। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) से न् को ष्टुत्व=ण् हो जाता है—घिण्ण्यतोः।

२. तात्पर्य यह है कि 'चजोः' और 'घिण्ण्यतोः' में यथासंख्य द्वारा घित् परे होने पर चकार को तथा ण्यत् परे होने पर जकार को कुत्व हो—ऐसा नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा हो तो पाणिनि के **तेन रक्तं रागात्** (१०३०) आदि प्रयोग उपपन्न न हो सकेंगे। यहां 'रागात्' [रञ्ज्+अ (घञ्)] मे घित् परे होने पर जकार को कुत्व देखा जाता है।

(१७) द्वारा आन्तर्य के कारण चकार [विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण] को कुत्व तादृश ककार [विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण] तथा जकार [संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण] को कुत्व तादृश गकार [संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण] होगा। उदाहरण यथा—

घित् में = भागः, पाकः। भज् और पच् धातुओं से भाव में घञ् (अ) प्रत्यय करने पर ञित्त्वाद् उपधावृद्धि (४५५) हो कर—भाज्+अ, पाच्+अ। अब घित् घञ् के परे रहते प्रकृतसूत्र से जकार को गकार तथा चकार को ककार करने से 'भागः' 'पाकः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार त्यागः, यागः आदियों में भी समझना चाहिए।

ण्यत् परे होने का उदाहरण प्रकरणतः प्राप्त है—

'मृज्+य(ण्यत्)' यहां ण्यत् प्रत्यय परे है अतः प्रकृत-सूत्र से जकार के स्थान पर गकार [कुत्व] हो जाता है—

'मृग्+य'। अब लघूपधगुण के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८२) मृजेर्वृद्धिः ।७।२।११४॥

मृजेरिको वृद्धिः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः॥

अर्थः सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो मृज् के इक् (ऋ) के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या—मृजेः ।६।१। वृद्धिः ।१।१। **इको गुणवृद्धी** (१.१.३) परिभाषा से 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है। अर्थः—(मृजेः) मृज् धातु के (इकः) इक् के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। यहां किसी प्रत्यय के परे होने का निर्देश नहीं किया गया। परन्तु **धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति** (यदि कहीं धातु को कार्य कहा गया हो तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्ययों के परे होने पर ही होता है) इस परिभाषा के बल से यहां मृज् से विहित प्रत्ययों मे ही यह वृद्धिरूप कार्य होगा। मृज् से दो प्रकार के प्रत्ययों का विधान सम्भव है—सार्वधातुक या आर्धधातुक। यही सोच कर वरदराज ने यहां सूत्रवृत्ति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' कहा है।

'मृग्+य' यहां 'य' यह आर्धधातुक प्रत्यय परे है अतः मृज् (**एकदेशविकृतमनन्यवत्** परिभाषा के अनुसार) के इक्=ऋकार को वृद्धि [आर्] करने से मार्ग्+य='मार्ग्य' बना। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विभक्ति लाने से 'मार्ग्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार मृज् धातु से क्यप् में 'मृज्यः' तथा ण्यत् में 'मार्ग्यः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अब कृत्यप्रत्ययान्त एक शब्द का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८३) भोज्यं भक्ष्ये ।७।३।६९॥

भोग्यमन्यत्॥

अर्थः—भक्ष्य (खाने योग्य) अर्थ में 'भोज्य' शब्द प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—भोज्यम् ।१।१। भक्ष्ये ।७।१। अर्थः—(भक्ष्ये) खाद्य अर्थ होने पर (भोज्यम्) भोज्य शब्द होता है । यहां 'भोज्य' शब्द निपातन किया जाता है । जहां आचार्य स्वयं सब कार्य कर के निष्पन्न रूप लिख देते हैं उसे निपातन कहते हैं । निपातन में आचार्य ने क्या अप्राप्त कार्य किया है यह स्वयं समझना पड़ता है । यहां आचार्य ने 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' (रुधा० उभय० अनिट्) धातु से ण्यत् प्रत्यय, लघूपधगुण और **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से प्राप्त कुत्व का अभाव कर 'भोज्यम्' प्रयोग सिद्ध किया है । ण्यत् और लघूपधगुण तो यहां सुतरां हो सकते थे पर कुत्व का अभाव किसी से प्राप्त नहीं था अतः कुत्वनिषेध के लिए ही आचार्य ने यह निपातन किया है ऐसा सिद्ध होता है । जहां भक्ष्य (खाने योग्य) अर्थ न होगा वहां भुज् धातु से **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत् प्रत्यय **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण तथा **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से कुत्व हो कर विभक्ति लाने से 'भोग्यम्' (भोगने या पालने योग्य) रूप बनेगा । भोज्यं फलम्, भोज्य ओदनः, भोज्या यवागूः । भोग्यं राज्यम्, भोग्यः कम्बलः, **वीरभोग्या वसुन्धरा** ।

इस प्रक्रिया में प्रसिद्धत्वात् कुछ अन्य प्रयोग भी ध्यातव्य हैं—

(१) वास्तव्यः [वसतीति वास्तव्यः, रहने वाला; यहां **वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च** वार्तिक से वस् (रहना) धातु से कर्त्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय हो जाता है । तव्यत् के णिद्वद्भाव के कारण वस् की उपधा अत् को वृद्धि (४५५) हो जाती है] ।

(२) खेयम् [खोदे जाने के योग्य स्थल आदि; यहां खन् धातु से कर्म में **ई च खनः** (३.१.१११) सूत्र से क्यप् प्रत्यय तथा खन् के नकार को ईकारादेश हो कर गुण एकारादेश करने से अभीष्ट रूप सिद्ध होता है] ।

(३) शक्यम्, सह्यम् [यहां शक् और सह् धातुओं से **शकिसहोश्च** (३.१.९९) सूत्र द्वारा ण्यत् का अपवाद यत् प्रत्यय हो जाता है । शक्यम्—जो हो सके; सह्यम्—सहन किये जाने के योग्य] ।

(४) कृत्यम्, कार्यम् [**विभाषा कृवृषोः** (३.१.१२०) सूत्र से कृ धातु से कर्म में पाक्षिक क्यप् हो जाता है । क्यप्पक्ष में उस के पित्त्व के कारण तुँक् का आगम (७७७) हो कर 'कृत्य' तथा क्यप् के अभाव में **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत्प्रत्यय आ कर वृद्धि करने से 'कार्यम्' बनता है] ।

(५) वह्यम् [वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटादि, जिस से ढोते हैं ऐसा छकड़ा आदि । यहां करण में **वह्यं करणम्** (३.१.१०२) द्वारा यत्प्रत्ययान्त 'वह्य' शब्द निपातन किया गया है । अन्यत्र—वोढुं योग्यं 'वाह्यम्' (ढोने के योग्य पदार्थ) । यहां ण्यत् ही होगा] ।

(६) दृश्यम्, वृत्यम्, वृध्यम् [यहां **ऋदुपधाच्चाऽक्लृपिचृतेः** (३.१.११०) द्वारा ऋदुपध दृश्, वृत् और वृध् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो जाता है । दृश्यम् =देखने योग्य वस्तु; वृत्यम्=वर्तना चाहिये; वृध्यम्=बढ़ना चाहिये] ।

(७) अर्यः, आर्यः [**अर्यः स्वामिवैश्ययोः** (३.१.१०३) सूत्र द्वारा ऋधातु से

यत् प्रत्ययान्त 'अर्य' शब्द निपातन किया गया है, इस का अर्थ है स्वामी या वैश्य। अर्तुम्=उपसर्तुं योग्यः—इत्यादि। दूसरे अर्थों में **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत् प्रत्यय हो कर वृद्धि करने से 'आर्यः' बनेगा—आर्यो ब्राह्मणः (पास जाने योग्य ब्राह्मण)]।

(८) गृह्य (पक्षपाती) ; [यहां **पदास्वैरि-बाह्या-पक्ष्येषु च** (३.१.११९) सूत्र से पक्ष्य=पक्षपाती अर्थ में 'ग्रह्' धातु से क्यप् हो कर कित्त्व के कारण सम्प्रसारण (६३४) हो जाता है। आर्याणां गृह्याः—आर्यगृह्याः (आर्यों के पक्षपाती), गुणानां गृह्याः—गुणगृह्याः (गुणों के पक्षपाती)]।

अब इस प्रक्रिया की समाप्ति पर हम यहां दो सौ धातुओं की तव्यत् और अनीयर् प्रत्ययान्त बालोपयोगी तालिका दे रहे हैं। इस से व्याकरणप्रक्रिया के अभ्यास तथा अनुवादादि में विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा।

१. अट् (घूमना) अटितव्य; अटनीय
२. अद् (खाना) अत्तव्य; अदनीय
३. अर्च् (पूजा करना) अर्चितव्य; अर्चनीय
४. उप √अर्ज् (कमाना) उपार्जयितव्य; उपार्जनीय
५. अर्थ् (मांगना) अर्थयितव्य; अर्थनीय
प्रार्थयितव्य; प्रार्थनीय
६. अश् (खाना) अशितव्य; अशनीय
७. अस् (होना) भवितव्य, भवनीय
८. निर् √अस् (फेंकना) निरसितव्य; निरसनीय
९. प्र √आप् (पाना) प्राप्तव्य; प्रापणीय
१०. आस् (बैठना) आसितव्य; आसनीय
११. अधि √इ(ङ्) (पढ़ना) अध्येतव्य; अध्ययनीय
१२. इ(ण्) (जाना) एतव्य; अयनीय
१३. इष् (चाहना) एषितव्य, एष्टव्य ; एषणीय
१४. निर् √ईक्ष् (देखना) निरीक्षितव्य; निरीक्षणीय
१५. ईह् (चेष्टा करना) ईहितव्य; ईहनीय
१६. ऊह् (तर्क करना) ऊहितव्य; ऊहनीय
१७. एध् (बढ़ना) एधितव्य; एधनीय
१८. कथ् (कहना) कथयितव्य; कथनीय
१९. कम् (चाहना) कामयितव्य, कमितव्य ; कामनीय, कमनीय
२०. कम्प् (कांपना) कम्पितव्य; कम्पनीय
२१. आ √कर्ण् (सुनना) आकर्णयितव्य; आकर्णनीय
२२. आ √काङ्क्ष् (चाहना) आकाङ्क्षितव्य; आकाङ्क्षणीय
२३. प्र √काश् (प्रकाशित होना) प्रकाशितव्य; प्रकाशनीय
२४. कुप् (क्रोध करना) कोपितव्य; कोपनीय
२५. कूज् (कूजना) कूजितव्य; कूजनीय
२६. कृ (करना) कर्तव्य; करणीय
२७. कृत् (काटना) कर्तितव्य; कर्तनीय
२८. कृप् (कल्पना करना) कल्पितव्य; कल्पनीय
२९. क्रन्द् (चिल्लाना) क्रन्दितव्य; क्रन्दनीय

३०. क्रम् (कदम बढ़ाना) क्रमितव्य; क्रमणीय
३१. क्री (खरीदना) क्रेतव्य; क्रयणीय
३२. क्रीड् (खेलना) क्रीडितव्य; क्रीडनीय
३३. क्रुध् (क्रोध करना) क्रोद्धव्य; क्रोधनीय
३४. क्षम् (सहना) क्षमितव्य, क्षन्तव्य; क्षमणीय
३५. क्षर् (झरना) क्षरितव्य; क्षरणीय
३६. क्षल् (धोना) क्षालयितव्य; क्षालनीय
३७. क्षि (नष्ट होना) क्षेतव्य; क्षयणीय
३८. क्षिप् (फेंकना) क्षेप्तव्य; क्षेपणीय
३९. खन् (खोदना) खनितव्य; खननीय
४०. खाद् (खाना) खादितव्य; खादनीय
४१. खेल् (खेलना) खेलितव्य; खेलनीय
४२. गण् (गिनना) गणयितव्य; गणनीय
४३. गद् (बोलना) गदितव्य; गदनीय
४४. गम् (जाना) गन्तव्य ; गमनीय
४५. गर्ज् (गर्जना) गर्जितव्य; गर्जनीय
४६. गर्ह् (निन्दा करना) गर्हितव्य; गर्हणीय
४७. गुप् (रक्षा करना) गोपायितव्य, गोपितव्य, गोप्तव्य; गोपायनीय, गोपनीय
४८. गै (गाना) गातव्य; गानीय
४९. ग्रस् (निगलना) ग्रसितव्य; ग्रसनीय
५०. ग्रह् (ग्रहण करना) ग्रहीतव्य; ग्रहणीय

५१. ग्लै (दुःखी होना) ग्लातव्य; ग्लानीय
५२. घट् (घटित होना) घटितव्य; घटनीय
५३. घुष् (घोषणा करना) घोषयितव्य घोषणीय
५४. घ्रा (सूंघना) घ्रातव्य; घ्राणीय
५५. चर् (घूमना) चरितव्य; चरणीय
५६. चल् (चलना) चलितव्य; चलनीय
५७. चि (चुनना) चेतव्य; चयनीय
५८. चिन्त् (चिन्ता करना) चिन्तयितव्य; चिन्तनीय
५९. चुर् (चुराना) चोरयितव्य; चोरणीय
६०. चेष्ट् (चेष्टा करना) चेष्टितव्य; चेष्टनीय
६१. छिद् (काटना) छेत्तव्य; छेदनीय
६२. जन् (पैदा होना) जनितव्य; जननीय
६३. जप् (जपना) जपितव्य; जपनीय
६४. जल्प् (बकवाद करना) जल्पितव्य; जल्पनीय
६५. जागृ (जागना) जागरितव्य; जागरणीय
६६. जि (जीतना) जेतव्य; जयनीय
६७. जीव् (जीना) जीवितव्य; जीवनीय
६८. ज्ञा (जानना) ज्ञातव्य; ज्ञानीय
६९. तड् (ताडित करना) ताडयितव्य; ताडनीय
७०. तन् (विस्तार करना) तनितव्य; तननीय
७१. तप् (तपना) तप्तव्य ; तपनीय
७२. तुद् (दुःख देना) तोत्तव्य; तोदनीय
७३. तुल् (तोलना) तोलयितव्य; तोलनीय
७४. तुष् (प्रसन्न होना) तोष्टव्य; तोषणीय

७५. तॄ (तैरना) तरितव्य-तरीतव्य; तरणीय
७६. त्यज् (छोड़ना) त्यक्तव्य; त्यजनीय
७७. त्रै (पालना) त्रातव्य; त्राणीय
७८. दण्ड् (दण्ड देना) दण्डयितव्य; दण्डनीय
७९. दल् (दलना) दलितव्य; दलनीय
८०. दह् (जलाना) दग्धव्य; दहनीय
८१. दा (देना) दातव्य; दानीय
८२. दिव् (चमकना) देवितव्य; देवनीय
८३. दीप् (दीप्त होना) दीपितव्य; दीपनीय
८४. दुह् (दोहना) दोग्धव्य; दोहनीय
८५. आ √दृ (आदर करना) आदर्तव्य; आदरणीय
८६. दृश् (देखना) द्रष्टव्य; दर्शनीय
८७. द्युत् (चमकना) द्योतितव्य; द्योतनीय
८८. द्विष् (द्वेष करना) द्वेष्टव्य; द्वेषणीय
८९. धा (धारण करना) धातव्य; धानीय
९०. धाव् (भागना) धावितव्य; धावनीय
९१. ध्मा (धौंकना) ध्मातव्य; ध्मानीय
९२. ध्यै (ध्यान करना) ध्यातव्य ध्यानीय
९३. नम् (झुकना) नन्तव्य; नमनीय
९४. नश् (नष्ट होना) नशितव्य नंष्टव्य; नशनीय
९५. निन्द् (निन्दा करना) निन्दितव्य; निन्दनीय
९६. नी (ले जाना) नेतव्य; नयनीय
९७. नृत् (नाचना) नर्तितव्य; नर्तनीय
९८. पच् (पकाना) पक्तव्य; पचनीय
९९. पठ् (पढ़ना) पठितव्य; पठनीय
१००. पत् (गिरना) पतितव्य; पतनीय
१०१. पा (पीना) पातव्य; पानीय
१०२. पा (रक्षा करना) पातव्य; पानीय
१०३. पाल् (रक्षा करना) पालयितव्य; पालनीय
१०४. पिष् (पीसना) पेष्टव्य; पेषणीय
१०५. पीड् (पीडा देना) पीडयितव्य; पीडनीय
१०६. पुष् (पुष्ट करना) पोष्टव्य; पोषणीय
१०७. पू (पवित्र करना) पवितव्य; पवनीय
१०८. पूज् (पूजना) पूजयितव्य; पूजनीय
१०९. पॄ (पालन वा पूर्णकरना) परितव्य परीतव्य; परणीय
११०. प्रच्छ् (पूछना) प्रष्टव्य; प्रच्छनीय
१११. फल् (फलना) फलितव्य; फलनीय
११२. बुध् (जागना) बोद्धव्य; बोधनीय
११३. बुध् (भ्वा० जानना) बोधितव्य; बोधनीय
११४. ब्रू (कहना) वक्तव्य; वचनीय
११५. भक्ष् (खाना) भक्षयितव्य; भक्षणीय
११६. भज् (सेवन करना) भक्तव्य; भजनीय
११७. भण् (कहना) भणितव्य; भणनीय
११८. भञ्ज् (तोड़ना) भङ्क्तव्य; भञ्जनीय
११९. भा (चमकना) भातव्य; भानीय
१२०. भाष् (भाषण करना) भाषितव्य; भाषणीय
१२१. भिक्ष् (मांगना) भिक्षितव्य; भिक्षणीय

१२२. भिद् (तोड़ना) भेत्तव्य; भेदनीय
१२३. भी (डरना) भेतव्य; भयनीय
१२४. भुज् (खाना, पालना) भोक्तव्य; भोजनीय
१२५. भू (होना) भवितव्य; भवनीय
१२६. भूष् (सजाना) भूषयितव्य; भूषणीय
१२७. भृ (धारण करना) भर्तव्य; भरणीय
१२८ भ्रम् (घूमना) भ्रमितव्य; भ्रमणीय
१२९. मन् (मानना) मन्तव्य; मननीय
१३० मस्ज् (गोता लगाना) मङ्क्तव्य; मज्जनीय
१३१. मा (मापना) मातव्य; मानीय
१३२. मार्ग् (ढूंढना) मार्गयितव्य; मार्गणीय
१३३. मिल् (मिलना) मेलितव्य; मेलनीय
१३४. मील् (आंखें बन्द करना) मीलितव्य; मीलनीय
१३५. मुच् (छोड़ना) मोक्तव्य; मोचनीय
१३६. मुद् (प्रसन्न होना) मोदितव्य; मोदनीय
१३७. मृ (मरना) मर्तव्य; मरणीय
१३८. मृज् (शुद्ध करना) मार्जितव्य / मार्ष्टव्य; मार्जनीय
१३९ मृष् (सहना) मर्षितव्य; मर्षणीय
१४०. म्लै (म्लान होना) म्लातव्य; म्लानीय
१४१. यज् (यज्ञ करना) यष्टव्य; यजनीय
१४२. यत् (यत्न करना) यतितव्य; यतनीय
१४३ या (जाना) यातव्य; यानीय
१४४. याच् (मांगना) याचितव्य; याचनीय
१४५. युज् (जोड़ना) योक्तव्य; योजनीय
१४६. युध् (युद्ध करना) योद्धव्य; योधनीय
१४७. रक्ष् (रक्षा करना) रक्षितव्य; रक्षणीय
१४८. रच् (रचना करना) रचयितव्य; रचनीय
१४९. आ √ रभ् (शुरू करना) आरब्धव्य; आरम्भणीय[1]
१५०. रम् (क्रीडा करना) रन्तव्य; रमणीय
१५१. रुच् (पसंद आना) रोचितव्य; रोचनीय
१५२. रुद् (रोना) रोदितव्य; रोदनीय
१५३. रुध् (रोकना) रोद्धव्य; रोधनीय
१५४. रुह् (उगना) रोढव्य; रोहणीय
१५५. लभ् (पाना) लब्धव्य; लम्भनीय[2]
१५६. लष् (चाहना) लषितव्य; लषणीय
१५७. लिख् (लिखना) लेखितव्य; लेखनीय
१५८. लिह् (चाटना) लेढव्य; लेहनीय
१५९. लू (छेदन करना) लवितव्य; लवनीय
१६०. अव √ लोक् (देखना) अवलोकितव्य; अवलोकनीय
१६१. आ √ लोच् (देखना) आलोचितव्य; आलोचनीय
१६२. वद् (बोलना) वदितव्य, वदनीय
१६३. वन्द् (नमस्कार करना) वन्दितव्य, वन्दनीय

---

१. **रभेरशब्लिटोः** (७.१.६३) इति नुमागमः
२. **लभेश्च** (७.१.६४) इति नुमागमः ।

१६४. वप् (काटना-बोना) वप्तव्य; वपनीय
१६५. वम् (वमन करना) वमितव्य; वमनीय
१६६. वर्ण् (वर्णन करना) वर्णयितव्य; वर्णनीय
१६७. वस् (रहना) वस्तव्य[1]; वसनीय
१६८. वह् (ढोना) वोढव्य; वहनीय
१६९. वाञ्छ् (चाहना) वाञ्छितव्य; वाञ्छनीय
१७०. विद् (जानना) वेदितव्य; वेदनीय
१७१. विद् (पाना) वेत्तव्य; वेदनीय
१७२. प्र √विश् (प्रवेश करना) प्रवेष्टव्य; प्रवेशनीय
१७३. वृञ् (वरना) वरितव्य-वरीतव्य; वरणीय
१७४. वृत् (वर्तना) वर्तितव्य; वर्तनीय
१७५. वृध् (बढ़ना) वर्धितव्य; वर्धनीय
१७६. व्रज् (जाना) व्रजितव्य; व्रजनीय
१७७. व्रश्च् (काटना) व्रश्चितव्य, व्रष्टव्य; व्रश्चनीय
१७८. शङ्क् (शंका करना) शङ्कितव्य; शङ्कनीय
१७९. प्र √शंस् (प्रशंसा करना) प्रशंसितव्य; प्रशंसनीय
१८०. शास् (शासन करना) शासितव्य; शासनीय
१८१. शिक्ष् (शिक्षा देना) शिक्षितव्य; शिक्षणीय
१८२. शी (सोना) शयितव्य; शयनीय
१८३. शुच् (शोक करना) शोचितव्य; शोचनीय
१८४. शुभ् (शोभा पाना) शोभितव्य; शोभनीय
१८५. आ √श्रि (आश्रय करना) आश्रयितव्य; आश्रयणीय
१८६. श्रु (सुनना) श्रोतव्य; श्रवणीय
१८७. श्लाघ् (प्रशंसा करना) श्लाघितव्य; श्लाघनीय
१८८. श्वस् (सांस लेना) श्वसितव्य; श्वसनीय
१८९. सह् (सहना) सहितव्य, सोढव्य; सहनीय
१९०. सिच् (सींचना) सेक्तव्य; सेचनीय
१९१. सृ (जाना) सर्तव्य; सरणीय
१९२ सृज् (छोड़ना, पैदा करना) स्रष्टव्य; सर्जनीय
१९३. सेव् (सेवा करना) सेवितव्य; सेवनीय
१९४. स्तु (स्तुति करना) स्तोतव्य; स्तवनीय
१९५. स्था (ठहरना) स्थातव्य; स्थानीय
१९६. स्मृ (स्मरण करना) स्मर्तव्य; स्मरणीय
१९७. स्वप् (सोना) स्वप्तव्य; स्वपनीय
१९८. हन् (मारना) हन्तव्य; हननीय
१९९. हस् (हसना) हसितव्य; हसनीय
२००. हा (छोड़ना) हातव्य; हानीय
२०१. हिंस् (मारना) हिंसितव्य; हिंसनीय
२०२. हु (हवन करना) होतव्य; हवनीय
२०३. हृ (चुराना) हर्तव्य; हरणीय
२०४. ह्री (शर्माना) ह्रेतव्य; ह्रयणीय
२०५. आ √ह्वे (बुलाना) आह्वातव्य; आह्वानीय

---

१. कर्त्रर्थे तु वास्तव्यः

[तव्यत् आदि में कुछ अवान्तर कार्य]

(१) ब्रू—वक्तव्य-वचनीय; अस्—भवितव्य-भवनीय ।

यहां तव्यत् आदि प्रत्ययों की विवक्षा मात्र में ब्रू को वच् (५९६) तथा अस् को भू (५७६) आदेश हो जाता है। 'वक्तव्य' मे **चोः कुः** (३०६) से कुत्व विशेष है।

(२) वह्—वोढव्य; सह्—सोढव्य ।

वह्+तव्य, सह्+तव्य इस स्थिति में **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तकार को धकार पुनः ष्टुत्व से उसे ढकार हो कर ढोढे-लोप (५५०) हो जाता है—व+ढव्य; स+ढव्य। अब **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर अभीष्ट रूप सिद्ध होते है।

(३) दृश्—द्रष्टव्य, सृज्—स्रष्टव्य ।

दृश् और सृज् धातुओं से तव्यत् लाने पर **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) से अम् का आगम हो कर यणादेश करने से—द्रश्+तव्य, स्रज्+तव्य। अब **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व करने से अभीष्ट रूप बनते है। अनीयर् के झलादि न होने से उस के परे रहते अम् का आगम न हो कर लघूपधगुण हो जाता है दर्शनीय, सर्जनीय ।

(४) रुह्—रोढव्य; लिह्—लेढव्य ।

यहां रुह् और लिह् धातु मे लघूपधगुण, **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तव्य के तकार को धकार, ष्टुत्व से उसे ढकार तथा ढोढेलोप करने से अभीष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

(५) दुह्—दोग्धव्य; दह्—दग्धव्य ।

दुह् मे लघूपधगुण हो कर **दादेर्धातोर्घः** (२५२) से हकार को घकार, तव्य के तकार को धत्व (५४९) तथा **झलां जश् झशि** (१९) से घकार को गकार करने पर 'दोग्धव्य' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'दग्धव्य' परन्तु यहां लघूपधगुण नहीं होता।

(६) व्रश्च्—व्रश्चितव्य, व्रष्टव्य ।

व्रश्च् धातु ऊदित् होने से **स्वरतिसूति०** (४७६) द्वारा वेट् है। इट् के अभाव में **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) से संयोगादि सकार का लोप, **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से चकार को षत्व तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व हो जाता है।

(७) लब्धव्य; आरब्धव्य; बोद्धव्य, योद्धव्य आदि ।

लभ्, रभ्, बुध्, युध् आदि झषन्त धातुओं से परे तव्यत् के तकार को धत्व (५४९) हो कर **झलां जश् झशि** (१९) से धातु को जश्त्व हो जाता है।

(८) तुष्—तोष्टव्य, पुष् (दिवा०) पोष्टव्य, पिष् पेष्टव्य आदि ।

इन मे लघूपधगुण हो कर ष्टुत्व हो जाता हैं।

(९) पच्—पक्तव्य, भुज्—भोक्तव्य, मुच्—मोक्तव्य आदि ।

इन मे **चोः कुः** (३०६) से कुत्व हो जाता है।

(१०) गम्—गन्तव्य; नम्—नन्तव्य; रम्—रन्तव्य आदि।

इन में गम् नम् रम् आदि के अपदान्त मकार को **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अनुस्वार हो कर **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से परसवर्ण हो जाता है। इसी प्रकार हन्तव्य, मन्तव्य आदि में नकार के विषय में भी समझना चाहिये।

(११) वृञ्—वरितव्य, वरीतव्य; तॄ—तरितव्य, तरीतव्य।

इन में **वृतो वा** (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है।

(१२) ग्रह्—ग्रहीतव्य।

यहां **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६६३) से इट् को दीर्घ हो जाता है।

(१३) अद्—अत्तव्य; छिद्—छेत्तव्य; तुद्—तोत्तव्य आदि।

इन में **खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

(१४) गै—गातव्य; ध्यै—ध्यातव्य; ह्वे—ह्वातव्य; त्रै—त्रातव्य आदियों में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से धातु के एच् को आकार आदेश हो जाता है।

(१५) इष्—एषितव्य-एष्टव्य।

यहां **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) सूत्र से तादि प्रत्यय को विकल्प से इट् हो कर दोनों पक्षों में लघूपधगुण हो जाता है।

(१६) चोरयितव्य, चिन्तयितव्य, भक्षयितव्य, दण्डयितव्य आदि में चौरादिक धातुओं से णिच् आ कर उसे गुण हो कर अयादेश हो जाता है।

(१७) कथयितव्य, गणयितव्य, रचयितव्य—आदि में कथ गण रच आदि धातुओं के अदन्त होने से अल्लोप (४७०) के स्थानिवद्भाव (१४४) के कारण णिच्‌निमित्तक उपधावृद्धि नहीं होती।

(१८) प्रच्छ्—प्रष्टव्य।

तव्य परे रहते **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) सूत्र से प्रच्छ् के छकार को षकार हो कर ष्टुत्व करने से अभीष्ट रूप बन जाता है। ध्यान रहे कि छकार से पूर्व च् (तुँक्) का **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से अपाय अर्थात् विनाश हो जाता है।

(१९) मस्ज्—मङ्क्तव्य, मज्जनीय।

मस्ज् धातु से तव्यत् में **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) से नुँम् का आगम हो जाता है। यह आगम **मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः** (वा० ४४) इस वार्त्तिक से मस्ज् के जकार से पूर्व होता है—मस्न्ज् + तव्य। अब **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) से संयोगादि सकार का लोप, **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार पुनः चर्त्वेन ककार तथा नकार को अनुस्वारपरसवर्ण करने से—मङ्क्तव्य। अनीयर् में मस्ज् के सकार को श्चुत्वेन शकार तथा **झलां जश् झशि** (१९) से शकार को जकार हो जाता है—मज्जनीय।

(२०) नश्—नशितव्य, नंष्टव्य।

नश् धातु **रधादिभ्यश्च** (६३५) से वेट् है। इट्पक्ष में नशितव्य। इट् के

अभाव में झल् परे रहते **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) से नुँम् का आगम हो कर षत्व, ष्टुत्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार हो जाता है —नंष्टव्य ।

(२१) गुप्—गोपायितव्य-गोपितव्य-गोप्तव्य ।

यहां पर गुप् धातु से **आयादय आर्धधातुके वा** (४६६) से आयप्रत्यय विकल्प से होता है । आयपक्ष में इट् का आगम हो कर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है । आय के अभाव में ऊदित् होने से इट् का विकल्प होता है ।

(२२) कम्—कामयितव्य-कमितव्य ।

कम् धातु से **आयादय आर्धधातुके वा** (४६६) से वैकल्पिक णिङ् हो जाता है । णिङ्पक्ष में उपधावृद्धि हो जाती है ।

अभ्यास (१)

(१) कृत्यसंज्ञक प्रत्यय कितने और कौन कौन से हैं ? प्रत्येक का एक एक विधायक सूत्र लिखें ।

(२) वाऽसरूपविधि पर सोदाहरण दो पृष्ठों (२५० शब्दों) का एक लघु-निबन्ध लिखें ।

(३) कृत्यप्रत्यय प्रधानतः किन किन कारकों मे होते हैं सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(४) उत्सर्ग और अपवाद की व्याख्या करते हुए तद्विषयक दो-दो उदाहरण कृत्यप्रकरण में से प्रदर्शित कीजिये ।

(५) **चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति** के परिप्रेक्ष्य में 'बहुलम्' शब्द का सोदाहरण स्पष्टीकरण करें ।

(६) **धातोः** (७६६) अधिकार चलाने की आवश्यकता पर एक संक्षिप्त नोट लिखें ।

(७) कारकों के अतिरिक्त कृत्यों के कुछ अन्य अर्थों पर सोदाहरण प्रकाश डालें ।

(८) कृत्यप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिक संज्ञा कैसी होती है ? सप्रमाण लिखें ।

(९) यदि कृत्यप्रत्यय भाव में विहित हो तो कर्त्ता में कौन सी विभक्ति आयेगी ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(१०) यदि कृत्यप्रत्यय कर्म में विहित हो तो कर्त्ता और कर्म में कौन सी विभक्ति आयेगी ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(११) प्रयोजन बतलाएं—

(क) तव्यत् के अन्त में तकार जोड़ने का;
(ख) अनीयर् के अन्त में रेफ जोड़ने का;
(ग) क्यप् के अन्त में पकार जोड़ने का;
(घ) क्यप् के आदि में ककार जोड़ने का;
(ङ) ण्यत् के आदि में णकार जोड़ने का;

(च) यत् के अन्त में तकार जोड़ने का;
(छ) केलिमर् के आदि में ककार जोड़ने का।

(१२) अन्तर बतलाएं—
(क) भोज्य और भोग्य में;
(ख) अर्य और आर्य में;
(ग) भेत्तव्य और भेतव्य में;
(घ) श्रव्य और श्राव्य में;

(१३) ण्यत्-क्यप्-यत् में प्रक्रियाजन्य अन्तर स्पष्ट करें।

(१४) **ईद्यति** में ह्रस्व इकार आदेश ही क्यों न करें?

(१५) ससूत्र सिद्धि करें—
(क) शिष्यः; देयम्; मार्ग्यः; मृज्यः; स्तुत्यः; भिदेलिमाः; चयनीयः; चेयम्; लभ्यम्; इत्यः; कार्यम्; स्नानीयं चूर्णम्; भोज्या यवागूः; जुष्यः; ग्लेयम्; आदृत्यः; वृत्यः; एधितव्यम्।
(ख) वास्तव्यः; अर्यः; खेयम्; कृत्यम्; सह्यम्; गृह्याः; दृश्यम्; आर्यः; मङ्क्तव्यम्; रोढव्यम्; नंष्टव्यः; सोढव्यः; मज्जनीयम्; ग्रहीतव्यम्; ध्यातव्यम्; अध्ययनीयम्; दोग्धव्यम्; वक्तव्यम्; एष्टव्यम्; द्रष्टव्यम्; योद्धव्यम्।

(१६) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—
तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः; कृत्यल्युटो बहुलम्; चजोः कु घिण्ण्यतोः; शास इदङ्हलोः; ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्; अचो यत्; वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्।

इति कृत्यप्रक्रिया

यहां कृदन्तों में कृत्यप्रक्रिया का प्रकरण समाप्त होता है।

—:o:—

अथ पूर्वकृदन्तम्

अब पूर्वकृदन्तप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

व्याख्या—कृदन्तप्रकरण के प्रधानतया दो विभाग किये जाते हैं—पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपादस्थ **धातोः** (३.१.९१) अधिकार से लेकर तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद की समाप्तिपर्यन्त पूर्वकृदन्त तथा **उणादयो बहुलम्** (३.३.१) से ले कर आगे के सम्पूर्ण कृत्प्रकरण को उत्तरकृदन्त माना जाता है। यद्यपि पाणिनीयव्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई विभाजन दिखाई नहीं देता किञ्च रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, रूपमाला आदि प्रक्रियाग्रन्थों में भी ऐसा कुछ उल्लेख नहीं मिलता तथापि कौमुदीकार (भट्टोजिदीक्षित)

ण्वुल्, तृच्, अ, वु

ने विषयविभाजन के सौकर्य के लिये ऐसी स्वकल्पित एक रेखा खींच दी है। वैसे तो इस से पूर्व कृत्यप्रकरण भी पूर्वकृदन्तों के अन्तर्गत गिना जाना चाहिये था परन्तु अर्थ की दृष्टि से विलक्षणता के कारण उसे पूर्वकृदन्तों से पूर्व पृथक् निर्दिष्ट किया गया प्रतीत होता है। लघुकौमुदीकार ने विषयविभाजन की दृष्टि से सम्पूर्ण कृदन्तप्रकरण को चार भागों में विभक्त किया है –(१) कृत्यप्रक्रिया। (२) पूर्वकृदन्तप्रकरण। (३) उणादिप्रकरण। (४) उत्तरकृदन्तप्रकरण। इन में प्रथम दो पूर्वकृदन्तप्रकरणस्थ तथा अन्तिम दो उत्तरकृदन्तप्रकरणस्थ समझने चाहियें।

अब पूर्वकृदन्तप्रकरण के सुप्रसिद्ध प्रथम दो प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८४) **ण्वुल्तृचौ** ।३।१।१३३।।

धातोरेतौ स्तः। कर्तरि कृद् (७६६) इति कर्त्रर्थे ।।

अर्थः—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय हों। **कर्तरि कृत्** (७६६) सूत्र के अनुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में होंगे।

व्याख्या—ण्वुल्तृचौ ।१।२। धातोः ।५।१। प्रत्ययौ ।१।२। परौ ।१।२। (**धातोः** अधिकृत है। **प्रत्ययः, परश्च** इन दोनों अधिकारों का वचनविपरिणाम हो जाता है)। ण्वुल् च तृच् च ण्वुल्तृचौ, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(धातोः) धातु से (परौ) परे (ण्वुल्तृचौ) ण्वुल् और तृच् (प्रत्ययौ) प्रत्यय होते हैं।

ण्वुल् का आद्य णकार **चुटू** (१२६) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'वु' मात्र शेष रहता है। इस के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा के अत् को वृद्धि हो जाती है। किञ्च आकारान्त धातुओं को **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम भी हो जाता है। लकार के इत् होने से **लिति** (६.१.१९०) द्वारा लित्स्वर सिद्ध हो जाता है। तृच् में चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत् हो कर लुप्त हो जाता है –'तृ' मात्र शेष रहता है। तृच् में चकार अनुबन्ध तृन् और तृच् दोनों को 'तृ' द्वारा ग्रहण कराने के लिये लगाया गया है[1]। अन्यथा **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य**[2] इस परिभाषा द्वारा 'तृ' से तृन् का ग्रहण न होता। ये ण्वुल् और तृच् प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पठित होने से कृत्संज्ञक हैं अतः **कर्तरि कृत्** (७६६) से कर्ता अर्थ में होते हैं।

अब ण्वुल्प्रत्यय के विषय में एक अतीवोपयोगी सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८५) **युवोरनाकौ** ।७।१।१।।

यु वु—एतयोरनाकौ स्तः। कारकः। कर्ता ।।

---

१. यथा—**तुरिष्ठेमेयस्सु** (६.४.१५४); **तुश्छन्दसि** (५.३.५९)। ध्यान रहे कि चकार **चितः** (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्तस्वर की सिद्धि के लिये नहीं जोड़ा गया। वह स्वर तो **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) से ही सिद्ध है।

२. सूत्र में जब अनुबन्धरहित प्रत्यय का उल्लेख हो तो उस से सानुबन्ध प्रत्यय नहीं लिया जाता।

अर्थः— यु और वु को क्रमशः अन और अक आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युवोः ।६।१। अनाकौ ।१।२। युश्च वुश्च युवु:, तस्य युवोः । समाहारद्वन्द्वः । यहां पर सौत्र पुंस्त्व समझना चाहिये, अन्यथा समाहारद्वन्द्व के नपुंसक होने से 'युवुनः' ऐसा लिखा जाता । अनश्च अकश्च—अनाकौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(युवोः) यु और वु के स्थान पर (अनाकौ) अन और अक आदेश हो जाते हैं। अन और अक दोनों अदन्त आदेश है। अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा दोनों सर्वादेश होते हैं। यथासंख्यपरिभाषा (२३) के अनुसार यु को अन तथा वु को अक आदेश हो जायेगा।

यु को अन आदेश का उदाहरण अगले सूत्र पर आयेगा। यहां प्रकृत में वु को अक आदेश का उदाहरण प्रस्तुत है—

डुकृञ् करणे (तना० उभय० अनिट्) धातु से **ण्वुल्तृचौ** (७८४) द्वारा कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय हो जाता है। अनुबन्धों का लोप करने पर 'कृ+वु' इस स्थिति में **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से वु को अक सर्वादेश हो कर 'कृ+अक'। ण्वुल् णित् था अतः स्थानिवद्भाव के कारण 'अक' आदेश भी णित् हुआ। इस णित् के परे रहते **अचो ञ्णिति** (१८२) द्वारा कृ के ऋकार को आर् वृद्धि करने से—कार्+अक=कारक बनता है। अब कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विशेष्यानुसार सुँपों की उत्पत्ति होकर 'कारकः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। करोतीति कारकः। जो करता है वह अर्थात् करने वाला।

इसी प्रकार—हृञ् धातु से हरतीति हारकः (हरने वाला)। पठ्—पठतीति पाठकः (पढ़ने वाला); **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि। गै—गायतीति गायकः (गाने वाला); यहां गै धातु को **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से आत्व हो कर 'गा' बन जाता है पुनः **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर रूप निष्पन्न होता है। दा—ददातीति दायकः (देने वाला); युँक् का आगम। धा—दधातीति धायकः (धारण करने वाला); पूर्ववत् युँक्। पच्—पचतीति पाचकः (पकाने वाला); उपधावृद्धि। छिद्—छिनत्तीति छेदकः (काटने वाला); लघूपधगुण। ब्रू—ब्रवीतीति वाचकः (कहने वाला); **ब्रुवो वचिः** (५९६) से वच् आदेश हो कर उपधावृद्धि हो जाती है।

कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) याच्—याचत इति याचकः (मांगने वाला)।
(२) दह्—दहतीति दाहकः (जलाने वाला); उपधावृद्धि।
(३) नी—नयतीति नायकः (ले जाने वाला); वृद्धि, आयादेश।
(४) निन्द्—निन्दतीति निन्दकः (निन्दा करने वाला)।
(५) लिख्—लिखतीति लेखकः (लिखने वाला)।
(६) सेव्—सेवत इति सेवकः (सेवा करने वाला)।
(७) दृश्—पश्यतीति दर्शकः (देखने वाला); लघूपधगुण।

(८) पूञ्—पुनातीति पावकः (पवित्र करने वाला, अग्नि)।
(९) धाव्—धावतीति धावकः (दौड़ने वाला, धोने वाला, धोबी)।
(१०) भिद्—भिनत्तीति भेदकः (भेदन करने वाला)।
(११) वृध्—वर्धत इति वर्धकः (बढ़ने वाला)।
(१२) रुध्—रुणद्धीति रोधकः (रोकने वाला)।
(१३) नृत्—नृत्यतीति नर्तकः (नाचने वाला)।
(१४) सिच्—सिञ्चतीति सेचकः (सींचने वाला)।
(१५) वह्—वहतीति वाहकः (ढोने वाला)।

णिजन्त धातुओं से ण्वुल् प्रत्यय करने पर **णेरनिटि** (५२९) द्वारा णि का लोप हो जाता है। यथा—

(१६) चिन्त्—चिन्तयतीति चिन्तकः (चिन्ता करने वाला)।
(१७) गण्—गणयतीति गणकः (गिनने वाला)।
(१८) पाल्—पालयतीति पालकः (पालन करने वाला)।
(१९) स्थापि—स्थापयतीति स्थापकः (स्थापित करने वाला)।
(२०) मोदि—मोदयतीति मोदकः (प्रसन्न करने वाला, लड्डू)।
(२१) पाठि—पाठयतीति पाठकः (पढ़ाने वाला, अध्यापक)।
(२२) अध्यापि—अध्यापयतीति अध्यापकः (पढ़ाने वाला)।

अब तृच् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

करोतीति कर्ता। यहां पर भी 'डुकृञ् करणे' धातु से कर्ता अर्थ में **ण्वुल्तृचौ** (७८४) से तृच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—कृ+तृ। तृच् के वलादि आर्धधातुक होने के कारण **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है। अब **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से कृ के ऋकार को गुण रपर हो कर 'कर्तृ' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एकवचन में सुँ विभक्ति लाने पर 'कर्ता' प्रयोग सिद्ध होता है [सुबन्तप्रक्रिया पूर्वार्ध में देखें]। इसी प्रकार—

(१) हृञ्—हर्तृ—हर्ता (हरने वाला)।
(२) गम्—गन्तृ—गन्ता (जाने वाला)।
(३) हन्—हन्तृ—हन्ता (मारने वाला)।
(४) पच्—पक्तृ—पक्ता (पकाने वाला)।
(५) भुज्—भोक्तृ—भोक्ता (खाने वाला)।
(६) स्मृ—स्मर्तृ—स्मर्ता (स्मरण करने वाला)।
(७) स्तु—स्तोतृ—स्तोता (स्तुति करने वाला)।
(८) श्रु—श्रोतृ—श्रोता (सुनने वाला)।
(९) भिद्—भेत्तृ—भेत्ता (तोड़ने वाला)।
(१०) छिद्—छेत्तृ—छेत्ता (छेदने वाला)।

ल्यु, णिनि, अच्

(११) ज्ञा—ज्ञातृ—ज्ञाता (जानने वाला)।
(१२) अधि √इङ्—अध्येतृ—अध्येता (अध्ययन करने वाला)।
(१३) स्था—स्थातृ—स्थाता (ठहरने वाला)।
(१४) दुह्—दोग्धृ—दोग्धा (दोहने वाला)।
(१५) वह्—वोढृ—वोढा (ढोने वाला)।
(१६) प्रच्छ्—प्रष्टृ—प्रष्टा (पूछने वाला)।
(१७) दा—दातृ—दाता (देने वाला)।
(१८) क्री—क्रेतृ—क्रेता (खरीदने वाला)।
(१९) मस्ज्—मङ्क्तृ—मङ्क्ता (गोता लगाने वाला)।
(२०) सृज्—स्रष्टृ—स्रष्टा (पैदा करने वाला)।
सेट् धातुओं से परे 'तृ' को इट् का आगम हो जाता है—
(२१) खन्—खनितृ—खनिता (खोदने वाला)।
(२२) पू—पवितृ—पविता (पवित्र करने वाला)।
(२३) खाद्—खादितृ—खादिता (खाने वाला)।
(२४) रच्—रचयितृ—रचयिता (रचने वाला)।
(२५) पाठि—पाठयितृ—पाठयिता (पढ़ाने वाला)।

ध्यान रहे कि भुज्+तृच्=भोक्ता; वह्+तृच्=वोढा; दुह्+तृच्=दोग्धा आदि में अवान्तर सन्धिकार्य ठीक उसी तरह हुआ करते हैं जैसा कि तव्यत्प्रत्ययान्तों की तालिका में दिखा चुके हैं। उस की पुनरावृत्ति व्यर्थ है।

अब अग्रिमसूत्र में अन्य कृत्यप्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७८६) नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः ।३।१।१३४।।**

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनमर्दयतीति जनार्दनः। लवणः। ग्राही। स्थायी। मन्त्री। [पचः]। पचादिराकृतिगणः।।

अर्थः—नन्द्यादियों से ल्यु, ग्रह्यादियों से णिनिँ तथा पचादियों से अच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः ।५।३। ल्युणिन्यचः ।१।३। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च नन्दि-ग्रहि-पच्, समाहारद्वन्द्वः। नन्दि-ग्रहि-पच् आदिर्येषान्ते नन्दि-ग्रहि-पचादयः, तेभ्यः=नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ल्युश्च णिनिश्च अच् च ल्युणिन्यचः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः) नन्द्यादि ग्रह्यादि तथा पचादि (धातुभ्यः) धातुओं से (पराः) परे (ल्यु-णिन्यचः) ल्यु, णिनिँ और अच् (प्रत्ययाः) प्रत्यय होते हैं।

यहां तीन गणों से तीन प्रत्यय विधान किये गये हैं अतः **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा से क्रमशः अर्थात् नन्द्यादि से ल्यु, ग्रह्यादि से णिनिँ तथा पचादि से अच् प्रत्यय होगा ।

नन्द्यादि, ग्रह्यादि और पचादि—ये तीन गण है जो पाणिनीय गणपाठ में दिये गये हैं । 'नन्दि' शब्द आदि मे रहने से नन्द्यादि, 'ग्रहि' शब्द आदि मे रहने से ग्रह्यादि तथा 'पच्' शब्द आदि में रहने से पचादि नाम पड़ा है[1] । 'टुनदिँ समृद्धौ' (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु के इदित् होने से **इदितो नुम् धातोः** (४६३) से नुँम् का आगम हो कर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर नन्द् बन जाता है । अब इस से **हेतुमति च** (७००) द्वारा हेतुमर्णिच् प्रत्यय जोड़ कर 'नन्दि' हो जाता है । यही 'नन्दि' यहां नन्द्यादिगण के आदि में गृहीत किया गया है । 'ग्रहि' में शुद्ध 'ग्रह उपादाने' (क्र्या० उभ०) धातु का ग्रहण समझना चाहिये, यहां **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा० ३.३.१०८) से इक् प्रत्यय धातुनिर्देश में किया गया है[2] ।

ल्यु, णिनिँ और अच् ये तीनो प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार के अन्तर्गत पठित होने से कृत्सञ्ज्ञक हैं अतः **कर्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में होते हैं ।

नन्द्यादियों से ल्यु प्रत्यय होता है । ल्यु का आदि लकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है[3] 'यु' मात्र अवशिष्ट रहता है, जिसे **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा —

नन्दयतीति नन्दनः । यहां णिजन्त 'टुनदिँ समृद्धौ' धातु अर्थात् 'नन्दि' से कर्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से ल्यु प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'नन्दि+यु' । अब **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप हो कर **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो जाता है—नन्द्+अन=नन्दन । प्रथमा के एकवचन में सुँ विभक्ति लाने से 'नन्दनः' (प्रसन्न करने वाला, पुत्र) प्रयोग सिद्ध होता है । इन्द्र के वन को भी 'नन्दन' कहते हैं उस मे 'नन्दनम्' ऐसा नपुंसक प्रयुक्त होता है ।

---

१. वस्तुतः गणपाठ में इन तीन गणों में 'नन्दन' आदि प्रत्ययान्त सिद्ध शब्द ही गिनाये गये हैं । इन शब्दों में प्रयुक्त धातुओं से वैयाकरण ल्यु, णिनिँ, अच् प्रत्ययों का विधान करते हैं । जैसाकि काशिकाकार ने कहा है—
"नन्दिग्रहिपचादयश्च न धातुपाठतः संनिविष्टा गृह्यन्ते, किं तर्हि ? नन्दन-रमणेत्येवमादिषु प्रातिपदिकगणेषु अपोद्धृत्य (बुद्ध्या पृथक्कृत्य) ये पठ्यन्ते ते निर्दिश्यन्ते" (काशिका ३.१.१३४) ।

२. इक् के कित् होने पर भी **ग्रहिज्या०** (६३४) से सम्प्रसारण का अभाव सौत्रत्वात् या स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये समझना चाहिये ।

३. ल्यु में लकार और अच् प्रत्यय में चकार स्वरकार्य के लिये जोड़े गये हैं ।

जनमर्दयतीति जनार्दनः (भगवान् विष्णु[1])। यहां 'जन' कर्म के उपपद रहते 'अर्द हिंसायाम्' (मारना) इस चौरादिक णिजन्त धातु से कर्ता अर्थ में नन्द्यादित्वात् ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश तथा **णेरनिटि** (५२६) से णि का लोप करने पर 'अर्दन' इस कृदन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्र से 'जन' कर्म में षष्ठीविभक्ति लग जाती है—जन ङस् + अर्दन। अब **उपपदमतिङ्** (६५४) सूत्र से उपपदसमास[2] और समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर समास के अवयव सुँप् (ङस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो सवर्णदीर्घ करने से 'जनार्दन' बन जाता है। पुनः समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन स्वादियों की उत्पत्ति हो कर प्रथमा के एकवचन में 'जनार्दनः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मधुं तन्नामकं दैत्यं सूदयति = क्षारयति = विनाशयतीति मधुसूदनः (श्रीकृष्ण)। यहां पर णिजन्त 'षूद क्षरणे' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से कर्तरि ल्यु प्रत्यय होकर णिच् का लोप करने से 'सूदन', पुनः पूर्ववत् मधुकर्म के साथ उपपद-समास हो कर—मधुसूदनः। मधुशब्द का तात्पर्यार्थ अशुभ कर्म करते हुए मधुसूदन का एक सुन्दर अर्थ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड अ० ११०) में दिया गया है—

---

१. मोक्षप्रदान कर भक्तजनों के जन्मबन्धन को काटने के कारण हरि का नाम जनार्दन है। तद्यथा—जननं जनः, भावे घञ्, **जनिवध्योश्च** (६४२) इति वृद्धिनिषेधः, जनम् (जन्म) अर्दयति = हिनस्ति = नाशयति मोक्षप्रदानेन भक्तस्येति जनार्दनो हरिः।

पापी जन को दण्डद्वारा पीडित करने के कारण हरि को जनार्दन कहते हैं। तद्यथा—जनम् (पापिनम्) अर्दयति = दण्डयतीति जनार्दनो हरिः।

जन नामक समुद्रवासिदैत्यवर्ग को नष्ट करने के कारण हरि को जनार्दन कहते हैं। तद्यथा—जनम् (तन्नामकं समुद्रस्थदैत्यवर्गम्) अर्दयति = हिनस्ति = नाशयतीति जनार्दनो हरिः।

[शाङ्करभाष्ये जनैरर्द्यते = याच्यत इति जनार्दन इत्येवं कर्मणि ल्युटाप्युपपादितो जनार्दनशब्दः; दृश्यतां विष्णुसहस्रनामभाष्ये श्लो० २०]

२. **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार यह समास 'अर्दन' से परे सुँबुत्पत्ति होने से पूर्व ही हो जाता है। ध्यान रहे कि यद्यपि यहां सप्तमीनिर्दिष्ट न होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (६५३) सूत्र से 'जन' की उपपदसंज्ञा नहीं हो सकती तथापि गण में प्रातिपदिकपाठ के सामर्थ्य से उस की उपपदसंज्ञा कर उपपदसमास सिद्ध हो जाता है। इसीलिये तो आचार्य ने गणपाठ में धातुओं का निर्देश न कर प्रातिपदिकों का ही पाठ किया है जिस से कुछ अन्य अनिर्दिष्ट बातें भी सिद्ध हो जायें।

परिणामाशुभं कर्म भ्रान्तानां मधुरं मधु।
करोति सूदनं यो हि स एव मधुसूदनः ॥

(२) शोभयतीति —शोभनः [शुभ् णिच्+ल्यु; शोभा बढ़ाने वाला, फलित ज्योतिष मे एक विशिष्ट योग]।

(३) वर्धयतीति—वर्धनः [वृध् णिच्+ल्यु; बढ़ाने वाला]।

(४) तपतीति– तपनः [तप्+ल्यु; तपने वाला, सूर्य]।

(५) लुनातीति लवणः [लूञ्+ल्यु; **सार्वधातुकार्ध०** (३८८) से गुण हो कर अवादेश, काटने वाला—रसविशेष, राक्षसविशेष[1]। अत्र गणे निपातनाद् णत्वम्]।

(६) मदयतीति—मदनः [मद् णिच्+ल्यु; मदमस्त करने वाला, कामदेव]।

(७) रमत इति रमयतीति वा रमणः [रम्+ल्यु; रम् णिच्+ल्यु; आनन्द करने वाला या आनन्दित करने वाला]।

इस गण के अन्य शब्द गणपाठ से समझने चाहियें।

ग्रह् आदि धातुओं से कर्त्ता में णिनिँ प्रत्यय होता है। णिनिँ में आद्य णकार और अन्त्य इकार इत्संज्ञक हैं—'इन्' मात्र शेष रहता है। णकार अनुबन्ध वृद्धिकार्य के लिये तथा आकारान्त धातुओं से युँक् आगम के लिये जोड़ा गया है। इकार अनुबन्ध नकार को **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

गृह्णातीति ग्राही (ग्रहण करने वाला)। ग्रह उपादाने (क्र्या० उभय० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में ग्रह्यादित्वात् प्रकृतसूत्र से णिनिँ प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप तथा णिनिँ के णित्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने से—ग्राहिन्। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७६) तथा **नलोपः०** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने से 'ग्राही' प्रयोग सिद्ध होता है।

तिष्ठतीति स्थायी (ठहरने वाला)। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा णिनिँ, अनुबन्धलोप तथा **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर—स्थायिन्। प्रथमा के एकवचन सुँ में पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से—'स्थायी' प्रयोग सिद्ध होता है।

मन्त्रयत इति मन्त्री (मन्त्रणा करने वाला)। 'मत्रिँ गुप्तभाषणे' इस चौरादिक णिजन्त धातु को इदित्त्वात् नुम् का आगम हो कर 'मन्त्रि' बन जाता है। अब इस से कर्त्ता अर्थ में णिनिँ, अनुबन्धलोप तथा **णेरनिटि** (५२६) से णि का लोप होकर—मन्त्रिन्। प्रथमा के एकवचन में पूर्ववत् 'मन्त्री' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

१. **लवणत्रासितस्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः**—(उत्तरराम० १.५०)।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) निवसतीति निवासी (रहने वाला)। निपूर्वक 'बस निवासे' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से णिनिँ हो कर उपधा को वृद्धि हो जाती है—निवासिन्। सुँ में—निवासी।

(२) उत्सहत इत्युत्साही (उत्साह करने वाला)। उद्पूर्वक 'षह मर्षणे' (भ्वा० आत्मने० अनिट्) धातु से णिनिँ हो कर उपधावृद्धि—उत्साहिन्। सुँ में—उत्साही।

(३) अपराध्यतीति अपराधी (अपराध करने वाला)। अपपूर्वक 'राध वृद्धौ' (दिवा० परस्मै०) धातु से णिनिँ हो कर—अपराधिन्। सुँ में—अपराधी।

इस गण के अन्य उदाहरण गणपाठ से समझने चाहियें।

पच् आदि धातुओं से 'अच्' प्रत्यय हो जाता है। अच् में चकार इत्संज्ञक है, 'अ' मात्र प्रत्यय शेष रहता है। उदाहरण यथा—

पचतीति पचः (जो पकाता है वह अर्थात् पकाने वाला)। यहां 'डुपचँष् पाके' (भ्वा उभय० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में अच् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध-लोप करने से—पच्+अ=पच। प्रथमा के एकवचन में सुँ ला कर—'पचः' प्रयोग सिद्ध होता है। स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् हो कर—'पचा' (पकाने वाली)।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) वक्तीति वचः। वच्+अ=वचः (बोलने वाला)।

(२) वदतीति वदः। वद्+अ=वदः (बोलने वाला)।

(३) चलतीति चलः। चल्+अ=चलः (चलने वाला)।

(४) पततीति पतः। पत्+अ=पतः (गिरने वाला)।

(५) वसतीति वसः। वस्+अ=वसः (रहने वाला)।

इस गण में कुछ शब्द टकार अनुबन्ध के साथ पढ़े गये हैं। यथा—चरट्, देवट्, नदट्, चोरट् आदि। इन के टकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञा हो जाती है, इस प्रकार ये शब्द टित् माने जाते हैं। इन को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्**० (१२४७) सूत्रद्वारा इन से टित्-निबन्धन ङीप् प्रत्यय करना है। यथा—

(६) चरतीति चरः (घूमने वाला)। चर्+अच्=चरः। अब स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'चरी' 'अनुचरी' आदि सिद्ध होता है। इसी तरह—

(७) दीव्यतीति देवः (चमकने वाला, देवता)। दिव्+अच्, लघूपधगुण—देवः। स्त्रियाम्—देवी।

(८) नदतीति नदः (शब्द करने वाला, नद)। नद्+अच्=नदः। स्त्रियाम्—नदी।

(६) चोरयतीति चोरः (चुराने वाला, चोर)। चुर्+णिच्+अच्= चोरः। णिलोप (५२६)। स्त्रियाम्—चोरी ब्राह्मणी।

इस गण के अन्य शब्द गणपाठ से ही समझने चाहियें।

पचादिगण का यद्यपि गणपाठ में परिगणन किया गया है तथापि वस्तुतः वह आकृतिगण है। आकृत्या गण्यत इति आकृतिगणः। आकृति से ही इस गण की पहचान है। तात्पर्य यह है कि जहां-जहां कर्तरि अच् प्रत्यय देखा जाये और उसे विधान करने वाला कोई सूत्र वा वचन न हो तो उसे पचादियों में समझ लेना चाहिये। इस के आकृतिगण होने में निम्नस्थ तीन प्रमाण प्रमुख माने जाते हैं—

(क) आचार्य ने **शिवशमरिष्टस्य करे** (४.४.१४३) तथा **कर्मणि घटोऽठच्** (५.२.३५) सूत्रों में 'कर' और 'घट' ये अच्प्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त किये हैं परन्तु इन का पाठ पचादिगण मे कहीं नहीं पाया जाता। इस से यही सिद्ध होता है कि इस गण का पाठ परिपूर्ण नहीं है, इन गणपठित शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य पचादि शब्द हैं।

(ख) आचार्य ने **यङोऽचि च** (७१८) सूत्रद्वारा अच् प्रत्यय के परे रहते यङ् के लुक् का विधान किया है। परन्तु यङ् से परे अच् प्रत्यय का विधायक कोई वचन नहीं है और न ही इस का गणपाठ में उल्लेख है। इस से यही सिद्ध होता है कि पचादियों का गण में पाठ अपूर्ण है। इन गणपठित शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य पचादि शब्द हैं।

(ग) कात्यायन आचार्य ने **अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्यः** ऐसा एक वार्त्तिक लिखा है। इस से भी गण की अपरिपूर्णता सिद्ध होती है।

इन सब से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अच् प्रत्यय करते समय केवल गण का ही आश्रय नहीं करना चाहिये अपितु इसे आकृतिगण समझ कर निर्वाह करना उचित है। इस से युध्यत इति योधः, स्वयं वृणुते पतिम् इति स्वयंवरा, करोतीति करः, धरतीति धरः, हलस्य धरः—हलधरः, गङ्गाधरः, पयोधरः, भूधरः, जलधरः, वारिधरः, स्मरतीति स्मरः, जातेः स्मरः—जातिस्मरः (पूर्वजन्म को स्मरण करने वाला), आशृणोतीति—आश्रवः (आज्ञाकारी) इत्यादि लोक में प्रचलित अनेक शब्द सिद्ध हो जाते हैं।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८७) **इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः** ।३।१।१३५॥

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः॥

अर्थः—उपधा में इक् प्रत्याहार वाली धातु से तथा ज्ञा, प्री और कॄ धातुओं से 'क' प्रत्यय हो।

व्याख्या—इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः ।५।१। कः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः परश्च**—ये

तीनों अधिकृत हैं। इक् उपधा यस्य स इगुपधः, बहुव्रीहिसमासः। इगुपधश्च ज्ञा च प्री च कॄ च—इगुपध-ज्ञा-प्री-किर्, तस्माद् इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः। समाहारद्वन्द्वः। समाहारे नपुंसकत्वेऽपि ह्रस्वाभावः सौत्रः, ततः 'प्रकृतिवदनुकरणम्भवति' इति प्रकृतिवद्भावाद् **ॠत इद् धातोः** (६६०) इतीरादेशः। अर्थः—(इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः) उपधा में इक् प्रत्याहार वाली तथा ज्ञा, प्री और कॄ (धातोः) धातु से (परः) परे (कः प्रत्ययः) 'क' प्रत्यय हो जाता है।

कृदतिङ् (३०२) से कृत्संज्ञक होने के कारण 'क' प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६६) द्वारा कर्त्ता अर्थ में ही होता है। 'क' में आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण-निषेध तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से ज्ञा के आकार का लोप सिद्ध हो जाता है।

जिस की उपधा अर्थात् अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण इक् (इ, उ, ऋ, लृ) हो उसे इगुपध कहते हैं। यथा—बुध्, क्षिप्, लिख्, कृश् आदि धातु इगुपध हैं। इन से कप्रत्यय के उदाहरण यथा—

बोधति बुध्यत इति वा बुधः (जानने वाला, विद्वान्)। भौवादिक या दैवादिक 'बुध अवगमने' धातु से कर्त्ता में प्रकृतसूत्र से इगुपधत्वात् क प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध के चले जाने पर कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—बुध्+अ=बुध। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है—बुधः।

इसी तरह—कृश्यतीति कृशः। कृश तनूकरणे (कमजोर होना, कृश होना, पतला होना; दिवा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता में क प्रत्यय तथा लघूपधगुण का निषेध हो कर—कृशः (दुबला-पतला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'लिख्' धातु से 'लिखः' (लिखने वाला); 'क्षिप्' धातु से 'क्षिपः' (फेंकने वाला) आदि।

जानातीति—ज्ञः (जानने वाला)। 'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा क प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का लोप हो कर विभक्तिकार्य करने से—'ज्ञः' (पण्डित, जानकार) प्रयोग सिद्ध होता है। न ज्ञः—अज्ञः (मूर्ख)। नञ्तत्पुरुषसमासः।

प्रीणातीति प्रियः (प्रसन्न करने वाला अर्थात् प्यारा)। यहां 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' (क्र्या० उभय० अनिट्) धातु से कप्रत्यय हो कर कित्त्वाद् गुणनिषेध और **अचि श्नुधातु०** (१९९) से ईकार को इयँङ् आदेश करने से—'प्रियः' प्रयोग सिद्ध होता है।

किरति विक्षिपतीति किरः (बिखेरने वाला, सूअर)। यहां 'कॄ विक्षेपे' (तुदा० परस्मै० सेट्) धातु से 'क' प्रत्यय हो कर—कॄ+अ। अब कित्त्व के कारण आर्धधातुकनिबन्धन गुण (३८८) का निषेध हो कर **ॠत इद् धातोः** (६६०) से ॠकार को इर् आदेश हो जाता है—किरः।

ध्यान रहे कि दिव्, चुर् आदि कुछ इगुपध धातुओं का उल्लेख पचादिगण में भी आया है अतः वहां 'क' न हो कर इस का अपवाद 'अच्' ही होगा—देवः, चोरः आदि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८८) **आतश्चोपसर्गे ।३।१।१३६॥**

प्रज्ञः । सुग्लः ॥

अर्थः—उपसर्ग के उपपद रहते आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—आतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । उपसर्गे ।७।१। कः ।१।१। (**इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं)। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है। 'उपसर्गे' यह सप्तम्यन्त पद है। **धातोः** (७६६) के अधिकार में इस प्रकार के सप्तम्यन्त पद **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (६५३) से उपपदसंज्ञक होते हैं और इन उपपदों का सदा पूर्व में प्रयोग होता है—यह सब आगे समासप्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा। अर्थः—(उपसर्गे) उपसर्ग के उपपद रहते (आतः=आदन्तात्) आदन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (कः) 'क' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु से कर्ता अर्थ में कृत्संज्ञक 'क' प्रत्यय हुआ करता है। उदाहरण यथा—

प्रजानातीति प्रज्ञः (अधिक जानने वाला, सियाना, पण्डित)। यहां पर 'प्र' उपसर्गपूर्वक '**ज्ञा अवबोधने**' इस आकारान्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय हो कर अनुबन्ध ककार के लुप्त हो जाने पर **आतो लोप इटि च** (४८६) से धातु के आकार का भी लोप हो जाता है—प्रज्ञ्+अ=प्रज्ञ। सुँ में—प्रज्ञः।

इसी प्रकार—सुग्लायतीति सुग्लः (अत्यन्त थका हुआ, खिन्न) यहा पर सुपूर्वक 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से कप्रत्यय की विवक्षा में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) द्वारा धातु के ऐकार को आकार आदेश होकर कप्रत्यय करने से—सुग्ला+अ। अब पूर्ववत् आकार का लोप करने से सुग्ल्+अ=सुग्ल='सुग्लः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) प्रतिष्ठत इति प्रस्थः (प्र √स्था+क; प्रस्थान करने वाला)। वने प्रस्थः वनप्रस्थः। वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः।

(२) उत्तिष्ठतीति उत्थः (उद् √स्था+क, उठने वाला)। प्रायः समास के अन्त में देखा जाता है। आनन्दोत्थं नयनसलिलम् (मेघदूते); रजांसि समरोत्थानि (रघु० १२.८२); दरीमुखोत्थेन समीरणेन (कुमार० १.८)।

(३) सुम्लायतीति सुम्लः (सु √म्लै+क; बहुत म्लान होने वाला)।

(४) नितरां श्यति नाशयति व्यापारान् इति निशा (नि √शो+क; रात्रि)।

अण्

[लघु०] विधि-सूत्रम्---(७८९) गेहे कः ।३।१।१४४॥

गेहे कर्त्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ॥

अर्थः---ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय हो यदि इस का कर्त्ता गेह अर्थात् घर हो।

व्याख्या---गेहे ।७।१। कः ।१।१। ग्रहः ।५।१। (**विभाषा ग्रहः** से) **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**---ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः---(ग्रहः, धातोः) ग्रह् धातु से (परः) परे (कः) 'क' (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (गेहे) घर अर्थ वाच्य हो तो। 'क' प्रत्यय कृत् होने से कर्त्ता अर्थ में होता है उसी कर्त्ता को 'गेहे' यह निर्दिष्ट करता है। उदाहरण यथा---

'ग्रह्' धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा कप्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप हो जाता है -ग्रह्+अ अब प्रत्यय के कित्त्व के कारण **ग्रहिज्या०** (६३४) सूत्र से धातु के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश हो कर---गृह्+अ=गृह। नपुंसक के एकवचन में---गृहम्। इस का अर्थ है---गृह्णाति धान्यादिकमिति गृहम्। जो धान्य आदि को ग्रहण करता है अर्थात् घर। तात्स्थ्योपाधि से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह गृह में स्थित गृहिणी को भी 'गृहाः' कहते हैं। परन्तु इस अर्थ में गृह-शब्द सदा पुंभूम्नि अर्थात् पुंलिङ्ग के बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्---(७९०) कर्मण्यण् ।३।२।१॥

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ॥

अर्थः---कर्म के उपपद होने पर धातु से परे अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या---कर्मणि ।७।१। अण् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार 'कर्मणि' यह सप्तम्यन्त उपपदसंज्ञक है। अर्थः---(कर्मणि) कर्म के उपपद होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (अण् प्रत्ययः) अण् प्रत्यय हो जाता है।

यह प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक होने के कारण **कर्तरि कृत्** (७६९) द्वारा कर्त्ता अर्थ में ही होता है। अण् में णकार इत्सञ्ज्ञक है, 'अ' मात्र शेष रहता है। अण् के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्त अङ्ग को तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि हो जाती है। किञ्च **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम भी हो जाता है। उदाहरण यथा---

कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (घड़ा बनाने वाला अर्थात् कुम्हार)। यहां पर 'कुम्भ' कर्म के उपपद रहते कृ (डुकृञ् करणे, तना० उ०) धातु से अण् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **अचो ञ्णिति** (१८२) से आर् वृद्धि करने पर---'कार' इस कृदन्त के योग में कुम्भ कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठी विभक्ति आ कर---'कुम्भ ङस्+कार' बना। अब **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर समास

के अवयव सुँप् (ङस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—कुम्भकार । समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा होने के कारण स्वादियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमैकवचन में—कुम्भकारः । इसी प्रकार—

(१) शरं लुनातीति शरलावः [शर काटने वाला; शर+लू+अण्] ।
(२) काण्डं लुनातीति काण्डलावः [डाली को काटने वाला] ।
(३) भाष्यं करोतीति भाष्यकारः [भाष्य करने वाला] ।
(४) सूत्रं करोतीति सूत्रकारः [सूत्र बनाने वाला] ।
(५) सुवर्णं सुवर्णमयं भूषणादिकं करोतीति सुवर्णकारः [सोने के भूषण बनाने वाला, सुनार] ।
(६) ओदनं पचतीति ओदनपाचः [**अत उपधायाः** इत्युपधावृद्धिः] ।
(७) पाणिं गृह्णातीति पाणिग्राहः [वधू के हाथ को ग्रहण करने वाला, वर] ।
(८) नॄन् शंसतीति[1] नृशंसः [मनुष्यों की हिंसा करने वाला, निर्दयी] ।
(९) सार्थं वहतीति सार्थवाहः [टोले का अगुवा; सार्थ √वह्+अण्] ।
(१०) वेदम् अधीत इति वेदाध्यायः [वेद पढ़ने वाला; वेद+अधि √इङ्+अण्] ।
(११) अश्वान् नयतीति अश्वनायः [घोड़ों को चराने वाला; अश्व √नी+अण्; वृद्धि—आयादेश] ।
(१२) कर्त्तारम् अभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायम्[2] [कर्त्ता को प्राप्त होने वाला फल आदि; कर्त्तृ+अभि प्र √इण् + अण्] ।
(१३) चर्चाम् पठतीति चर्चापाठः [वैदिक पाठ विशेष को पढ़ने वाला; चर्चा √पठ्+अण्, **अत उपधायाः** (४५५)] ।
(१४) गा नयतीति गोनायः [गौओं को चराने वाला, ग्वाला] ।
(१५) सूत्रं (प्रयोगानुष्ठानं) धारयतीति सूत्रधारः[3] [नाटक का महाप्रबन्धक] ।
(१६) वारि वहतीति वारिवाहः [मेघ][4] ।
(१७) हव्यं वहतीति हव्यवाहः [अग्नि][5] ।

---

१. शंसतिरत्र हिंसार्थः ।
२. **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (३७६) इत्यत्र यथा ।
३. **नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।**
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥
४. **'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः'** इत्यमरः ।
५. **तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः**
स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् । (किरात० १६.६१)

(१८) आश्रयम् (अधिकरणम्) अश्नातीति आश्रयाशः [जिस स्थान पर रहे उस आश्रय को खाने वाला, अग्नि]।

(१६) अश्वम् आरोहतीति अश्वारोहः [घुड़सवार]।

(२०) कर्णम् (अरित्रम्) धारयतीति कर्णधारः [चप्पू को धारण करने वाला, नाविक]।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम स्वयं यदृच्छा से प्रत्येक स्थान पर अण् का प्रयोग नहीं कर सकते। शिष्टों द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों तक ही हमारी सीमा है। अत एव 'ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति' इत्यादियों में अनभिधान (लोक में शिष्टों का प्रयोग न होने) के कारण अण् का प्रयोग नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्र में अण् के अपवाद 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६१) आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।।

आदन्ताद् धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोऽपवादः। आतो लोपः० (४८६)। गोदः। धनदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे किम्? गोसंदायः।।

अर्थः—कर्म के उपपद रहते उपसर्गरहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो। यह अण् (७६०) का अपवाद है।

व्याख्या—आतः ।५।१। अनुपसर्गे ।७।१। कः ।१।१। कर्मणि ।७।१। (**कर्मण्यण्** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। अविद्यमान उपसर्गो यस्यासौ – अनुपसर्गस्तस्मिन् अनुपसर्गे। बहुव्रीहिसमासः। यहां पञ्चमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग सौत्र है। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' उपपन्न हो जाता है। अर्थः—(कर्मणि) कर्म के उपपद रहते (अनुपसर्गे=अनुपसर्गात्) उपसर्ग से रहित (आतः=आदन्तात्) आकारान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (कः प्रत्ययः) 'क' प्रत्यय हो जाता है। पूर्व-सूत्र **कर्मण्यण्** (७६०) का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

गां ददातीति गोदः [गाय देने वाला]। यहां पर 'गो' कर्म के उपपद रहते 'दा' (डुदाञ् दाने) इस उपसर्गरहित आकारान्त धातु से कर्ता मे 'क' प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८६) से धातु के आकार का भी लोप हो कर 'द' इस कृदन्त के योग में 'गो' कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३ ६५) द्वारा षष्ठीविभक्ति ला कर—गो ङस्+द। अब **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** परिभाषा के कारण सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो कर —गोद। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँ की उत्पत्ति होकर 'गोदः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—धनं ददातीति धनदः (धन देने वाला, कुबेर); कम्बलं ददातीति कम्बलदः (कम्बल देने वाला) रूपों की सिद्धि होती है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

(१) नॄन् पातीति नृपः [मनुष्यों की रक्षा करने वाला, अर्थात् राजा; यहां 'पा रक्षणे' धातु से 'क' प्रत्यय हुआ है]।

(२) भुवं पातीति भूपः [पृथ्वी की रक्षा करने वाला, राजा]।

(३) जलं ददातीति जलदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(४) तोयं ददातीति तोयदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(५) पयो ददातीति पयोदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(६) कृतं जानातीति कृतज्ञः [किये को जानने वाला]। ज्ञा अवबोधने।

(७) मधु पिबतीति मधुपः [मधु अर्थात् पुष्परस को पीने वाला; यहां 'पा पाने' धातु का प्रयोग है]।

(८) बहून् अर्थान् लातीति बहुलम् [बहुत अर्थों को लाने वाला]।

(९) नारं ददातीति नारदः (मेघ)।

(१०) नारं (नरसमूहम्) द्यति (कलहेन अवखण्डयति) इति नारदः [पौराणिक सुप्रसिद्ध देवर्षि नारद]। 'दो अवखण्डने' धातु के ओकार को **आदेच उपदेशे०** (४९३) से आत्व हो जाता है।

(११) पार्ष्णिं त्रायत इति पार्ष्णित्रम् [पीछे रहने वाली सेना]। 'त्रैङ् पालने'।

(१२) अङ्गुलिं त्रायत इति अङ्गुलित्रम् [अङ्गुलि की रक्षा करने वाला, दस्ताना]।

तन्तून् वयतीति तन्तुवायः [तन्तुओं को बुनने वाला अर्थात् जुलाहा]। यहां 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (बुनना) धातु में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती **ह्वा-वा-मश्च** (३.२.२) सूत्र से अण् प्रत्यय ही होता है। धातु के एकार को आत्व (४९३) हो कर युँक् का आगम (७५७) हो जाता है।

अनुपसर्ग इति किम् ? गोसंदायः।

प्रकृतसूत्र में उपसर्गरहित इसलिये कहा है कि उपसर्गयुक्त अवस्था में आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय न हो। यथा—गां संददातीति गोसंदायः। यहां गोकर्मोपपद 'सम्' पूर्वक दा धातु से 'क' न हो कर **कर्मण्यण्** (७९०) से अण् प्रत्यय हो जाता है। अण् के णित्त्व के कारण **आतो युँक्०** (७५७) से युँक् का आगम हो कर पूर्ववत् कर्म में षष्ठी तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास करने से 'गोसंदायः' (गौओं का भली भाँति दान करने वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] वा०—(४७) मूलविभुजादिभ्यः कः।

मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः। कुध्रः॥

अर्थः—मूलविभुज आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'क' प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—मूलविभुजादिभ्यः।४।३। (तादर्थ्ये चतुर्थी)। कः।१।१। अर्थः—

(मूलविभुजादिभ्यः) मूलविभुज आदि शब्दों की सिद्धि के लिये (कः) 'क' प्रत्यय कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः [वृक्षों की जड़ों को टेढ़ा कर देने वाला वा तोड़ने वाला रथ]। यहां 'मूल' कर्मोपपद विपूर्वक 'भुजों कौटिल्ये' (तुदा० प०) धातु से कर्ता कारक में 'क' प्रत्यय, अनुबन्धलोप, किवात् लघूपधगुण का निषेध तथा कृद्योग में षष्ठीविभक्ति ला कर 'मूल आम् विभुज' इस स्थिति में उपपदसमास हो कर 'मूलविभुजः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आकृतिगणोऽयम्। यह मूलविभुजादि आकृतिगण समझना चाहिये। इस का कहीं परिगणन नहीं किया गया। आकृति से ही इस गण की पहचान होती है। जहां कहीं 'क' प्रत्यय किया गया हो पर वह किसी सूत्र या वचन से विधान न किया गया हो तो उसे मूलविभुजादियों के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। 'क' प्रत्यय किये गये की मुख्य पहचान यह होती है कि वहां धातु के आकार का लोप या धातु में गुण-वृद्धि का अभाव हुआ करता है। जैसे 'मूलविभुज' में लघूपधगुण का अभाव है तथा 'दायाद, कलाद' आदि शब्दों में 'दा' धातु के आकार का लोप हुआ है। कहीं-कहीं उपधालोप भी प्राप्त होता है जैसे 'कृतघ्न' आदि में।

मूलविभुजादि के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) महीं धरतीति महीध्रः [मही अर्थात् पृथ्वी को धारण करने वाला, पर्वत]। यहां पर 'मही' कर्म के उपपद रहते 'धृञ् धारणे' (भ्वा० प०) धातु से 'क' प्रत्यय, गुणनिषेध के कारण यणादेश (१५) कृद्योग में षष्ठी तथा उपपदसमास हो कर—महीध्रः।

(२) कुं (पृथ्वीम्) धरतीति कुध्रः [पर्वत]।

(३) कृतं हन्तीति कृतघ्नः[1][किये को न जानने वाला। कृत+हन् अ (क); यहां **गमहनजनखनघसां लोपः०** (५०५) से उपधालोप हो कर **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** (२८७) से हकार को घकार आदेश हो जाता है]।

(४) शत्रुं हन्तीति शत्रुघ्नः[शत्रु को मारने वाला]।

(५) दायम् (रिक्थम्—पित्रादिधनम्) आदत्त इति दायादः [पैतृक धन का भागी]।

(६) अपो बिभर्तीति अभ्रम् [पानी को धारण करने वाला, मेघ]।

(७) प्रियम् आचष्ट इति प्रियाख्यः[2] [प्रिय बात कहने वाला; प्रिय+आ √चक्षिङ्+क। **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४) से चक्षिङ् को ख्याञ् हो जाता है]।

---

१. कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः (पञ्चतन्त्र ४.११)।

२. यस्मिन् शतसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति॥ (महाभाष्ये १.४.३)

(८) स्त्रियम् आचक्षात इति स्त्र्याख्यौ [स्त्री को कहने वाले दो; **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१६४)]।

(९) कलाम् (भागम्) आदत्त इति कलादः [सुवर्णादि का एक भाग हर लेने वाला, सुनार[1]]।

(१०) शिरसि रोहन्तीति शिरोरुहाः [सिर पर उगने वाले, सिर के बाल]।

(११) कौ (पृथिव्यां) मोदत इति कुमुदम् [श्वेतकमल]। मुदँ हर्षे।

(१२) सरसि रोहतीति सरोरुहम् [तालाब में उगने वाला, कमल]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९२) चरेष्टः ।३।२।१६॥**

अधिकरण उपपदे। कुरुचरः॥

अर्थः—अधिकरण के उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय हो।

व्याख्या—चरेः ।५।१। टः ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं) अधिकरणे ।७।१। (**अधिकरणे शेतेः** से; **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** के अनुसार यह उपपद है)। 'चरेः' यह 'चरि' का पञ्चम्यन्त रूप है, यहां चर् धातु से धातुनिर्देश में इक् प्रत्यय जोड़ा गया है—**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे**। अर्थः—(अधिकरणे) अधिकरण के उपपद रहते (चरेः) चर् (धातोः परः) धातु से परे (टः) ट (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'ट' प्रत्यय कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ट' में टकार **चुटू** (१२९) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) से ङीप् प्रत्यय करना है—(कुरुचरी)। यह सब आगे स्पष्ट किया गया है। इस सूत्र के उदाहरण यथा—

कुरुषु चरतीति कुरुचरः (कुरुदेश में घूमने वाला[2])। 'कुरु' अधिकरण के उपपद रहते 'चर गतिभक्षणयोः' (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता कारक में टप्रत्यय हो कर, टकार अनुबन्ध का लोप हो जाता है—कुरु सुप्+चर् अ। अब कृदन्त चर्+अ='चर' से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर अवान्तर सुँप् का लुक् (७२१) हो कर—कुरुचर। प्रातिपदिकत्वेन सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में—'कुरुचरः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(१) मद्रेषु चरतीति मद्रचरः (मद्र प्रदेश में घूमने वाला)।

(२) नक्तं चरतीति नक्तञ्चरः (रात्रि में घूमने वाला)।

(३) निशायां चरतीति निशाचरः (रात्रि में घूमने वाला, राक्षस)।

---

१. **'नाडिन्धमः स्वर्णकारः कलादो रुक्मकारकः'** इत्यमरः।

२. कुरु, मद्र, पाञ्चाल, कश्मीर आदि जनपदवाची शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं।

(४) रात्रौ चरतीति रात्रिचरः[1] (रात्रि में घूमने वाला, राक्षस)।

(५) वने चरतीति वनेचरः[2] (वन में घूमने वाला)।

(६) व्योम्नि चरतीति व्योमचरः (आकाश में घूमने वाला)।

(७) खे (आकाशे) चरतीति खेचरः (आकाश में घूमने वाला, ग्रह-पक्षी आदि)।

(८) वारिणि चरतीति वारिचरः (जल में विचरने वाला, पक्षी आदि)[3]।

प्रत्यय को टित् करने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा मे कुरुचर आदि शब्दों से **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) द्वारा ङीप् (ई) प्रत्यय होकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कुरुचरी' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। यदि प्रत्यय टित् न होता तो **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् हो कर 'कुरुचरा' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९३) भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु च ।३।२।१७॥

भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायेति ल्यबन्तम्—आदायचरः॥

अर्थः—भिक्षा, सेना और आदाय (लेकर)—इन सुबन्तों के उपपद होने पर भी चर् धातु से ट प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम्। चरेः ।५।१। टः ।१।१। (**चरेष्टः** से)। सुँप्सु ।७।३। (**सुँपि स्थः** से वचनविपरिणाम कर के)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत है। अर्थः—(भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु) भिक्षा, सेना और आदाय—इन (सुँप्सु) सुँबन्तों के उपपद रहने पर (च) भी (चरेः, धातोः) चर् धातु से (परः) परे (टः प्रत्यय) 'ट' प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र में अधिकरण के उपपद होने पर चर् से 'ट' विधान किया गया था परन्तु यहां 'अधिकरण' के उपपद रहने की कोई शर्त नहीं है। भिक्षा आदियों में जो विभक्ति सम्भव हो सके लगा लेनी चाहिये। सूत्र के उदाहरण यथा—

भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः (भिक्षार्थ पर्यटन करने वाला)। यहां पर 'भिक्षा' कर्म के उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय, अनुबन्धलोप और कृद्योग में भिक्षा कर्म में षष्ठी विभक्ति आ कर 'भिक्षा ङस्+चर'। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति (ङस्) का लुक् करने से 'भिक्षाचर' शब्द उप-

---

१. यहां पर **रात्रेः कृति विभाषा** (६.३.७१; कृदन्त उत्तरपद परे होने पर रात्रि को विकल्प से मुँम् का आगम हो) सूत्र से पक्ष में मुँम् का आगम हो कर 'रात्रिञ्चरः' रूप भी बनता है।

२. **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (६.३.१३) सूत्र द्वारा यहां अवान्तरविभक्ति (सुँप्) का लुक् नहीं होता। इसी तरह 'खेचरः' में भी जानना चाहिये।

३. **अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते** (महाभारत ३.३१३.१५)।

पन्न हो जाता है। पुनः प्रातिपदिकत्वेन इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में—भिक्षाचरः। स्त्रीलिङ्ग में पूर्ववत् टित्वात् ङीप् हो कर 'भिक्षाचरी' बनेगा। इसी प्रकार—सेनां चरति प्रविशतीति सेनाचरः (सेना में प्रवेश करने वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'आदाय' शब्द आङ्पूर्वक 'डुदाञ् दाने' धातु से पूर्वकाल में क्त्वाप्रत्यय और समासवशात् उसे ल्यप् करने के कारण सिद्ध होता है। स्थानिवद्भाव के कारण **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) से यह अव्यय है। अतः इस से परे सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् समझना चाहिये। 'आदाय' का अर्थ है—'लेकर'। आदाय चरतीति आदायचरः [लेकर घूमने वाला अर्थात् जो प्राप्त होता है उसे लिये-लिये घूमने वाला]। यहां 'आदाय' सुँबन्त के उपपद रहते चर् धातु से टप्रत्यय हो कर पूर्ववत् उपपदसमास करने से 'आदायचरः' प्रयोग सिद्ध होता है।

सह चरतीति सहचरः, स्त्रियाम्—सहचरी[1]। यहां पर कुछ लोग प्रकृतसूत्र में चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थ स्वीकार करते हुए 'ट' प्रत्यय का विधान मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि पचादिगण में 'चरट्' इस प्रकार टित् पढ़ा गया है अतः 'सहचर' में पचाद्यच् मान कर सुँप्सुँपा समास मानना उचित है। टित्त्व (चरट् में) के कारण ङीप् करने पर 'सहचरी' भी उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार शनैश्चरति (पङ्गुत्वाद्) इति 'शनैश्चरः' में भी पचाद्यच् जानना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९४) कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु ।३।२।२०॥

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ॥

अर्थः—हेतु (कारण), ताच्छील्य (तत्स्वभावता), आनुलोम्य (अनुकूलता-आज्ञापालनत्व-वशवर्तिता)—ये तीन अर्थ यदि द्योत्य हों तो कर्म के उपपद होने पर 'डुकृञ्' धातु से परे ट प्रत्यय हो।

व्याख्या—कृञः ।५।१। हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु ।७।३। टः ।१।१। (**चरेष्टः** से) कर्मणि ।७।१। (**कर्मण्यण्** से) **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। हेतुश्च ताच्छील्यञ्च आनुलोम्यं च हेतु-ताच्छील्यानुलोम्यानि, तेषु—हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु) हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य—ये अर्थ द्योत्य हों तो (कर्मणि) कर्म के उपपद रहते (कृञः धातोः) 'डुकृञ् करणे' धातु से (परः) परे (टः) ट (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'ट' प्रत्यय तो कृत्संज्ञक होने से कर्ता अर्थ में ही होगा परन्तु हेतु आदि अर्थ ऊपर से द्योतित या भासित होंगे। उदाहरण यथा—

हेतु अर्थ के द्योत्य में—

शोककरी कन्या (शोक या दुःख को उत्पन्न करने वाली अर्थात् शोक का कारण कन्या)। पुष्टिकरं रसायनम् (पुष्टि करने वाला अर्थात् पुष्टि का कारण

---

१. प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् (रघु० ९.५७)।

रसायन)। अनर्थकरम् आलस्यम् (अनर्थ करने वाला अर्थात् अनर्थ का कारण आलस्य)। शोककरी अविद्या (शोक का कारण अविद्या)। बोधकरी व्याख्या। लज्जाकरः स्वजनविरोधः। शैथिल्यकरोऽतिसारः (शैथिल्य का कारण अतिसार रोग)। उन्नतिकरः सज्जनसंगमः। इत्यादियों में 'शोक' आदि कर्म के उपपद रहते 'कृ' धातु से हेतु के द्योत्य होने पर कर्त्ता कारक मे टप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से कृ के ऋकार को गुण रपर तथा कृद्योग में षष्ठी के लाने पर 'शोक ङस्+कर'। इस स्थिति में **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास हो कर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'शोककरः' सिद्ध होता है। यदि विशेष्य स्त्रीलिङ्ग मे होगा तो 'शोककर' शब्द से टित्वाद् **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) सूत्र द्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर विभक्तिकार्य हो जायेगा—शोककरी कन्या (शोकं करोतीति शोककरी, शोकहेतुरित्यर्थः)[1]।

ताच्छील्य—तत्स्वभावता द्योत्य होने में—

श्राद्धकरः (श्राद्धं करोति तच्छील इति श्राद्धकरः) अर्थात् श्राद्ध करना जिस का स्वभाव है वह। यहां भी श्राद्धकर्म के उपपद रहते पूर्ववत् टप्रत्यय हो जाता है। इसी प्रकार—तापकरः सूर्यः। आह्लादकरी चन्द्रिका। दयाकरः सज्जनः। दुःखकरो मूर्खः।

आनुलोम्य-वशवर्तिता द्योत्य होने मे—

वचनं करोतीति वचनकरः सेवकः (वचनों को मानने वाला अर्थात् आज्ञाकारी सेवक)। वाक्यकरः। आज्ञाकरः। आदि। सर्वत्र टप्रत्यय हो कर पूर्ववत् सिद्धि जाननी चाहिये।

हेतु के द्योत्य में मूलोक्त उदाहरण—

यशस्करी विद्या [यशः करोतीति—यशस्करी, यश को करने वाली अर्थात् यश का कारण विद्या]। यहां 'यशस्' कर्म के उपपद रहते प्रकृतसूत्र से 'कृ' धातु से परे हेतु के द्योत्य में टप्रत्यय, अनुबन्धलोप, आर्धधातुक के परे होने से गुण रपर तथा कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से कर्म यशस् मे षष्ठी लाने पर—यशस् ङस्+कर। इस अवस्था में **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) मे सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—यशस्+कर। अब लुप्त हुए सुँप् को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान कर सकार के पदान्त हो जाने से **ससजुषो रुँः** (१०५) से सकार को रुँ, अनुबन्धलोप तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग करने पर 'यशः+कर'। अब यहां **कुप्वोः ≍क≍पौ च** (९८) से विसर्ग को पाक्षिक जिह्वामूलीय प्राप्त होते हैं। इस पर विसर्ग को सकार आदेश विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. जन्मतः स्वजनशोककारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥ (रथोद्धतावृत्तम्)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९५) अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६।।**

आद् उत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकरः । वचनकरः ।।

अर्थः—ह्रस्व अकार से परे अनव्यय के विसर्ग को समास में नित्य सकार आदेश हो जाता है यदि कृ, कम्, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी इन में से कोई परे हो तो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीषु ।७।३। अनव्ययस्य ।६।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से) । सः ।१।१। (**सोऽपदादौ** से; सकारादकार उच्चारणार्थः) । समासे ।७।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रिया-विशेषणम् (**नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य** से) । कृ च कमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कुर्णी च —कृ-कमि—कर्ण्यः, तेषु । इतरेतरद्वन्द्वः । न अव्ययस्य अनव्ययस्य, नञ्-तत्पुरुषः । कृ-कमि—आदि में कृ और कमि (कम्) दो धातु हैं, शेष प्रातिपदिक हैं । अर्थः—(अतः) अत् से परे (अनव्ययस्य) अव्ययभिन्न के (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (समासे) समास में (नित्यम्) नित्य (सः) स् आदेश हो जाता है (कृ-कमि—कर्णीषु) कृ, कम् कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इन में से कोई परे हो तो—

यहां विसर्ग को नित्य सकार करने की चार शर्तें हैं—

(१) वह विसर्ग अनव्यय अर्थात् अव्ययभिन्न का अवयव हो ।

(२) वह विसर्ग अत् से परे होना चाहिये ।

(३) विसर्ग से परे कृ, कम्, कंस आदियों में से कोई होना चाहिये ।

(४) उपर्युक्त कार्य समास में ही होना चाहिये ।

'यशः+कर' यहां विसर्ग यशस् शब्द का अवयव है जो स्पष्टतः अव्यय नहीं अतः पहली शर्त पूरी है । विसर्ग अत् से परे विद्यमान है, अतः दूसरी शर्त पूरी है । विसर्ग से परे 'कृ' धातु का प्रयोग है अतः तीसरी शर्त पूरी है । **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास किया गया है अतः चौथी शर्त भी पूरी है । इस प्रकार विसर्ग को प्रकृतसूत्र से नित्य सकार आदेश हो कर 'यशस्कर' बना । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) सूत्र से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप हो कर समासत्वात् प्राति-पदिकसंज्ञा होने से विभक्तिकार्य करने पर 'यशस्करी' (विद्या) प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रकृतसूत्र के अन्य उदाहरण—

कृ —अयस्करः (लोहार) ।

कम् —अयस्कामः (लोहे को चाहने वाला), पयस्कामः (दूध को चाहने वाला) ।

कंस —अयस्कंसः (लोहे का प्याला), पयस्कंसः (दूध का प्याला) ।
कुम्भ—अयस्कुम्भः (लोहे का घड़ा), पयस्कुम्भः (दूध का घड़ा) ।
पात्र —अयस्पात्रम् (लोहे का पात्र), पयस्पात्रम् (दूध का पात्र) ।
कुशा—अयस्कुशा (लोहे से युक्त कुशा[1]) ।
कर्णी—अयस्कर्णी (लोहे की तरह काले या कठोर कानों वाली) ।

पहली शर्त इसलिये है कि अव्यय के विसर्ग को सकार न हो जाये । यथा—पुनःकार, श्वःकारः, स्वःकामः, अन्तःकरणम् ।

दूसरी शर्त इसलिये है कि अत्‌भिन्न से परे सकारादेश न हो जाये । यथा—गीःकारः (गिरं करोति-व्याकरोतीति गीःकारः), धूःकारः (धुरं करोतीति धूःकारः) ।

तीसरी शर्त इसलिये है कि 'पयःपानम्' आदि में सकार आदेश न हो जाये ।

चौथी शर्त इसलिये है कि समास के विना यह कार्य न हो जाये । यथा—यशः कामयते । पयः कामयते ।[2]

अभ्यास (२)

(१) हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य का विवेचन करते हुए प्रत्येक के तीन तीन उदाहरण दीजिये ।

(२) 'कुम्भकारः' के लौकिक और अलौकिक विग्रहों में कुम्भशब्द से परे विभक्ति का अन्तर क्यों हो जाता है ?

(३) 'उपपद' का क्या अभिप्राय है ? कृदन्तप्रकरण में इस की उपयोगिता पर एक टिप्पण लिखिये ।

(४) कृदन्तप्रकरण के अवान्तर भेदों पर लघुकौमुदी के परिप्रेक्ष्य में एक टिप्पण लिखिये ।

(५) निम्नस्थ प्रत्ययों में अनुबन्धों के जोड़ने का क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण स्पष्ट करें—

ण्वुल्, णिनिँ, क, अण्, ट ।

(६) 'कुम्भकारः' आदि में कृदन्त से सुँप् उत्पन्न होने से पहले ही कैसे समास हो जाता है ?

---

१. यज्ञ उद्‌गातॄणां स्तोत्रगणनार्था उदुम्बरकाष्ठमयी शलाका 'कुशा' इत्युच्यते । शाकपार्थिवादित्वात् सहितशब्दस्य लोपः । अयसः कुशेति षष्ठीसमासस्तु न, जानपदकुण्ड० (४.१.४२) इति ङीषापत्तेरिति श्रीसभापतिशर्मोपाध्यायाः ।

२. इस सूत्र में नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य (८.३.४५) से 'अनुत्तरपदस्थस्य' का भी अनुवर्त्तन होता है अतः पांचवीं शर्त यह भी है कि विसर्ग उत्तरपद में स्थित नहीं होने चाहियें । यही कारण है कि उपर्युक्त चार शर्तों के पूर्ण होने पर भी 'परमपयःकामः' आदि में विसर्ग को सकारादेश नहीं होता । लघुकौमुदी में वरदराज ने बालकों के लिये विशेष उपयोगी न समझ कर इस का उल्लेख नहीं किया ।

(७) पचादियों और मूलविभुजादियों को आकृतिगण मानने पर एक विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

(८) निम्नस्थ के प्रकृति-प्रत्यय, विग्रह और विधायकसूत्र लिखें—
वेदाध्यायः, शत्रुघ्नः, आदायचरः, तन्तुवायः, कुशः, गोदः, स्थायी, अश्वारोहः, सहचरः, श्राद्धकरः, ज्ञः, महीध्रः, दायादः, किरः, उरगः, गोनायः।

(९) 'गृहम्' और 'गृहाः' में परस्पर क्या अन्तर है?

(१०) 'सोमन्दायः' में कप्रत्यय क्यों नहीं हुआ?

(११) 'कृतघ्नः' और 'कृतज्ञः' का विग्रह लिखते हुए सप्रमाण प्रत्यय का निर्देश कीजिये।

(१२) 'आदित्यं पश्यति' इत्यादि में 'कर्मण्यण्' की प्रवृत्ति होगी या नहीं? सहेतुक लिखें।

(१३) ससूत्र सिद्धि करें—
जनार्दनः, कुम्भकारः, बुधः, यशस्करी, कुरुचरः, गृहम्, प्रियः, स्थायी, मूलविभुजः, प्रज्ञः, भिक्षाचरः, कारकः, नन्दनः, हर्ता।

(१४) सूत्रों की व्याख्या करें—
कृञो हेतुताच्छील्या०, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, आतश्चोपसर्गे, अतः कृ-कमि-कंस०, आतोऽनुपसर्गे कः, कर्मण्यण्।

(१५) तृच्, अच्, अण्, क, ण्वुल्, ट, णिनि—इन प्रत्ययों के विधायक सूत्र लिखते हुए प्रत्येक प्रत्यय के पांच पांच उदाहरण विग्रहप्रदर्शनपूर्वक लिखिये।

——:०:——

[लघु०] विधिसूत्रम्— (७९६) एजेः खश् ।३।२।२८॥

[कर्मण्युपपदे] ण्यन्ताद् एजेः खश् स्यात्॥

अर्थः—कर्म उपपद हो तो ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कर्मणि ।७।१। [कर्मण्यण् से] एजेः ।५।१। खश् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। एजृ कम्पने (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से **हेतुमति च** (७००) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर 'एजि' बनता है उस का पञ्चम्येकवचनान्त 'एजेः' रूप यहां निर्दिष्ट किया गया है। इस में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा०) वाला इक् प्रत्यय समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।[1] अर्थः—

---

१. खश् को शित् इसलिये किया गया है कि उस की सार्वधातुकसंज्ञा हो जाये जिस से आर्धधातुक परे न होने पर **णेरनिटि** (५२९) द्वारा हेतुमण्णिच् का लोप न हो सके। यदि शुद्ध एज् धातु का ग्रहण अभीष्ट होता तो खश् को शित् करने की आवश्यकता न होती, तब उस का यहां कुछ उपयोग न हो सकता।

(कर्मणि) कर्म के उपपद होने पर (एजे:,धातो:) ण्यन्त एज् धातु से (परः) परे (खश्) खश् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। यह सूत्र कर्मण्यण् (७६०) का अपवाद है।

खश् प्रत्यय कृत्संज्ञक है अतः कर्त्तरि कृत् (७६६) की व्यवस्थानुसार कर्त्ता में होगा। 'खश्' में हलन्त्यम् (१) द्वारा शकार तथा लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा खकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं 'अ' मात्र शेष रहता है। इसे शित् करने का प्रयोजन तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञा करना तथा खित् करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण मुँम् आगम आदि करना है जो आगे सिद्धि में स्पष्ट है।

जनम् एजयतीति जनमेजयः [लोगों को कंपा देने वाला, परीक्षित्-पुत्र]। यहां जनकर्मोपपद ण्यन्त एजृ॑ कम्पने (भ्वा० प० सेट्) अर्थात् 'एजि' धातु से प्रकृत-सूत्रद्वारा कर्त्ता में खश् प्रत्यय, खकार-शकार अनुबन्धों का लोप, शित्त्व के कारण प्रत्यय की सार्वधातुकसंज्ञा (३८६), कर्त्तरि शप् (३८७) द्वारा एजि से परे शप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा कृद्योग में षष्ठी विभक्ति लाने पर—जन ङस्+एजि अ अ। अब दोनों अकारों को अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश, सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः (३८८) से धातु के इकार को गुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से एकार को अय् आदेश हो जाता है—जन ङस्+एजय। पुनः उपपदमतिङ् (९५४) से उपपद समास कर सुँब्लुक् हो जाता है—जन+एजय। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९७) अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम् ।६।३।६६॥

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुँमागमः स्यात् खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य। शित्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः॥

अर्थः—अरुस् (मर्मस्थान), द्विषत् (शत्रु) तथा अजन्त शब्दों को मुँम् का आगम हो जाता है खिदन्त उत्तरपद परे हो तो, परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता।

व्याख्या—अरुर्द्विषदजन्तस्य ।६।१। मुँम् ।१।१। खिति ।७।१। अनव्ययस्य ।६।१। (खित्यनव्ययस्य से)। उत्तरपदे ।७।१। (अलुगुत्तरपदे से अधिकृत है)। अच् अन्तो यस्य सोऽजन्तः, बहुव्रीहिसमासः। अरुश्च द्विषच्च अजन्तश्च अरुर्द्विषदजन्तं तस्य= अरुर्द्विषदजन्तस्य। समाहारद्वन्द्वः। ख् इद् यस्य स खित्, तस्मिन्=खिति। बहुव्रीहिसमासः। 'खिति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'खिदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है। अर्थः—(खिति= खिदन्ते) खित् प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे (उत्तरपदे) उत्तरपद के परे होने पर (अरुर्द्विषदजन्तस्य) अरुस्, द्विषत् तथा अजन्त शब्दों का अवयव (मुँम्) मुँम् आगम हो जाता है (अनव्ययस्य) परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता। मुँम् में उँकार उच्चारणार्थ तथा अन्त्य मकार हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञक है। मित् होने से यह आगम मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) परिभाषा के अनुसार अन्त्य अच् से परे तथा उस का अन्त्यावयव समझा जायेगा।

'जन+एजय' यहां उपपदसमास में 'एजय' यह खिदन्त उत्तरपद है क्योंकि

इस के अन्त में खश् यह खित् प्रत्यय किया गया है। अतः 'जन' इस अजन्त शब्द को प्रकृतसूत्र से मुँम् का आगम होकर मकार अनुबन्ध का लोप करने से—जनम्+एजय=जनमेजय हुआ। अब समास के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँ विभक्ति लाने से 'जनमेजयः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—शत्रुम् एजयतीति शत्रुमेजयः (शत्रु को कंपाने वाला); अङ्गम् एजयतीति अङ्गमेजयः (अङ्ग को कंपाने वाला); भ्रातरम् एजयतीति भ्रातृमेजयः (भाई को कंपाने वाला); वृक्षम् एजयतीति वृक्षमेजयः (वृक्ष को कंपाने वाला) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अरुस् का उदाहरण—अरुः (मर्मस्थानम्) तुदति पीडयतीति अरुन्तुदः (मर्मस्थल को पीडित करने वाला)। यहां अरुस् कर्म के उपपद रहते तुद् धातु से **विध्वरुषोस्तुदः** (३.२.३५) से खश् प्रत्यय तथा उस के सार्वधातुक होने से शविकरण हो कर दोनों अकारों को पररूप हुआ है। अब उपपद समास में खिदन्त 'तुद' इस उत्तरपद के परे रहते प्रकृतसूत्र से अरुस् के अन्त्य अच् से परे मुँम् का आगम हो कर **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त सकार का लोप हो जाता है—अरुम्+तुद। पदान्त मकार को अनुस्वार और अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने से—'अरुन्तुदः, अरुंतुदः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

द्विषत् का उदाहरण—द्विषन्तं शत्रुं तापयतीति द्विषन्तपः (शत्रु को तपाने वाला)। यहां द्विषत् कर्म के उपपद रहते **द्विषत्परयोस्तापेः** (३.२.३९) से ण्यन्त तप् अर्थात् तापि धातु से खच् प्रत्यय, **खचि ह्रस्वः** (६.४.९४) से उपधा को ह्रस्व तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप कर उपपदसमास में द्विषत् के अन्त्य अच् से परे प्रकृतसूत्र से मुँम् का आगम हो जाता है—द्विषम्त्+तप। अब पूर्ववत् संयोगान्तलोप तथा मकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने से 'द्विषन्तपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रकृतसूत्र में 'अनव्ययस्य' की अनुवृत्ति लाई गई है अतः खिदन्त उत्तरपद परे होने पर भी अव्यय को मुँम् का आगम नहीं होता। यथा—आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामन्या रात्रिः [अपने को दिन समझने वाली रात्रि]। यहां पर 'दिवा' शब्द अव्यय है, अतः 'मन्य' इस खिदन्त उत्तरपद के परे होने पर भी इसे मुँम् का आगम नहीं हुआ [मन् धातु से **आत्ममाने खश् च** (८०५) द्वारा खश् प्रत्यय हो कर श्यन् विकरण करने से 'मन्य' उपपन्न होता है]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९८) प्रियवशे वदः खच्।३।२।३८॥

प्रियंवदः। वशंवदः॥

अर्थः—'प्रिय' वा 'वश' कर्म के उपपद होने पर वद् (बोलना) धातु से खच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रियवशे।७।१। वदः।५।१। खच्।१।१। कर्मणि।७।१। (**कर्मण्यण्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। प्रियश्च वशश्च प्रियवशम्, तस्मिन्=प्रियवशे; समाहारद्वन्द्वः। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार

मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप्, विँच्

'प्रियवशे' उपपद है। अर्थः—(प्रियवशे कर्मणि) प्रिय या वश कर्म के उपपद होने पर (वदः, धातोः) वद् धातु से (परः) परे (खच् प्रत्ययः) खच् प्रत्यय होता है।

यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। खच् प्रत्यय में **लशक्वतद्धिते** (१३६) से खकार तथा **हलन्त्यम्** (१) से चकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अ' मात्र शेष रहता है। खकार अनुबन्ध मुँम् आगम के लिये तथा चकार अनुबन्ध **खचि ह्रस्वः** (६.४.६४) में उपयोग के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

प्रियं वदतीति प्रियंवदः [प्रिय वचन बोलने वाला अर्थात् मधुरभाषी]। यहां 'प्रिय' कर्म के उपपद रहते प्रकृतसूत्रद्वारा वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में खच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप तथा कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से कर्म में षष्ठीविभक्ति ला कर—'प्रिय ङस्+वद् अ' हुआ। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर समास के अन्तर्गत सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—प्रिय+वद। पुनः 'वद' इस खिदन्त उत्तरपद के परे होने से 'प्रिय' इस अजन्त शब्द को **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से मुँम् का आगम हो कर पदान्त में मकार को अनुस्वार तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'प्रियंवदः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—वशम् आयत्तमात्मानं वदतीति वशंवदः [अपनी आयत्तता अर्थात् अधीनता को कहने वाला, वशवर्त्ती, आज्ञाकारी] प्रयोग की सिद्धि होती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (७९९) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५॥

मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप्, विँच्—एते प्रत्यया धातोः स्युः ॥

अर्थः—धातु से परे मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप् और विँच् प्रत्यय हों।

व्याख्या—अन्येभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम्। दृश्यन्ते इति क्रियापदम्। मनिँन्-क्वनिँब्वनिँपः ।१।३। (**आतो मनिँन्क्वनिँब्वनिँपश्च** से) विँच् ।१।१। (**विँजुपे छन्दसि** से) धातुभ्यः ।५।३। (**धातोः** अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है) प्रत्ययाः ।१।३। पराः ।१।३। (**प्रत्ययः परश्च** इन दोनों अधिकारों का वचनविपरिणाम हो जाता है) अर्थः—(अन्येभ्यः, अपि, धातुभ्यः) अन्य धातुओं से भी (पराः) परे (मनिँन्-क्वनिँप्वनिँपः, विँच्) मनिँन् क्वनिँप् वनिँप् और विँच् (प्रत्ययाः) प्रत्यय (दृश्यन्ते) देखे जाते हैं।

अष्टाध्यायी में इस से पिछले **आतो मनिँन्क्वनिँब्वनिँपश्च** (३.२.७४) सूत्र में आकारान्त धातुओं से परे वेद में मनिँन् आदि प्रत्यय विधान किये गये हैं; अब यहां अन्य धातुओं से भी उन का लोक में विधान किया जा रहा है। आचार्य ने यहां 'दृश्यन्ते' (देखे जाते हैं) का प्रयोग किया है। अतः शिष्टग्रन्थों में जैसे-जैसे [उपपद-पूर्वक या विना उपपद के] इन के प्रयोग उपलब्ध होते हैं वैसे-वैसे उन का साधुत्व प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है। अपनी ओर से नये नये शब्द बना कर इन प्रत्ययों का प्रयोग वर्जित है।

मनिँन् प्रत्यय में अन्त्य नकार अनुबन्ध है, इँकार उच्चारणार्थ है; 'मन्' मात्र अवशिष्ट रहता है। नकार अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिये लगाया गया है।

क्वनिँप् प्रत्यय में आद्य ककार तथा अन्त्य पकार अनुबन्ध हैं, इँकार उच्चारणार्थ है। 'वन्' मात्र शेष रहता है। गुण आदि के निषेध के लिये प्रत्यय को कित् किया गया है। पित् करने का प्रयोजन **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) द्वारा तुँक् का आगम तथा **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) से प्रत्यय को अनुदात्त करना है।

वनिँप् प्रत्यय का 'वन्' शेष रहता है। पकार अनुबन्ध पूर्ववत् तुँक् आगम के लिये तथा प्रत्यय के अनुदात्त स्वर के लिये है।

विच् प्रत्यय में चकार अनुबन्ध स्वर के लिये तथा इँकार उच्चारणार्थ है, 'व्' मात्र शेष रहता है। वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। प्रत्यय लाने का फल कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादियों की उत्पत्ति करना है।

प्रथम प्रत्यय मनिँन् का उदाहरण यथा—

सुशर्मा। सुष्ठु शृणाति हिनस्तीति सुशर्मा [अच्छी तरह हिंसा करने वाला]। यहां पर 'सु' के उपपद रहते शॄ हिंसायाम् (क्र्या० परस्मै० सेट्) धातु से प्रकृतसूत्र-द्वारा कर्ता में मनिँन् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से—सु शॄ+मन्। अब यहां **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से मन् को इट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(८००) नेड् वशि कृति ।७।२।८॥**

वशादेः कृत इण्न स्यात्। शॄ हिंसायाम्—सुशर्मा। प्रातरित्वा॥

अर्थः—वश्प्रत्याहार जिस के आदि में हो ऐसे कृत्संज्ञक प्रत्यय को इट् आगम न हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। वशि ।७।१। कृति ।७।१। 'वशि' यह 'कृति' का विशेषण है। वश् प्रत्याहार होने से अल् है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'वशादौ कृति' बन जाता है। 'वशि' और 'कृति' दोनों में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग सौत्र कार्य है, अतः 'वशादौ कृति' का 'वशादेः कृतः' समझ लेना चाहिये। अर्थः—(वशि कृति—वशादेः कृतः) वशादि कृत् का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस कृत्प्रत्यय के आदि में वश् प्रत्याहार [व्, र्, ल् तथा वर्गों के तृतीय चतुर्थ और पञ्चम वर्ण] हो उसे इट् का आगम नहीं होता। उदाहरण यथा—

ईश्+वर=ईश्वरः। यहां **स्थेशभासपिसकसो वरच्** (३.२.१७५) सूत्र से वरच् (वर) प्रत्यय किया गया है यह वशादि कृत् है अतः **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का प्रतिषेध हो जाता है।

दीप्+र=दीप्रः। यहां दीप् धातु से **नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः** (३.२.१६७) सूत्र से 'र' प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः वशादि कृत् है अतः इसे प्राप्त इट् आगम का निषेध हो जाता है।

याच्+नङ्=याच्+ना=याच्ञा। यहां **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०) सूत्र से भाव में नङ् प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः वशादि कृत् है, अतः इसे इट् आगम का प्रतिषेध हो जाता है। बाद में श्चुत्व और टाप् हो कर रूप सिद्ध होता है।

यहां प्रकृत में 'सुशृ+मन्' इस स्थिति में मनिन् प्रत्यय वशादि कृत् है अतः इसे प्राप्त इडागम का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है। अब आर्धधातुक मनिँन् के परे रहते **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से शृ के ऋकार को अर् गुण हो कर उपपद समास करने से 'सुशर्मन्' शब्द बनता है। पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया पूर्वार्धगत 'यज्वन्' या 'ब्रह्मन्' शब्द की तरह जाननी चाहिए। इस प्रकार सुँ में—'सुशर्मा' रूप सिद्ध हो जाता है।

दूसरे प्रत्यय क्वनिँप् का उदाहरण—

प्रातरित्वा। प्रातर् एति गच्छतीति प्रातरित्वा [प्रातःकाल जाने वाला]। यहां पर 'प्रातर्' अव्यय के उपपद रहते इण् गतौ (अदा० परस्मै० अनिट्) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से क्वनिँप् प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो जाता है—प्रातर्+इ+वन्। क्वनिँप् के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। अब पित् क्वनिँप् के परे होने पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से 'इ' को तुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास करने से 'प्रातरित्वन्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया पूरी तरह 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्रातरित्वन् [प्रातःकाल जाने वाला]

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	प्रातरित्वा	प्रातरित्वानौ	प्रातरित्वानः
द्वितीया	प्रातरित्वानम्	"	प्रातरित्वनः
तृतीया	प्रातरित्वना	प्रातरित्वभ्याम्	प्रातरित्वभिः
चतुर्थी	प्रातरित्वने	"	प्रातरित्वभ्यः
पञ्चमी	प्रातरित्वनः	"	"
षष्ठी	"	प्रातरित्वनोः	प्रातरित्वनाम्
सप्तमी	प्रातरित्वनि	"	प्रातरित्वसु
सम्बोधन	हे प्रातरित्वन्!	हे प्रातरित्वानौ!	हे प्रातरित्वानः!

तीसरे प्रत्यय वनिँप् का उदाहरण—

विजावा। विजायत इति विजावा[1]। यहां 'वि' उपसर्ग के उपपद रहते जन्

1. **स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा**—(ऋग्वेद ३.१.२३)। पुत्रपौत्रादिरूपेण स्वयं विजायते प्रसूयत इति विजावा।

[जनीँ प्रादुर्भावे, दिवा० आ० सेट्] धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) से वनिँप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'वि+जन्+वन्'[1]। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०१) विँड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ।६।४।४१।।

अनुनासिकस्यात् स्यात् । विजायत इति विजावा । ओणृँ अपनयने—अवावा । विच्—रुष रिष हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।।

अर्थः—विट् या वन् प्रत्यय परे हो तो अनुनासिक वर्ण को आकार आदेश हो।

व्याख्या—विँड्-वनोः ।७।२। अनुनासिकस्य ।६।१। आत् ।१।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । विँट् च वन् च विँड्वनौ, तयोः=विँड्वनोः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'अनुनासिकस्य' यह अङ्गस्य का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा । **अर्थ**.—(विँड्-वनोः) विँट् वा वन् प्रत्ययों के परे होने पर (अनुनासिकस्य=अनुनासिकान्तस्य) अनुनासिकान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (आत्) दीर्घ आकार आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से यह आदेश अनुनासिकान्त अङ्ग के अन्त्य अल् अर्थात् अनुनासिक को ही होता है[2]।

विँट् प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक को आकार आदेश के उदाहरण वेद में ही मिलते हैं—गोजाः, अब्जाः, गोषाः, बिलखाः, कूपखाः, दधिक्राः, अग्रेगाः आदि । इन में **जनसनखनक्रमगमो विँट्** (३.२.६७) सूत्र से विँट् प्रत्यय होता है। इन उदाहरणों की सिद्धि सिद्धान्तकौमुदी के वैदिकप्रकरण मे देखें । यहां प्रकृत में वन् का उदाहरण प्रस्तुत है—

'वि+जन्+वन्' यहां वन् प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से जन् के अनुनासिक नकार के स्थान पर आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ तथा अन्त में उपपदसमास करने पर 'विजावन्' शब्द निष्पन्न हो जाता है। समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण अब इस से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस की समग्र सुँबन्तप्रक्रिया 'राजन्' शब्द की तरह जाननी चाहिये । विजावा, विजावानौ, विजावानः आदि ।

वन् का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण—

अवावा । ओणति अपनयति हरतीति अवावा [चुराने वाला, दूर करने वाला अपहरण करने वाला] । यहां ओण् (ओणृँ अपनयने, भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता में **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से वनिप् प्रत्यय करने से 'ओण्+वन्' हुआ । अब वन् आर्धधातुक को इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु **नेड् वशि कृति**

---

१. इट् का निषेध **नेड् वशि कृति** (८००) से करना नहीं भूलना चाहिये ।

२. अत एव लघुकौमुदीकार वरदराज ने इस सूत्र की वृत्ति में तदन्तविधि न दिखा कर सीधा फलितार्थ ही दे दिया है।

(८००) से उस का निषेध हो जाता है। पुनः **विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्** (८०१) सूत्र से अनुनासिक णकार को आकार आदेश हो कर– 'ओ आ+वन्' इस स्थिति में **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्र से ओकार को अव् आदेश करने से 'अवावन्' यह कृदन्त रूप निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया 'राजन्' शब्द की तरह होती है—अवावा, अवावानौ, अवावानः। अवावानम्, अवावानौ, अवाव्नः आदि।

चतुर्थ प्रत्यय विच् के उदाहरण यथा—

रोट्, रेट्। रोषति हिनस्तीति रोट्, रेषति हिनस्तीति रेट् [हिंसा करने वाला]। यहां रुष् और रिष् (रुष रिष हिंसायाम्; भ्वा० परस्मै० सट्) धातुओं से कर्त्ता अर्थ मे **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) से विच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से रुष्+व्, रिष्+व्। अब **अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१७८) से व् की अपृक्तसंज्ञा हो कर **वेरपृक्तस्य** (३०३) से उस का लोप हो जाता है रुष्, रिष्। पुनः प्रत्ययलक्षणद्वारा उस लुप्त विँच् आर्धधातुक प्रत्यय को परे मान कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से दोनों रूपों में लघूपधगुण करने पर—'रोष्, रेष्' ये दो कृदन्त शब्द निष्पन्न होते हैं। कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँबन्तप्रक्रिया में सुँ प्रत्यय लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से सुँ का लोप तथा पदान्त मे जश्त्व (६७) और चर्त्व (१४६) करने से—'रोट्, रोड्; रेट्, रेड्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—

सुगण्। सुष्ठु गणयतीति सुगण् [अच्छा गिनने वाला]। यहां 'सु' उपसर्ग के उपपद रहते गणि[1] (गण संख्याने चुरा०) इस चौरादिक ण्यन्त धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से विँच् प्रत्यय, उस का पूर्ववत् सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे पुनः मान कर **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप तथा अन्त में उपपदसमास करने से 'सुगण्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा– सुगण्, सुगणौ, सुगणः। सुगणम्, सुगणौ, सुगणः। सुगणा, सुगण्भ्याम्, सुगणिभः। सुगणे, सुगण्भ्याम्, सुगण्भ्यः। सुगणः, सुगण्भ्याम्, सुगण्भ्यः। सुगणः, सुगणोः, सुगणाम्। सुगणि, सुगणोः, सुगण्ठ्सु-सुगण्ट्सु-सुगण्सु[2]। हे सुगण्!, हे सुगणौ!, हे सुगणः!।

---

१. चौरादिक 'गण संख्याने' धातु अदन्त है अतः इस से **सत्याप-पाश-रूप०** (६१४) सूत्रद्वारा स्वार्थिक णिच् करने पर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है। पुनः **अत उपधायाः** (४५५) से वृद्धि करने में अल्लोप स्थानिवत् (६९६) हो कर वृद्धि को रोक देता है। इस का स्पष्टीकरण हम चुरादिगण में इसी धातु पर पीछे कर चुके हैं वहीं देखें।

२. सप्तमी के बहुवचन में 'सुगण्+सु' इस दशा में **ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि** (८६) से वैकल्पिक टुँक् का आगम हो कर टुँक्पक्ष में **चयो द्वितीयाः शरि०** (वा० १४) वार्त्तिक से टकार को वैकल्पिक ठकार आदेश हो जाता है—सुगण्ठ्सु। वैकल्पिक ठकार के अभाव में—सुगण्ट्सु। वैकल्पिक टुँक् के अभाव मे—सुगण्सु। इस प्रकार तीन रूप सिद्ध होते हैं।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०२) क्विँप् च ।३।२।७६।।

अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।।

अर्थः— धातु से परे क्विँप् प्रत्यय भी देखा जाता है ।

व्याख्या—क्विँप् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । दृश्यते इति क्रियापदम् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से वचनविपरिणामद्वारा) । धातोः, प्रत्ययः, परश्च—ये तीनों अधिकृत हैं । अर्थः—(धातोः) धातु से (परः) परे (क्विँप् प्रत्ययः) क्विँप् प्रत्यय (च) भी (दृश्यते) देखा जाता है । यहां भी 'दृश्यते' के ग्रहण के कारण पूर्ववत् शिष्टप्रयोगों के अनुसार सुँबन्त या उपसर्ग उपपद रहते या विना उपपद के किसी भी धातु से क्विँप् हो जायेगा । कृत्संज्ञक होने से यह कर्त्ता अर्थ में होता है ।

क्विँप् में अन्त्य पकार अनुबन्ध की हलन्त्यम् (१) द्वारा तथा आद्य ककार अनुबंध की लशक्वतद्धिते (१३६) सूत्र द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है । इँकार उच्चारणार्थ है । अवशिष्ट 'व्' का वेरपृक्तस्य (३०३) से लोप हो जाता है । इस प्रकार क्विँप् का सर्वापहार लोप सिद्ध हो जाता है । क्विँप् में पकार अनुबन्ध ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् (७७७) द्वारा तुँक् आगम के लिये तथा ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध के लिये जोड़ा गया है । किञ्च कित्त्व के कारण उपधा में नकार का लोप आदि कुछ अन्य कार्य भी हो जाते हैं ।

सूत्र के उदाहरण यथा—

उखास्रत् । उखायाः स्रंसत इत्युखास्रत् [बटलोई या उखा नामक यज्ञपात्र से गिरने वाला] । यहां 'उखा ङसिँ' इस अपादान कारक के उपपद रहते स्रंस् (स्रंसुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता कारक में क्विँप् च (८०२) सूत्रद्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहार लोप, प्रत्यय के कित्त्व के कारण अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (३३४) से उपधा के नकार का लोप तथा अन्त में उपपदसमास करने से 'उखास्रस्' शब्द निष्पन्न होता है । समास के कारण प्रातिपदिक संज्ञा होने से इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति होती है । सुँ में हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९) से सुँ का लोप होने पर वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (२६२) से पदान्त में सकार को दकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—उखास्रत्, उखास्रद् ये दो रूप सिद्ध होते हैं । इस की रूपमाला पूर्वार्ध मे (२६२) सूत्र पर लिख चुके हैं । वहीं देखें ।

इसी प्रकार—पर्णध्वत् । पर्णाद् ध्वंसत इति पर्णध्वत्[1] (पत्ते से गिरने वाला)। यहां 'पर्ण ङसिँ'[1] इस अपादान के उपपद रहते ध्वंस् (ध्वंसुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से क्विँप् च (८०२) द्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहार लोप, उपधा के नकार का लोप तथा उपपदसमास करने पर 'पर्णध्वस्' । पुनः सुँ में पूर्ववत् वसुँस्रंसुँ-

१. हरदत्तमिश्र यहां ध्वंसुँ धातु का अन्तर्भावितण्यर्थ मानते हुए 'पर्णानि ध्वंसत इति पर्णध्वत्' इस प्रकार विग्रह दर्शाते हैं । उन के अनुसार अर्थ होगा—पत्तों को गिराने वाला (देखें पदमञ्जरी ३.२.७६) ।

ध्वंस्वनडुहां दः (२६२) से दत्व तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'पर्णध्वत्, पर्णध्वद्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला पूर्वार्ध में (२६२) सूत्र पर देखें।

वाहभ्रट्[1]। वाहाद् भ्रंशते भ्रश्यतीति वा वाहभ्रट् (घोड़े या वाहन से गिरने वाला) यहां 'वाह ङसिँ' इस अपादान के उपपद रहने पर भ्रंश् (भ्रंशुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्; अथवा भ्रंशुँ अधःपतने, दिवा० परस्मै०) धातु से **क्विँप् च** (८०२) द्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा **अनिदितां हलः०** (३३४) से उपधा के नकार का लोप कर उपपद समास करने से 'वाहभ्रश्' शब्द निष्पन्न होता है। सुबन्त-प्रक्रिया में सुँ विभक्ति के आने पर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७६) से सुँ का लोप हो कर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से पदान्त षकार को डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से चर्त्वेन वैकल्पिक टकार हो कर 'वाहभ्रट्-वाहभ्रड्' रूप सिद्ध होते हैं। वाहभ्रश् की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वाहभ्रट्-ड्	वाहभ्रशौ	वाहभ्रशः
द्वितीया	वाहभ्रशम्	,,	,,
तृतीया	वाहभ्रशा	वाहभ्रड्भ्याम्	वाहभ्रड्भिः
चतुर्थी	वाहभ्रशे	,,	वाहभ्रड्भ्यः
पञ्चमी	वाहभ्रशः	,,	,,
षष्ठी	,,	वाहभ्रशोः	वाहभ्रशाम्
सप्तमी	वाहभ्रशि	,,	वाहभ्रट्त्सु-वाहभ्रट्सु[2]
सम्बोधन—	हे वाहभ्रट्-ड्!	हे वाहभ्रशौ!	हे वाहभ्रशः!

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) जलं मुञ्चतीति—जलमुक् [पानी छोड़ने वाला अर्थात् बादल]। जल √मुच्+क्विँप्, **चोः कुः** (३०६)।

(२) अम्बु बिभर्तीति अम्बुभृत् (पानी को धारण करने वाला अर्थात् बादल)। अम्बु √भृ+क्विँप्, तुँक्।

(३) मधु लेढीति मधुलिट् [मधु—पुष्परस को चाटने वाला अर्थात् भ्रमर]। मधु √लिह्+क्विप्, **हो ढः** (२५१)।

(४) भुजङ्गं भुङ्क्त इति भुजङ्गभुक् [सांप को खाने वाला अर्थात् गरुड़]। भुजङ्ग √भुज्+क्विँप्, **चोःकुः** (३०६)।

---

१. काशिका में अद्यत्वे 'वाहाभ्रट्' पाठ पाया जाता है। पर शब्दकौस्तुभ (३.२.७६) तथा यहां की तत्त्वबोधिनी को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर काशिका में 'वहाभ्रट्' पाठ था। वहात्—स्कन्धाद् भ्रश्यतीति वहाभ्रट्। यहां **अन्येषामपि दृश्यते** (६.३.१३७) से पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

२. **ङः सि धुँट्** (८४) से वैकल्पिक धुँट् आगम हो कर उभयत्र चर्त्व हो जाता है।

णिनि

(५) विषं भुङ्क्त इति विषभुक् [विष खाने वाला]। विष √भुज् + क्विँप्, कुत्व।

(६) विश्वं सृजतीति विश्वसृट् [संसार को पैदा करने वाला, विधाता]। विश्व √सृज् + क्विँप्, **व्रश्चभ्रस्जसृज०** (३०७)।

(७) सुष्ठु शृणोतीति सुश्रुत् [अच्छी तरह सुनने वाला]। सु √श्रु + क्विँप्, तुँक्।[1]

(८) प्रशाम्यतीति प्रशान् [अच्छी तरह शान्त होने वाला]। प्र √शम् + क्विँप्, **अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधादीर्घ, **मो नो धातोः** (२७०) से पदान्त में मकार को नकार आदेश।

उपपद के विना भी कई स्थानों पर क्विँप् देखा जाता है। यथा—

(९) लेढीति लिट् [चाटने वाला]। लिह् + क्विँप्।[2]

(१०) राजत इति राट् [शोभा पाने वाला, राजा आदि]। राज् + क्विँप्।

(११) भृज्जतीति भृट् [भूनने वाला]। भ्रस्ज् + क्विँप्।

(१२) खञ्जतीति खन् [लंगड़ाने वाला]। खञ्ज् + क्विँप्।

(१३) भुवं बिभर्तीति भूभृत् [पृथ्वी को धारण करने वाला, राजा या पर्वत]। भू √भृञ् + क्विँप्, तुँक्।

(१४) सुष्ठु लुनातीति सुलूः [अच्छी तरह काटने वाला]। सु √लू + क्विँप्।

(१५) वर्षासु भवतीति वर्षाभूः [बरसात में होने वाला, मेंढक]। वर्षा √भू + क्विँप्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०३) सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये ।३।२।७८॥

अजात्यर्थे सुँपि धातोर्णिनिँस्ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी॥

अर्थः—जात्यर्थ से भिन्न सुँबन्त के उपपद होने पर धातु से परे णिनिँ प्रत्यय हो जाता है यदि कर्त्ता का शील- -स्वभाव द्योतित हो तो।

व्याख्या—सुँपि ।७।१। अजातौ ।७।१। णिनिँः ।१।१। ताच्छील्ये ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। स (धात्वर्थः) शीलं (स्वभावः) यस्य स तच्छीलः; (बहु०)। तच्छीलस्य भावः—ताच्छील्यम्, तस्मिन् = ताच्छील्ये। न जातिः—अजातिः, तस्याम् = अजातौ, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः (अजातौ) जातिभिन्न अर्थ में (सुँपि = सुँबन्ते, उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय होता है (ताच्छील्ये) धात्वर्थ की कर्तृगत स्वभावता व्यक्त होती हो तो।

---

१. **सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्** (मैं कानों से अच्छा सुनने वाला होऊँ)- -(पारस्कर-गृह्यसूत्र २.६.१९)।

२. इन शब्दों की सिद्धि तथा सुँबन्तप्रक्रिया पूर्वार्ध के 'हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण' में देखें।

कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय भी कर्त्ता अर्थ में होता है । णिनिँ में आदि णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा अन्त्य इँकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञक है, 'इन्' मात्र शेष रहता है । इस के अनुबन्धो का प्रयोजन **नन्दिग्रहि०** (७८९) सूत्र पर लिख चुके हैं । सूत्र का उदाहरण यथा-

उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति उष्णभोजी[1] (गरमागरम खाने के स्वभाव वाला) । यहां उष्ण कर्म के उपपद रहते भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः; रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) सूत्र से णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप और कृद्योग में षष्ठी लाने पर 'उष्ण ङस् +भुज् इन्' हुआ । अब **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास कर सुँब्लुक् करने से 'उष्णभोजिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । इस की समस्त सुँबन्तप्रक्रिया हलन्तपुंलिङ्गगत 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है । सुँ में **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप तथा **नलोपः०** (१८०) से नकार का लोप हो कर 'उष्णभोजी' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(१) शीतं भुङ्क्ते तच्छील इति शीतभोजी [ठण्डा खाने के स्वभाव वाला] ।
(२) प्रियं वदति तच्छील इति प्रियवादी [प्रियवचन बोलने के स्वभाव वाला] ।[2]
(३) सत्यं वदति तच्छील इति सत्यवादी [सत्य बोलने के स्वभाव वाला] ।
(४) पुत्रान् अत्तुं शीलेति पुत्रादिनी [पुत्रों को खाने के स्वभाव वाली सर्पिणी]। ङीप् ।
(५) मितं भाषन्ते तच्छीला इति मितभाषिणः [थोड़ा बोलने के स्वभाव वाले[3]] ।
(६) बहु ददाति तच्छील इति बहुदायी [बहुत देने के स्वभाव वाला] । युँक् ।

इस सूत्र में 'सुँपि' के ग्रहण से उपसर्गों का भी ग्रहण अभीष्ट है—ऐसा भाष्यकार का आशय है। अतः उपसर्गों के उपपद होने पर भी ताच्छील्य में णिनिँ की प्रवृत्ति हो जाती है । यथा—

---

१. यहां पर लौकिक-विग्रह कई प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है —
(१) उष्णं भोक्तुं शीलमस्येति-— उष्णभोजी ।
(२) उष्णं भुङ्क्त एवंशील इति —उष्णभोजी ।
(३) उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति —उष्णभोजी ।
(४) उष्णं भोक्तुं शील इति- -उष्णभोजी ।

तात्पर्य सब का एक ही है शब्दावली भिन्न भिन्न है । परन्तु अलौकिक विग्रह (जैसाकि सिद्धि में दर्शाया गया है) एक ही होता है दूसरा नहीं ।

२. **को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्** (पञ्चतन्त्र २.५८) ।

३. **सत्याय मितभाषिणाम्** (रघु० १.७) ।

(७) अनु (स्वामिनमनु) यातुं शीलाः—अनुयायिनः [स्वामी का अनुगमन करने के स्वभाव वाले, सेवक जन][1]।

(८) उपजीवितुं शीलाः—उपजीविनः [स्वामी के समीप पलने के स्वभाव वाले अर्थात् सेवक लोग][2]।

(९) अनुजीवितुं शीलाः—अनुजीविनः [स्वामी के पीछे लगकर जीविकोपार्जन करने के स्वभाव वाले][3]।

(१०) वि (विशेषेण) सर्त्तुं शीलमस्येति विसारि धाम [स्वभावतः फैलने वाला तेज][4]।

जाति अर्थ में यदि कोई सुबन्त उपपद होगा तो ताच्छील्य में भी प्रकृतसूत्र से णिनि न होगा। यथा—ब्राह्मणान् आमन्त्रयते तच्छील इति ब्राह्मणान् आमन्त्रयिता। यहां आङ्पूर्वक 'मत्रि गुप्तभाषणे' (चुरादि; आत्मने०, सेट्) धातु से ताच्छील्य में जातिवाचक 'ब्राह्मण' कर्म के उपपद रहने के कारण णिनि नहीं हुआ अपितु **आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु** (८३६) के अधिकार में **तृन्** (८३७) सूत्रद्वारा तृन् प्रत्यय हो कर आमन्त्रयितृ='आमन्त्रयिता' प्रयोग निष्पन्न हुआ है। इस कृत् के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-तृनाम्** (२.३.६९) सूत्र से निषेध हो जाता है अतः अनभिहित कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति आ कर 'ब्राह्मणान्' प्रयोग किया गया है। इसी तरह—शालीन् भोक्ता, आम्राणि चूषिता आदि।

ताच्छील्य द्योत्य न होने पर भी णिनि नहीं होता। यथा—उष्णं भुङ्क्ते आतुरः (रोगी गरम भोजन करता है)। यहां स्वभाव व्यक्त नहीं होता अपितु रोगी का पथ्यरूपेण गरम भोजन करना व्यक्त हो रहा है। अतः **कर्मण्यण्** (७९०) से अण् हो जायेगा—उष्णभोज आतुरः।

बहूपयोगी होने से णिनि का विधान करने वाला एक अन्य सूत्र भी यहां ध्यान में रखना आवश्यक है—

कर्तर्युपमाने (३.२.७९)। कर्तृवाचक उपमान उपपद हो तो धातु से परे णिनि प्रत्यय होता है। यथा—गज इव गच्छतीति गजगामी (हाथी की तरह चलने वाला); उष्ट्र इव क्रोशतीति उष्ट्रक्रोशी (ऊँट की तरह चिल्लाने वाला); सिंह इव नर्दतीति सिंहनर्दी (शेर की तरह गर्जने वाला); खर इव नदतीति खरनादी (गधे की तरह शब्द करने वाला); ध्वाङ्क्ष इव रौतीति ध्वाङ्क्षरावी (मोटे कौवे की तरह कांय-

---

१. **व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः** (रघु० २.४)।

२. **भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।**
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥ (रघु० १.१६)।

३. **क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः** (किरात० १.४)।

४. **पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः** (माघ १.२)।

काँय करने वाला); द्विरद इव गच्छतीति द्विरदगामी (हाथी की तरह गति वाला);[1] बान्धवा इव आक्रोशन्तीति बान्धवाक्रोशिनः[2] (बान्धवों की तरह चिल्लाने वाले) इत्यादि। यहां उपपदस्थ कर्त्ता णिनिँवाच्य कर्त्ता का उपमान है। लौकिकविग्रहगत 'इव' अलौकिक विग्रह में प्रयुक्त नहीं होता, क्योंकि उस में 'इव' का अर्थ पूर्वपदान्तर्गत हो जाता है। उपपद कर्तृवाचक ही होना चाहिये अन्यथा णिनिँ न होगा। यथा — तिलानिव खादति माषान्; शालीनिव भक्षयति कोद्रवान्। यह सूत्र अशीलार्थ तथा जात्यर्थ समझना चाहिये।

[लघु०] विधिसूत्रम् — (८०४) मनः ।३।२।८२॥

सुँपि मन्यतेर्णिनिँः स्यात्। दर्शनीयमानी॥

अर्थः—सुँबन्त के उपपद होने पर मन् (दिवा० आत्मने०) धातु से णिनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या - सुँपि ।७।१। (सुँप्यजातौ णिनिँः० से) मनः ।५।१। णिनिँः ।१।१। (सुँप्यजातौ णिनिँः० से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। अर्थः —(सुँपि = सुँबन्ते उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (मनः) मन् (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय हो। यहां व्याख्यान द्वारा 'मन्' से 'मनँ ज्ञाने' इस दैवादिक धातु का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'मनुँ अवबोधने' इस तनादिगणीय का नहीं। कृत्संज्ञक होने से यहां भी णिनिँ कर्ता अर्थ में ही होता है। णिनिँ के अनुबन्धों का पूर्ववत् लोप हो कर 'इन्' मात्र शेष रहता है। सूत्र का उदाहरण यथा —

दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयमानी (सुन्दर मानने वाला)। 'दर्शनीय' कर्म के उपपद रहते मनँ ज्ञाने (दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से मनः सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा कृद्योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति लाने से—'दर्शनीय ङस् + मन् इन्' हुआ। अब प्रत्यय के णित्त्व के कारण अत उपधायाः (४५५) से धातु की उपधा अत् को वृद्धि तथा उपपदमतिङ् (९५४) से उपपदसमास कर सुँब्लुक् (७२१) करने से 'दर्शनीयमानिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। समासत्वात् या कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँविभक्ति में 'दर्शनीयमानी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि दूसरे को ही दर्शनीय आदि मानने में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अपने आप को मानने में नहीं। अपने आप को मानने

---

१. सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्॥ (रघु० ४.४)।

२. बालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा रिपुघातिनम्।
बान्धवाऽऽक्रोशिनो भेजुरनाथाः ककुभो दश॥ (भट्टि० ६.१२३)।

में अग्रिमसूत्रद्वारा खश् और णिनिँ दो प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस सूत्र द्वारा सिद्ध किये 'दर्शनीयमानी' का प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये--'दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्त:' अर्थात् यज्ञदत्त देवदत्त को सुन्दर मानता है। 'देवदत्त' कर्म में कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठीविभक्ति हुई है। इसी प्रकार—

(१) श्रीकृष्णस्य विष्णुमानिनो वैष्णवाः [वैष्णव श्रीकृष्ण को विष्णु मानते हैं]।
(२) स्वतःप्रमाणमानिनो वेदानामार्याः [आर्य वेदों को स्वतः-प्रमाण मानते हैं]।
(३) सम्पदां तुच्छमानिनो वीतरागाः [वीतराग लोग सम्पत्तियों को तुच्छ मानते हैं]।
(४) मिथ्यामानिनोऽस्य प्रपञ्चस्य वेदान्तिनः [वेदान्ती जगत् को मिथ्या मानते हैं]।
(५) अद्भुतमानिनो भारतस्य वैदेशिकाः [विदेशी जन भारत को अद्भुत मानते हैं]।
(६) ऋषिमानिनो दयानन्दस्यार्यसमाजिकाः [आर्यसमाजी दयानन्द को ऋषि मानते हैं]।

[लघु०] विधिसूत्रम्--**(८०५) आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।।**

स्वकर्मके मनने[1] वर्त्तमानान्मन्यतेः सुँपि खश् स्यात्। चाण्णिनिँः। पण्डितमात्मानं मन्यते—पण्डितम्मन्यः। पण्डितमानी ।।

अर्थः—यदि मन् धातु का कर्त्ता उस का कर्म भी हो तो सुँबन्त के उपपद रहते मन् धातु से परे खश् प्रत्यय हो और णिनिँ भी।

व्याख्या—आत्ममाने ।७।१। खश् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सुँपि ।७।१। णिनिँः ।१।१ (**सुँप्यजातौ णिनिँः०** से) मनः ।५।१। (**मनः** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। मननं मानः, भावे घञ्; आत्मनः स्वस्य--कर्तुः मानः=आत्ममानः, तस्मिन्=आत्ममाने, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(आत्ममाने) 'अपने को मानना' अर्थ में (मनः, धातोः) दैवादिक मन् धातु से (सुँपि=सुँबन्त उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (खश् प्रत्ययः) खश् प्रत्यय (च) तथा (णिनिः) णिनिँ प्रत्यय हो जाता है।

कृत्संज्ञक होने से ये दोनों प्रत्यय कर्ता अर्थ में ही होते हैं। 'खश्' का 'अ' तथा 'णिनिँ' का 'इन्' मात्र शेष रहता है। इन के अनुबन्धों का प्रयोजन पहले बता चुके हैं। 'मन्' से यहां भी पूर्ववत् दैवादिक 'मन ज्ञाने' धातु का ही ग्रहण अभीष्ट है। सूत्र का उदाहरण यथा —

---

१. स्वः—कर्ता एव कर्म यस्य तथाभूते मनन इत्यर्थः। प्रत्ययस्य कर्तरि विधानात् तस्य च सन्निहितत्वात् स्वशब्देन कर्तैव गृह्यत इति भावः।

आत्मानं पण्डितं मन्यत इति पण्डितम्मन्यः, पण्डितमानी वा (अपने को पण्डित मानने वाला)। यहां मन् धातु का कर्त्ता अपने आपको पण्डित मान रहा है, अतः मन् धातु 'आत्ममाने' अर्थ में प्रयुक्त है। इस दैवादिक मन् (मनँ ज्ञाने, दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से **आत्ममाने खश्च** सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा कृद्योग मे षष्ठी लाने से 'पण्डित ङस्+मन् अ' हुआ। अब शित्त्वात् खश् की सार्वधातुकसंज्ञा होने से **कर्तरि शप्** (३८७) से शप् प्राप्त होता है, परन्तु इस का बाध कर **दिवादिभ्यः श्यन्** (६२९) से श्यन् प्रत्यय हो जाता है- - पण्डित ङस्+मन् य अ। इस स्थिति में श्यन् के अकार तथा खश् के अकार दोनों के स्थान पर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश पुनः **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर सुँप् का लुक् (७२१) हो जाता है—'पण्डित+मन्य'। अब खश् के खित् होने से 'मन्य' यह खिदन्त उत्तरपद परे है और इधर 'पण्डित' यह अजन्त पूर्वपद पूर्व में स्थित है, अतः **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) सूत्र से पूर्वपद को मुँम् (म्) का आगम हो कर पदान्त मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने से— पण्डित-म्मन्य (पण्डितंमन्य) शब्द निष्पन्न होता है। इस से परे सुँ विभक्ति लाने पर 'पण्डित-म्मन्यः' या 'पण्डितंमन्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। खश् के अभाव में णिनिँ (इन्) प्रत्यय हो जाता है—पण्डित ङस्+मन् इन्। इस स्थिति में उपपदसमास तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने से- -पण्डितमानिन्, सुँ में –'पण्डितमानी' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां प्रत्यय के शित् न होने से श्यन् तथा खित् न होने से मुँम् का आगम नहीं होता।

ध्यान रहे कि मानने वाला यदि अपने को ही पण्डित मान रहा है तो इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, यदि वह किसी दूसरे को पण्डित मान रहा है तो पुनः पूर्वसूत्र **मनः** (८०४) से केवल णिनिँ ही होगा। यथा—भ्रातुः पण्डितमानी देवदत्तः (देवदत्त भाई को पण्डित मानता है)। खश् प्रत्यय न होगा।

सार यह है कि यदि अपने को माना जाये या दूसरे को, णिनिँ प्रत्यय तो हो सकता है, पर खश् प्रत्यय तभी होगा जब अपने आप को ही माना जाये।

स्वमाने परमाने चोभयत्रापि स्मृतो णिनिः।
परं खशो विधानं तु स्वमान एव केवलम्॥

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) आत्मानं शूरं मन्यत इति शूरम्मन्यः, शूरमानी।[1]
(२) आत्मानं वीरं मन्यत इति वीरम्मन्यः, वीरमानी।[2]
(३) आत्मानं दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयम्मन्यः, दर्शनीयमानी।
(४) आत्मानं धन्यं मन्यत इति धन्यम्मन्यः, धन्यमानी।

---

१. **ज्ञास्येऽहमद्य संग्रामे समस्तैः शूरमानिभिः** (भट्टि० १९.४०)।
२. **ज्ञायिष्यन्ते मया चाद्य वीरम्मन्या द्विषद्गणाः** (भट्टि० १९.१४)।

(५) आत्मानं चतुरं मन्यत इति चतुरम्मन्यः, चतुरमानी ।
(६) आत्मानम् ईश्वरं मन्यत इति ईश्वरंमन्यः, ईश्वरमानी ।
(७) आत्मानं साधुं मन्यत इति साधुम्मन्यः, साधुमानी ।[1]
(८) आत्मानं मन्यत इति आत्मम्मन्यः, आत्ममानी ।[2]
(९) आत्मानं बुधं मन्यत इति बुधम्मन्यः, बुधमानी ।
(१०) आत्मानम् आर्यं मन्यत इति आर्यम्मन्यः, आर्यमानी ।
(११) आत्मानं वैयाकरणं मन्यत इति वैयाकरणम्मन्यः, वैयाकरणमानी ।
(१२) आत्मनं विद्वांसं मन्यत इति विद्वन्मन्यः, विद्वन्मानी (२६२, ६८) ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्--(८०६) खित्यनव्ययस्य ।६।३।६५।।

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न त्वव्ययस्य । ततो मुँम् । कालिम्मन्या ।।

अर्थः—खित् प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे उत्तरपद के परे रहने पर (अजन्त) पूर्वपद के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो जाता है परन्तु यह आदेश अव्यय के स्थान पर नहीं होता । ततो मुँम् -ह्रस्व करने के बाद मुँम् करना चाहिये ।

व्याख्या--खिति ।७।१। अनव्ययस्य ।६।१। उत्तरपदे ।७।१। (अलुगुत्तरपदे यह अधिकृत है) । ह्रस्वः ।१।१। (इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य से) । ख् इद् यस्यासौ खित् तस्मिन् खिति । बहुव्रीहिसमासः । न अव्ययस्य अनव्ययस्य । नञ्तत्पुरुषः । 'खिति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'खिदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है । 'उत्तरपदे' कहने से 'पूर्वपदस्य' का आक्षेप किया जाता है । अचश्च (१.२.२८) सूत्रद्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'पूर्वपदस्य' का विशेषण बनता है पुनः तदन्तविधिद्वारा 'अजन्तस्य पूर्वपदस्य' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(खिति= खिदन्ते, उत्तरपदे) खित् प्रत्यय जिस के अन्त में हो ऐसे उत्तरपद के परे होने पर (अजन्तस्य पूर्वपदस्य) अजन्त पूर्वपद के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (अनव्ययस्य) परन्तु यह आदेश अव्यय के स्थान पर नहीं होता ।

अजन्त पूर्वपद को विधान किया गया यह ह्रस्वत्व अलोऽन्त्यस्य (२१) द्वारा पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर ही होता है । उदाहरण यथा—

आत्मानं कालीं मन्यत इति कालिम्मन्या [अपने आप को काली दुर्गा मानने वाली] । यहां 'काली' कर्मोपपद दैवादिक मन् धातु से आत्ममाने खश्च (८०५) सूत्र से खश् (अ) प्रत्यय, श्यन् विकरण, अतो गुणे (२७४) से पररूप, कृद्योग में कर्मणि षष्ठी तथा उपपदसमास कर सुँब्लुक् करने से--'काली+मन्य' इस स्थिति में खिदन्त

---

१. राममुच्चैरुपालभ्य शूरमानी कपिप्रभुः ।
व्रणवेदनया ग्लायन् साधुंमन्यमसाधुवत् ।। (भट्टि० ६.१२८)।

२. करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः ।
विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी महाननर्थः सुहृदां बताऽयम् ।। (भट्टि० १२.८३)।

उत्तरपद 'मन्य' के परे रहते 'काली' के ईकार को प्रकृतसूत्र **खित्यनव्ययस्य** (८०६) से ह्रस्व आदेश हो कर **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से मुँम् (म्) का आगम हो जाता है – कालिम्+मन्य । अब पदान्त मकार को अनुस्वार, अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ करने से सुँ विभक्ति में हल्ङ्यादिलोप द्वारा 'कालिम्मन्या' (कालिंमन्या) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी तरह आत्मानं हरिणीं मन्यत इति हरिणिम्मन्या (अपने आप को हरिणी मानने वाली); आत्मानं सुन्दरीं मन्यत इति सुन्दरिम्मन्या (अपने आप को सुन्दरी मानने वाली); आत्मानं सतीम् मन्यत इति सतिम्मन्या (अपने आप को सती मानने वाली) इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें।

ततो मुँम्—ह्रस्व करने के बाद ही मुँम् करना चाहिये।

'काली+मन्य' में यदि अजन्त को **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से पहले मुँम् कर दें तो पुनः पूर्वपद के अजन्त न रहने से प्रकृतसूत्र **खित्यनव्ययस्य** (८०६) से ह्रस्व न हो सकेगा, इस तरह समग्र ह्रस्वविधान ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः वैयाकरण यहां पहले ह्रस्व और बाद में मुँम् करते हैं तथा इन में परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं मानते यह सब व्याकरण के उच्चग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है वहीं देखें। यहां वरदराज ने '**ततो मुँम्**' कह कर केवल इस ओर संकेतमात्र किया है।

इस सूत्र में 'अनव्ययस्य' कहा गया है अतः अव्यय को ह्रस्व-विधान न होगा। यथा—आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामन्या रात्रिः[1] (प्रकाशाधिक्य के कारण अपने आप को दिन मानने वाली रात्रि)। यहां 'दिवा' यह अव्यय है अतः इसे ह्रस्व नहीं होता। किञ्च **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) में भी 'अनव्ययस्य' की अनुवृत्ति जाने से उस से मुँम् आगम भी नहीं होता—दिवामन्या। इसी प्रकार दोषामन्यम् अहः (घने बादलों या धुन्ध के कारण अपने को रात्रि समझने वाला दिन)। आत्मानं दोषां रात्रिम् मन्यत इति दोषामन्यमहः। 'दोषा' अव्यय रात्रिवाचक है, इस का विवेचन पीछे पूर्वार्ध में स्वरादिगण पर कर चुके हैं।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०७) **करणे यजः** ।३।२।८५॥

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः कर्त्तरि[2]। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी। अग्निष्टोमयाजी॥

---

१. **दिवामन्या रात्रिः कथमपि न पद्मं विकसितम्** (पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति)।

२. **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार 'करणे' यहां उपपद है। कोई भ्रान्तिवश करण अर्थ में ही प्रत्यय न समझ ले इसलिये यहां सूत्र की वृत्ति में ही वरदराज ने 'कर्त्तरि' का प्रयोग किया है। वरन् '**कर्त्तरि कृत्**' (७६९) द्वारा उपलब्ध 'कर्त्तरि' पद का वे सूत्रार्थ में प्रायः निर्देश नहीं करते।

क्वनिँप् (कर्म, उपपद, भूत कालिक)

अर्थः करण के उपपद होने पर भूतकाल की क्रिया के वाचक यज् धातु से कर्त्ता अर्थ में णिनिँ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—करणे ।७।१। यजः ।५।१। भूते ।७।१। (यह अधिकृत है) णिनिँः ।१।१। (**सुप्यजातौ णिनिँः०** से) **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं । यहां 'भूते' कहा गया है परन्तु शब्दस्वरूप यज् धातु का भूतकाल में रहना सम्भव नहीं; अतः धातु का अर्थ (क्रिया) ही भूतकालिक समझा जाता है । अर्थः—(करणे उपपदे) करण कारक के उपपद होने पर (भूते) भूतकालिक अर्थ में वर्त्तमान (यजः) यज् (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय होता है । कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६६) की व्यवस्था के अनुसार कर्त्ता अर्थ में ही होगा । उदाहरण यथा—

सोमेन इष्टवान्—सोमयाजी (सोमलता से यज्ञ कर चुका हुआ) । यहां यजन करने मे सोम करण है, अतः 'सोम' करण के उपपद रहते भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान यज् (यजँ देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'सोम टा+याज् इन्' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार कृदन्त से सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'सोमयाजिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । कृदन्तत्वात् या समासत्वात् अब इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार सुँ में—'सोमयाजी' प्रयोग सिद्ध होता है । इस की सुबन्तप्रक्रिया 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है—सोमयाजी, सोमयाजिनौ, सोमयाजिनः इत्यादि ।

इसी प्रकार—अग्निष्टोमेन इष्टवान् —अग्निष्टोमयाजी [अग्निष्टोमयाग कर चुका[1]] आदि ।

क्वनिँप्

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०८) दृशेः क्वनिँप् ।३।२।९४॥

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा ॥

अर्थ.—कर्म के उपपद होने पर भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान दृश् धातु से क्वनिँप् प्रत्यय होता है ।

व्याख्या दृशेः ।५।१। क्वनिँप् ।१।१। भूते (यह अधिकृत है) । कर्मणि ।७।१। (**कर्मणि हनः** से) **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**—तीनों अधिकृत हैं । अर्थः—(कर्मणि) कर्म

---

१. **अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः** । स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निष्टोमयाग करे—इस विधिवाक्य से यज्ञ के फल (स्वर्ग) के प्रति अग्निष्टोम का करणत्व प्रसिद्ध है । उसी को दृष्टि में रखते हुए यहां करण का उपपदत्व समझना चाहिये । इस पर विशेष विचार पदमञ्जरी आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें । अध्वरमीमांसा की कुतूहलवृत्ति यहां विशेष द्रष्टव्य है ।

क्वनिँप्

के उपपद रहते (भूते) भूतकाल के अर्थ मे वर्त्तमान (दृशेर्धातोः) दृश् धातु से (परः) परे (क्वनिँप्) क्वनिँप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

कृत्संज्ञक होने के कारण यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। 'क्वनिँप्' के अनुबन्धों का लोप हो कर 'वन्' मात्र शेष रहता है। अनुबन्धों का प्रयोजन पीछे (७९९) सूत्र पर बताया जा चुका है। सूत्र का उदाहरण यथा -

पारं दृष्टवान् -पारदृश्वा (जो पार को देख चुका है अर्थात् पारंगत, पारग निपुण या निष्णात)[1]। 'पार' कर्म के उपपद रहते भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। पुनः कृद्योग में कर्मणि षष्ठी के लाने पर 'पार ङस्+दृश् वन्' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार कृदन्त से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'पारदृश्वन्' यह नकारान्त कृदन्त निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्त-प्रक्रिया 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है—पारदृश्वा, पारदृश्वानौ, पारदृश्वानः आदि।

इसी प्रकार शास्त्रं दृष्टवान्—शास्त्रदृश्वा, परलोकं दृष्टवान्—परलोक-दृश्वा, मेरुं दृष्टवान्—मेरुदृश्वा, बहु दृष्टवान्—बहुदृश्वा, विश्वदृश्वा आदि समझने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०९) राजनि युधि-कृञः।३।२।९५॥

क्वनिँप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः[2]। राजानं योधितवान् राज-युध्वा। राजकृत्वा॥ (King-maker) [makes kings fight

अर्थः राजन् कर्म के उपपद होने पर युध् और कृञ् धातुओं से भूतकाल में क्वनिँप् प्रत्यय हो। **युधिरन्तर्भावितण्यर्थः**—युध् धातु के अर्थ में णिच् का अर्थ भी सम्मिलित है।

व्याख्या—राजनि।७।१। युधि-कृञः।५।१। क्वनिँप्।१।१। (**दृशेः क्वनिँप्** से)। कर्मणि।७।१। (**कर्मणि हनः** से)। भूते।७।१। (यह अधिकृत है)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों भी अधिकृत हैं। 'युधि' में इक् प्रत्यय धातुनिर्देश में किया गया है। युधिश्च कृञ् च युधिकृञ्, तस्मात्=युधिकृञः, समाहारद्वन्द्वसमासः। 'राजनि' यह 'कर्मणि' के साथ अन्वित होता है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। अर्थः—(राजनि कर्मणि) 'राजन्' कर्म के उपपद होने पर (भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (युधि-कृञः) युध् और कृञ् (धातोः) धातुओं से (परः) परे (क्वनिँप् प्रत्ययः) क्वनिँप् प्रत्यय हो जाता है।

---

१. **गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।**
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत् परीवादनवावतारः॥ (रघु० ५.२४)।

२. अन्तर्भावितोऽनुप्रवेशितो ण्यर्थो यस्मिन्निति अन्तर्भावितण्यर्थः।

कर्तरि कृत् (७६६) के अनुसार यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। क्वनिँप् का पूर्वोक्तरीत्या 'वन्' मात्र शेष रहता है। ककार गुणवृद्धि के निषेध के लिये तथा पकार तुँक् आगम के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा---

राजानं योधितवान्[1]---राजयुध्वा (राजा को युद्ध करा चुका व्यक्ति)। यहां 'राजन्' कर्म के उपपद रहते भूतार्थ में वर्त्तमान युध् (युधँ सम्प्रहारे, दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से परे कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय हो कर कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध, कृद्योग में कर्मणि षष्ठी, उपपदसमास और सुँब्लुक् आदि कार्य करने पर---राजयुध्वन्। सुँ में उपधादीर्घ, सुँलोप तथा पदान्त नकार का भी लोप हो कर---'राजयुध्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है---राजयुध्वा, राजयुध्वानौ, राजयुध्वानः आदि।

युध् (युद्ध करना, लड़ना) धातु अकर्मक है अतः अकर्मक धातु के उपपद में कर्म कैसे सम्भव हो सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए वरदराज लिखते हैं---**युधिरन्तर्भावितण्यर्थः**। अर्थात् यहां युध् धातु के अर्थ में हेतुमण्णिच् (७००) का अर्थ भी संनिविष्ट है। तात्पर्य यह है कि यहां युध् धातु का अर्थ लड़ना नहीं अपितु 'लड़वाना---युद्ध कराना' है। इस से यह धातु सकर्मक हो जाती है, इस प्रकार उपपद में कर्म के आने में कोई आपत्ति नहीं होती[2]।

कृञ् का उदाहरण ---

राजानं कृतवान्---राजकृत्वा (राजा को जो बना चुका है वह व्यक्ति)। यहां राजन् कर्म के उपपद रहते भूतार्थ में वर्त्तमान कृ ('डुकृञ् करणे' तनादि० उभय० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय, प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुणनिषेध, ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् (७७७) से तुँक् का आगम, कृद्योग में षष्ठी तथा उपपदसमास और सुँब्लुक् आदि कार्य करने पर---'राजकृत्वन्'। सुँ में---राजकृत्वा। यज्वन् शब्द की तरह रूपमाला---राजकृत्वा, राजकृत्वानौ, राजकृत्वानः आदि। ध्यान रहे कि यहां कृञ् को अन्तर्भावितण्यर्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वह स्वतः सकर्मक है।

[लघु०] विधिसूत्रम्---(८१०) सहे च ।३।२।९६॥

कर्मणीति निवृत्तम्। सह योधितवान्---सहयुध्वा। सहकृत्वा॥

अर्थः---'सह' के उपपद होने पर भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान युध् और कृञ् धातुओं से परे क्वनिँप् प्रत्यय हो। **कर्मणीति निवृत्तम्**---इस सूत्र में 'कर्मणि' की अनुवृत्ति नहीं आती।[3]

---

1. ण्यन्तस्य प्रयोगः, **निष्ठायां सेटि** (८२४) इति णिलोपः।
2. णिचा सकर्मकत्वलाभः। राज्ञा सह युद्धवानित्येव पर्यवसितोऽर्थः। युध्यमानं राजानं प्रेरितवान्, न तु केनाप्यन्येनायोधयदित्यर्थः।
3. क्योंकि 'सह' के साथ उस का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं हो सकता।

व्याख्या—सहे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । युधि-कृञः ।५।१। (राजनि युधि-कृञः से) । क्वनिँप् ।१।१। (दृशेः क्वनिँप् से) । भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च ये सब अधिकृत हैं । अर्थः—(सहे) 'सह' अव्यय के उपपद होने पर (च) भी (भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (युधि-कृञः) युध् और कृञ् (धातोः) धातु से (परः) परे (क्वनिँप् प्रत्ययः) क्वनिँप् प्रत्यय हो जाता है। पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

सह युद्धवान्—सहयुध्वा (किसी के साथ युद्ध कर चुका व्यक्ति)[1] । यहां 'सह' के उपपद रहते युध् धातु से सहे च (८१०) सूत्रद्वारा क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय, प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध तथा उपपदसमास करने से—सहयुध्वन् । सुँ में—सहयुध्वा । यज्वन् की तरह सुँबन्तप्रक्रिया होती है । सहयुध्वा, सहयुध्वानौ, सहयुध्वानः इत्यादि ।

---

१. 'सह योधितवान्—सहयुध्वा' यह मूलोक्त विग्रह उचित नहीं है । पिछले सूत्र में कर्म के उपपद के कारण अकर्मक युध् का अर्थ घटित न होने से उसे अन्तर्भावितण्यर्थ मानना पड़ा था । परन्तु यहां इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं है । अतः यहां 'सह युद्धवान् इति सहयुध्वा' या 'सह युध्यते स्म इति सहयुध्वा' इस तरह अण्यन्त विग्रह करना ही उचित है । प्राचीन अनेक वैयाकरणों ने स्वस्वग्रन्थों में ऐसा ही विग्रह दर्शाया है । तद्यथा—
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (जैनेन्द्रमहावृत्ति २.२.८३) ।
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (शाकटायन अमोघा ४.३.१९६) ।
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (हैमबृहद्वृत्ति ५.१.१६७) ।
सह युध्यते स्म—सहयुध्वा (सरस्वतीकण्ठा० दण्डनारायण १.४.१२६) ।
अत एव नागेशभट्ट को लघुशब्देन्दुशेखर में इसी स्थल पर लिखना पड़ा है—सहयुध्वेति । तेन सह युद्धवानित्यर्थः । इस के अतिरिक्त कवियों के अनेक प्रयोग भी अण्यन्तविग्रह की पुष्टि करते हैं—

संवित्तः सहयुध्वानौ तच्छक्तिं खरदूषणौ (भट्टि० ५.३७) ।

अर्थात् राम के साथ युद्ध कर चुके खर और दूषण उस की शक्ति को जानते हैं ।

कथयति परिश्रान्ति रात्रीतमस्सहयुध्वनाम् ।
अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्विषाम् ॥ (नैषध १९.४)

अर्थात् थका-माँदा चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार के साथ युद्ध कर चुकी अपनी किरणों को (अब प्रातःकाल) विश्राम करने को कह रहा है ।

बुद्धिपूर्वं ध्रुवन्न त्वा राजकृत्वा पिता खलम् ।
सहयुध्वानमन्येन योऽहिनो मामनागसम् ॥ (भट्टि० ६.१३०)

हे राम ! पिता दशरथ ने तुम्हें दुर्जन जान कर जानबूझ कर राजा नहीं बनाया था जो तुम ने दूसरे (सुग्रीव) के साथ लड़ाई में प्रवृत्त मुझ निरपराध (बाली) को मारा ।

इसी प्रकार—सह कृतवान्—सहकृत्वा (साथ कर चुका व्यक्ति)। यहां प्रत्यय के पित्त्व के कारण **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से तुँक् का आगम विशेष है।

नोट—इन क्वनिँप् प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में **वनो र च** (४.१.७) सूत्र से ङीप्प्रत्यय तथा वन् के नकार को रेफ आदेश हो कर पारदृश्वरी, राजकृत्वरी, सहकृत्वरी, परलोकदृश्वरी, शास्त्रदृश्वरी आदि रूप बनते हैं। सहयुध्वन् और राजयुध्वन् में परिवर्त्तन नहीं होता, **वनो न हशः** वार्त्तिक से निषेध हो जाने से स्त्रीलिङ्ग में भी यही रूप रहता है—सहयुध्वा ब्राह्मणी, राजयुध्वा कन्या।

इन शब्दों के स्त्रीत्व के प्रयोग में निम्नस्थ श्लोक यहां विशेष उल्लेखनीय है—

अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम्।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम्॥

[लौगा० गृ० सूत्र की टीका में]

अर्थात् बुद्धि के तिमिर को हटाने वाली, संसारसिन्धु से बचा कर पार लगाने वाली, सज्जनों की पुरुषार्थसम्पत्ति को पुष्ट करने वाली, परमार्थतत्त्व को देख चुकी सरस्वती देवी को मैं परमश्रद्धा से नमस्कार करता हूं। [अवावन्—अवावरी (हटाने वाली)[1]; पीवन्—पीवरी (पा रक्षणे+क्वनिँप्; रक्षा करने वाली); परमार्थदृश्वन्—परमार्थदृश्वरी (परमार्थं दृष्टवती, **दृशेः क्वनिँप्**, परमार्थतत्त्व को जानने वाली); सुधीवन्—सुधीवरी (डुधाञ् धारणपोषणयोः+क्वनिँप्, धारण-पोषण करने वाली)]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८११) सप्तम्यां जनेर्डः ।३।२।९७॥

अर्थः—सप्तम्यन्त के उपपद होने पर भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान जन् धातु से 'ड' प्रत्यय हो।

व्याख्या—सप्तम्याम् ।७।१। जनेः ।५।१। डः ।१।१। भूते ।७।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। धातोः ।५।१। [ये चारों अधिकृत हैं]। सप्तमी प्रत्ययात्मक है अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार सप्तम्यन्त का ग्रहण होता है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। 'जनेः' यहां जन् धातु से इक् प्रत्यय धातु-निर्देश में किया गया है—**इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे**। अर्थः—(सप्तम्याम्=सप्तम्यन्ते उपपदे) सप्तम्यन्त के उपपद होने पर (भूते) भूतकाल के अर्थ में (जनेः, धातोः) जन् धातु से (परः) परे (डः) 'ड' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। **कृदतिङ्** (३०२)

---

१. भट्टोजिदीक्षित आदि यहां **वनो न हशः** वार्त्तिक से ङीप्+रत्व का निषेध मानते हैं परन्तु न्यासकार आदि अनेक वैयाकरण इस निषेध को प्रायिक मानते हुए यहां भी ङीप्+रत्व (**वनो र च**) का विधान स्वीकार करते हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हमारे दूसरे ग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** (भैमी-प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित) में किया गया है, विशेष जिज्ञासु इसे वहीं देखें।

द्वारा कृत् होने से यह प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ड' प्रत्यय का आदि डकार **चुटू** (१२९) द्वारा इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन भसञ्ज्ञा न होने पर भी **टे:** (२४२) द्वारा धातु की टि का लोप करना है — **डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः** (देखें ४०५ सूत्र पर)।

उदाहरण यथा —सरसि जातम् इति सरसिजं सरोजं वा। (तालाब में पैदा हुआ अर्थात् कमल[1]) यहां सप्तम्यन्त सरस् शब्द के उपपद होने पर जन् (जनी प्रादुर्भावे, दिवा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में **सप्तम्यां जनेर्डः** इस प्रकृतसूत्र से 'ड' प्रत्यय करने पर—'सरस ङि+जन् ड' हुआ। अब 'ड' प्रत्यय के आदि डकार अनुबन्ध का लोप हो कर डित्त्वसामर्थ्य से भसंज्ञा न होने पर भी टेः (२४२) द्वारा जन् की टि (अन्) का लोप करने से 'सरस् ङि+ज' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः** परिभाषा से कृदन्त से विभक्त्युत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) द्वारा उपपदसमास हो जाता है। तब समास के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है- —

[लघु०] विधि-सूत्रम् —**(८१२) तत्पुरुषे कृति बहुलम्।६।३।१३॥**

ङेरलुक्। सरसिजम्। सरोजम्।

अर्थः —तत्पुरुषसमास में कृदन्त उत्तरपद के परे होने पर सप्तमी का बहुल से अलुक् हो।

व्याख्या—तत्पुरुषे।७।१। कृति।७।१। बहुलम्।१।१। सप्तम्याः।६।१। (**हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्** से)। अलुक्।१।१। उत्तरपदे।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। न लुक् अलुक्, नञ्तत्पुरुषसमासः। 'कृति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है, अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७२) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'कृदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है। अर्थः— (तत्पुरुषे) तत्पुरुषसमास में (कृति कृदन्ते) कृत्प्रत्यय जिस के अन्त में हो ऐसे (उत्तरपदे) उत्तरपद के परे होने पर (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (बहुलम्) बहुल से (अलुक्) अलुक् हो जाता है। 'बहुल' से अलुक् (लुक् का अभाव) कहा गया है अत. कहीं लुक् भी हो जायेगा।

'सरस् ङि+ज' में उपपदसमास जो तत्पुरुषसमास के ही अन्तर्गत है, किया गया है। 'ज' यह कृदन्त उत्तरपद परे मौजूद है अतः सप्तमी विभक्ति (ङि) का जो लुक् प्राप्त था वह न हुआ तो 'सरसिज' और जब लुक् हो गया तो सकार को रुँत्व (१०५), **हशि च** (१०७) से उत्व तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण करने पर 'सरोज' शब्द निष्पन्न हुआ। दोनों कृदन्त शब्दों से सुँ विभक्ति लाने पर नपुंसक लिङ्ग के कारण **अतोऽम्** (२३४) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'सरसिजम्, सरोजम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

१. **सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्** (शाकुन्तल १.२०)।

उपर्युक्त उदाहरण में अलुक् और लुक् दोनों दिखाये गये हैं पर कहीं कहीं केवल अलुक् ही [यथा—वनेचरः, खेचरः] पाया जाता है। यह सब 'बहुल' ग्रहण की ही महिमा है।

पिछले **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) मनसि जातम् — मनसिजं मनोजं वा (कामदेव)।

(२) वने जातः—वनजः (वन में पैदा हुआ)।

(३) मन्दुरायां जातः—मन्दुरजः (अश्वशाला में पैदा हुआ)[1]।

(४) उपसरे जातः—उपसरजः (गर्भाधाने जातः)।

(५) देहे जातः—देहजो व्याधिः।

(६) गर्भे जातः — गर्भजो रोगः।

इस 'ड' प्रकरण में एक अन्य सूत्र भी बहुत उपयोगी है—

पञ्चम्यामजातौ (३.२.९८) अर्थात् जातिभिन्न पञ्चम्यन्त के उपपद होने पर भूतकाल में जन् धातु से 'ड' प्रत्यय हो जाता है। यथा—

(१) बुद्धेर्जातः—बुद्धिजः। (२) निर्वेदाज्जातः– निर्वेदजः। (३) धनाज्-जातः—धनजो मदः। (४) सन्तोषाज्जातम्—सन्तोषजं सुखम्। (५) आत्मनो जातः—आत्मजः पुत्रः। (६) मखाज्जातम्—मखजं पुण्यम्। (७) कर्मभ्यो जातम् —कर्मजं दुःखम्। (८) कौशल्याया जातः—कौशल्याजो रामः।

जातिभिन्न कहने से—'हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः' इत्यादि में नहीं होता।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८१३) उपसर्गे च संज्ञायाम् ।३।२।९९॥

'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' ॥

अर्थः—उपसर्ग उपपद होने पर भूतकाल में जन् धातु से परे 'ड' प्रत्यय हो संज्ञा के विषय में।

व्याख्या—उपसर्गे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। संज्ञायाम् ।७।१। जनेः ।५।१। डः ।१।१। (**सप्तम्यां जनेर्डः** से) भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये चारों अधिकृत हैं)। **तत्रोपपदं०** (९५३) के अनुसार 'उपसर्गे' उपपद है। 'सञ्ज्ञायाम्' यहां विषयसप्तमी है। अर्थः— (उपसर्गे) उपसर्ग उपपद होने पर (भूते) भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान (जनेः, धातोः) जन् धातु से (परः) परे (डः प्रत्ययः) 'ड' प्रत्यय हो जाता है (संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में।

तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से किसी की संज्ञा (नाम) अभिप्रेत हो तो उपसर्गपूर्वक जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ड' का 'अ' मात्र शेष रहता है। है। उदाहरण यथा—

प्रजाता इति प्रजा (जो उत्पन्न हुई है अर्थात् सन्तति या लोग)। यहां प्रकृति-

1. **ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्** (६.३.६२) से यहां ह्रस्व हो जाता है।

प्रत्ययसमुदाय से सन्तति या लोगों की संज्ञा अभिप्रेत है अतः 'प्र' उपसर्ग के उपपद रहते जन् (जनीँ प्रादुर्भावे; दिवा० आत्मने० सेट्) धातु से **उपसर्गे च संज्ञायाम्** इस प्रकृतसूत्र से ड (अ) प्रत्यय, प्रत्यय के डित्त्व के कारण जन् की टि (अन्) का लोप तथा उपपदसमास हो कर 'प्रज' इस स्थिति में स्त्रीत्वविवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ और सुँ में सकार का हल्ङ्याब्भ्यो० लोप हो कर 'प्रजा' प्रयोग निष्पन्न होता है।

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने यह अमरकोष (३.३.३२) का वचन है। इस का अभिप्राय यह है कि 'प्रजा' शब्द सन्तति = सन्तान अर्थ में तथा जन = लोग अर्थ में प्रयुक्त होता है। सन्तान अर्थ में इस के प्रयोग यथा—**प्रजायै गृहमेधिनाम्** (रघु० १.७); **अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा** (रघु० १.७७), इत्यादि। जन = लोग अर्थ में प्रयोग यथा—**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्** (रघु० १.१८), **प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि** (रघु० २.४८), इत्यादि। इस अर्थ में जन-लोगों के बहुत्व के कारण प्रायः बहुवचन में प्रयोग मिलते हैं।

अभ्यास (३)

(१) नीचे विग्रह दिया गया है, कृदन्तरूप तथा प्रत्यय का निर्देश करें—
ध्वाङ्क्ष इव रौतीति, आत्मानं कालीं मन्यत इति, पारं दृष्टवान् इति, सरसि जातमिति, जनमेजयतीति, सोमेनेष्टवान् इति, सह युद्धवान् इति, गज इव गच्छतीति, अनुयातुं शीला इति, बुद्धेर्जात इति, उखायाः स्रंसत इति, दर्शनीयं मन्यत इति, प्रियं वदतीति, ओणतीति, मधु लेढीति, राजानं कृतवान् इति।

(२) सप्रमाण अशुद्धि-शोधन कीजिये—
ब्राह्मणानाम् आमन्त्रयिता (तृन्), मूर्खंमानी यज्ञदत्तं देवदत्तः, सहयुध्वरी, शास्त्रदृश्वा कन्या, दिवम्मन्या रात्रिः, उष्णं भुङ्क्त इति उष्णभोजी आतुरः।

(३) प्रश्नों का उत्तर दीजिये—
  (क) सरसिजम् में समास होने पर भी विभक्ति का लुक् क्यों नहीं हुआ?
  (ख) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' में 'दृश्यन्ते' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
  (ग) 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्' में 'अनव्ययस्य' के अनुवर्त्तन का क्या प्रयोजन है?
  (घ) 'तिलानिव खादति माषान्' यहां 'णिनि' क्यों नहीं होता?
  (ङ) 'एजेः खश्' में 'एजेः' से ण्यन्त का ग्रहण किस प्रकार होता है?

(४) खच् और खश् प्रत्ययों में अनुबन्धजन्य अन्तर समझाइये।

(५) 'उष्णभोजी' का चार प्रकार का विग्रह लिखिये।

(६) स्वमाने परमाने च—व्याख्याकार की इस कारिका का विवेचन कीजिये।

(७) 'सहे च' सूत्रस्थ 'सह योधितवान्' इस पाठ की समीक्षा कीजिये।
(८) क्विबन्तों के विग्रहनिर्देशपूर्वक पांच उदाहरण दीजिये।
(९) निम्नस्थ शब्दों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें —
विश्वसृज्, वाहभ्रश्, रेष्, प्रातरित्वन्, सुगण्, अवावन्, पर्णध्वस्।
(१०) पारदृश्वन्, राजकृत्वन्, सहयुध्वन् शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप बनेगा? सप्रमाण लिख कर 'अवावरी ब्राह्मणी' पर भी मतभेद का निर्देश करें।
(११) 'ततो मुँम्' वरदराज के इस वचन की व्याख्या करें।
(१२) विग्रह दर्शाते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
वशंवदः, पण्डितम्मन्यः, अरुन्तुदः, उष्णभोजी, सोमयाजी, जनमेजयः, प्रातरित्वा, विजावा, प्रजा, अवावा, रेट्, सरोजम्, विश्वसृट्, पर्णध्वत्।
(१३) सूत्रों की व्याख्या करें—
नेड् वशि कृति, सुँप्यजातौ०, अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, दृशेः क्वनिँप्, आत्ममाने खश्च, तत्पुरुषे कृति०, मन०, कर्तर्युपमाने।

—:०:—

अब कृत्प्रत्ययों में सुप्रसिद्ध निष्ठाप्रकरण का आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम निष्ठासंज्ञाविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्— (८१४) क्त-क्तवतू निष्ठा।१।१।२५॥

एतौ निष्ठासञ्ज्ञौ स्तः॥

अर्थः — क्त और क्तवतुँ निष्ठासञ्ज्ञक होते है।

व्याख्या — क्त-क्तवतू।१।२। निष्ठा।१।१। क्तश्च क्तवतुँश्च क्त-क्तवतू, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(क्त-क्तवतू) क्त और क्तवतुँ प्रत्यय (निष्ठा) निष्ठासंज्ञक होते हैं। अर्थात् जहां जहां निष्ठा कहा जायेगा वहां वहां क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों का ही ग्रहण होगा। यथा —**निष्ठा** (८१५), **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६), **निष्ठायां सेटि** (८०४); **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) इत्यादि।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा क्तवतुँ का अन्त्य अनुनासिक उकार **उपदेशोऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, अतः 'क्त' का 'त' और 'क्तवतुँ' का 'तवत्' ही शेष रहता है। ये दोनों प्रत्यय **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से आर्धधातुक हैं और साथ ही वलादि भी हैं अतः इट् की प्राप्ति व निषेध आदि के नियम इन प्रत्ययों पर भी लागू होते हैं। इन में ककार अनुबन्ध गुणवृद्धिनिषेध वा सम्प्रसारण आदि कित्कार्यों के लिये तथा उँकार अनुबन्ध **उगितश्च** (१२४६) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों की प्रक्रिया में प्रायः कुछ भी अन्तर नहीं होता, दोनों मे अवान्तरकार्य एक जैसे होते हैं। क्तान्त शब्द के अन्त मे 'वत्' अधिक जोड़ देने से क्तवतुँप्रत्ययान्त शब्द बन जाता है।

क्त, क्तवतु

अब अग्रिमसूत्र में निष्ठाप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(८१५) निष्ठा ।३।२।१०२।।**

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र 'तयोरेव०' (७७०) इति भाव-कर्मणोः क्तः । 'कर्त्तरि कृत्' (७६९) इति कर्त्तरि क्तवतुः । उँकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।।

अर्थः —भूतकालिक अर्थ में धातु से परे निष्ठा हो । **तत्र** —उन में क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (७७०) सूत्रद्वारा भाव और कर्म में तथा क्तवतुँ प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में होता है । निष्ठाप्रत्ययगत उँकार और ककार इत्संज्ञक हैं ।

व्याख्या निष्ठा ।१।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये चारों अधिकृत हैं) । अर्थः—(भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (धातोः) धातु से (परः) परे (निष्ठा) निष्ठा (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । **क्तक्तवतू निष्ठा** (८१४) से क्त और क्तवतुँ की निष्ठा सञ्ज्ञा कह चुके हैं अतः भूतकाल में धातु से परे क्त और क्तवतुँ प्रत्यय होते हैं । ये दोनों प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पढ़े गये हैं, अतः कृत्संज्ञक हैं । कृत्संज्ञक प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) द्वारा कर्त्ता अर्थ में हुआ करते हैं । परन्तु इन में केवल क्तवतुँ प्रत्यय ही कर्त्ता अर्थ में होता है क्तप्रत्यय नहीं । इस का कारण **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) सूत्र है । यह **कर्त्तरि कृत्** (७६९) सूत्र का अपवाद है अतः क्तप्रत्यय (अपवादस्थलों को छोड़ कर) भाव और कर्म में ही होता है । यदि धातु अकर्मक हो तो क्तप्रत्यय भाव में, और यदि धातु सकर्मक हो तो वह कर्म में होगा । परन्तु क्तवतुँ प्रत्यय धातु के सकर्मक वा अकर्मक किसी भी प्रकार का होने पर केवल कर्त्ता में ही होता है । दोनों प्रत्ययों का कारक-विषयक यह भेद हृदयंगम कर लेना चाहिये ।

अकर्मक धातु से क्तप्रत्यय का उदाहरण यथा –

स्नातं मया (मुझ से नहाया गया) । यहां 'स्ना' (ष्णा शौचे अदा० परस्मै० अनिट्) धातु अकर्मक है और भूतकाल के अर्थ में विद्यमान है, अतः प्रकृत **निष्ठा** (८१५) सूत्र से भाव =धात्वर्थ में क्तप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध करने पर स्ना+त= 'स्नात' शब्द निष्पन्न होता है । अद्रव्य होने से भाव में **सामान्ये नपुंसकम्** द्वारा नपुंसकलिङ्ग तथा औत्सर्गिक एकवचन का प्रयोग सम्भव है । अतः कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आकर **अतोऽम्** (२३४) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'स्नातम्' प्रयोग सिद्ध होता है । अनभिहित या अनुक्त होने से इस कर्त्ता में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीयाविभक्ति हो जाती है । प्रत्यय भाव में किया गया है अतः कर्त्ता के प्रभाव से कृदन्त बिलकुल प्रभावित नहीं होता । स्नातं मया, स्नातं त्वया, स्नातं तेन, स्नातम् आवाभ्याम्, स्नातं युवाभ्याम्, स्नातं ताभ्याम्, स्नातम् अस्माभिः, स्नातं

युष्माभिः, स्नातं तैः—इत्यादि सब अवस्थाओं में 'स्नातम्' अपरिवर्त्तित रहता है। कारण स्पष्ट है कि प्रत्यय भाव में किया गया है कर्त्ता में नहीं। इसी प्रकार—त्वया मयाऽन्येन वा चेष्टितं शयितं कम्पितं लज्जितं सुप्तं वा।

सकर्मक धातु से क्तप्रत्यय का उदाहरण यथा—

स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुझ से विष्णु स्तुति किया गया है अर्थात् तू ने विष्णु की स्तुति की है)। यहां स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ, अदा० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः भूतकाल में इस धातु से प्रकृत **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्म में क्तप्रत्यय हो जाता है—स्तु+क्त=स्तु+त=स्तुत। यहां भी पूर्ववत् इण्निषेध तथा प्रत्यय के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। यहां प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कर्म (विष्णुः) के अनुसार कृदन्त (स्तुत) से लिङ्ग और वचन हो कर 'स्तुतः' प्रयोग सिद्ध होता है। कर्म के अभिहित या उक्त होने से उस में प्रथमा विभक्ति होती है। कर्त्ता अनभिहित या अनुक्त है, अतः **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से उस में तृतीया विभक्ति होती है। प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कृदन्त शब्द पर कर्त्ता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो कर्म के साथ सम्बद्ध है। यथा—स्तुतस्त्वया विष्णुः, स्तुतो मया विष्णुः स्तुतस्तेन विष्णुः, स्तुतो युवाभ्यां विष्णुः, स्तुतस्ताभ्यां विष्णुः, स्तुतोऽस्माभिर्विष्णुः, स्तुतो युष्माभिर्विष्णुः, स्तुतस्तैर्विष्णुः—इत्यादियों में 'स्तुतः' अक्षुण्ण रहता है। हां कर्म के लिङ्ग वा वचन के परिवर्त्तन के साथ ही उस में भी परिवर्त्तन आ जाता है! यथा—स्तुतस्त्वया देवः, स्तुतौ त्वया देवौ, स्तुतास्त्वया देवाः; स्तुता मया देवी, स्तुते त्वया देव्यौ, स्तुतास्तेन देव्यः; स्तुतं मया कार्यम्, स्तुते त्वया कार्ये, स्तुतानि तेन कार्याणि। इसी प्रकार— त्वया भुक्तं फलम्, मया कृतोऽपराधः, अस्माभिर्नीतो दिवसः, कृष्णेन कंसो हतः, येन धौता गिरः पुंसाम्, लब्धास्तावत् प्राणाः, गङ्गाजललवकणिका पीता, शास्त्राण्यधीतानि, जन्मैव व्यर्थतां नीतम्, तमश्चाज्ञानजं भिन्नम् आदि प्रयोगों में कर्मणि क्त समझ लेना चाहिये।

क्तवतु प्रत्यय केवल कर्त्ता में ही होता है। तद्यथा—

विश्वं कृतवान् विष्णुः [विष्णु ने विश्व को बनाया]। यहां भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' [डुकृञ् करणे, तनादि० उभय० अनिट्] धातु से कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय कर अनुबन्धों का लोप, इट्-निषेध तथा कित्त्व के कारण आर्धधातुकनिबन्धन गुण का भी निषेध हो कर—कृ+तवत्=कृतवत् यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस की सुबन्तप्रक्रिया 'धीमत्' शब्द की तरह चलती है। सुँ में **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, हल्ङ्यादि-लोप तथा संयोगान्त तकार का भी लोप करने से 'कृतवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां कृदन्त कर्त्तानुसारी है अतः कर्त्ता 'विष्णुः' में एकवचन के कारण 'कृतवान्' में भी एकवचन का प्रयोग हुआ है। कर्त्ता के लिङ्ग वा वचन का ही यहां अनुसरण होता है। यथा—विश्वं कृतवान् विष्णुः, विश्वं कृतवती देवी, विश्वं कृतवन्तो देवाः, तौ कार्यं

कृतवन्तौ, भाग्यं कृतवत् जगत् आदि । ध्यान रहे कि क्तवतुँप्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिक हैं अतः इन के प्रयोग में पुरुषव्यवस्था का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । पुरुषव्यवस्था धातुओं के लिये है, न कि प्रातिपदिकों के लिये । तात्पर्य यह है कि यहां कर्त्ता चाहे युष्मद् अस्मद् या कुछ अन्य भी क्यों न हो क्तवत्वन्त को इस से कुछ अन्तर नहीं पड़ता; उस पर प्रभाव केवल कर्त्ता के वचन का ही पड़ता है । कर्तृवचन के एकत्व के कारण क्तवत्वन्त में एकवचन, द्वित्व के कारण द्विवचन और बहुत्व के कारण बहुवचन का प्रयोग होता है । यथा—अहं फलं खादितवान् (अस्मि); त्वं फलं खादितवान् (असि); स फलं खादितवान् (अस्ति) । आवां फलं खादितवन्तौ (स्वः); युवां फलं खादितवन्तौ (स्थः); तौ फलं खादितवन्तौ (स्तः) । वयं फलं खादितवन्तः (स्मः); यूयं फलं खादितवन्तः (स्थ); ते फलं खादितवन्तः (सन्ति)[1] ।

क्तवतुँ के कर्त्रर्थक होने से कर्म अनभिहित या अनुक्त रहता है अतः उस में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति होती है । यहां कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.३५) से प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो जाता है ।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययान्त शब्दों की तालिका इस प्रकरण के अन्त में देंगे । अब इन प्रत्ययों के होने से कुछ अवान्तर परिवर्त्तनों के लिये सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८१६) रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ।८।२।४२।।

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ हिंसायाम्, 'ॠत इद्०' (६६०) । रपरः । णत्वम् । शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।।

अर्थः—रेफ या दकार से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो और निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी नकार आदेश हो ।

व्याख्या—रदाभ्याम् ।५।२। निष्ठातः ।६।१। नः १।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । पूर्वस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । दः ।६।१। रश्च दश्च रदौ, ताभ्याम्= रदाभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । निष्ठायाः त्=निष्ठात्, तस्य=निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः । 'पूर्वस्य' में प्रयुक्त 'पूर्व' शब्द सापेक्ष है । किस से पूर्व ? इस जिज्ञासा में निकट प्रयुक्त निष्ठा का ही ग्रहण हो कर 'निष्ठा से पूर्व दकार के स्थान पर' ऐसा उपलब्ध हो जाता है । इस प्रकार का दकार धातु का ही सम्भव हो सकता है । अर्थः—

---

१. संक्षेपरुचिर्लोकः (लोग बोलते समय संक्षेप में ही रुचि रखते हैं) इस न्याय के अनुसार इन स्थानों पर 'अस्ति' आदि का प्रयोग छोड़ दिया जाता है परन्तु अर्थ गम्यमान रहता है । ध्यान रहे कि 'एकतिङ् वाक्यम्' के अनुसार तिङन्त के विना वाक्य अपूर्ण रहता है अतः वाक्य में तिङन्त का होना आवश्यक है ।

(रदाभ्याम्) रेफ या दकार से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश हो जाता है, किञ्च (पूर्वस्य) निष्ठा से पूर्व धातु के (दः) द् के स्थान पर (च) भी न् आदेश हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि इस सूत्र से दो कार्य विधान किये जाते हैं –

(१) यदि धातु के अन्त्य रेफ से परे क्त और क्तवतु का अव्यवहित तकार हो तो उसे नकार आदेश हो जाता है।

(२) यदि धातु के अन्त्य दकार से परे क्त और क्तवतु का अव्यवहित तकार हो तो उसे तथा स्वयं दकार को भी नकार आदेश हो जाता है।

क्रमशः उदाहरण यथा—

शीर्णः [हिंसा किया गया, मारा गया, नष्ट किया गया, बिखेरा गया, ध्वस्त किया गया]। शॄ हिंसायाम् (क्र्या० परस्मै० सेट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्र से कर्मणि क्तप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का **ऋयुकः किति** (६५०) से निषेध, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का भी **क्ङिति च** (४३३) से वारण हो कर **ऋ्त इद् धातोः** (६६०) से धातु के ॠकार को इत्व, **उरण्रपरः** (२९) से रपर तथा **हलि च** (६१२) से रेफान्त की उपधा को दीर्घ करने पर—शीर्+त। अब **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) इस प्रकृतसूत्र से रेफ से परे निष्ठा के त् को न् आदेश तथा **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) द्वारा नकार को भी णकार आदेश करने पर शीर्ण। पुनः प्रथमा के एकवचन में सुँ, रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश हो कर 'शीर्णः' प्रयोग सिद्ध होता है। कर्त्ता में क्तवतुँ प्रत्यय करने पर भी इसी तरह 'शीर्णवान्' प्रयोग सिद्ध होगा। इसी तरह जॄ से जीर्णः, जीर्णवान्; तॄ से तीर्णः, तीर्णवान्; नि √गॄ से—निगीर्णः, निगीर्णवान् आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

दकार से परे निष्ठा के तकार का उदाहरण यथा—

भिन्नः, छिन्नः [तोड़ा गया, काटा गया]। 'भिदिर् विदारणे' (रुधा० उभय० अनिट्) तथा 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा० उभय० अनिट्) धातुएं सकर्मक हैं। अतः **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा इन से परे कर्म में क्तप्रत्यय करने पर –भिद्+त, छिद्+त। इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है। कित्त्व के कारण लघूपधगुण भी नहीं होता। अब प्रकृत **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) सूत्र द्वारा दकार से परे तकार को नकार तथा पूर्व दकार को भी न् आदेश करने से—भिन्न, छिन्न। विभक्ति लाने से—'भिन्नः, छिन्नः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। कर्त्ता मे क्तवतुँ लाने से भी इसी प्रकार प्रक्रिया हो कर विभक्तिकार्य करने से— 'भिन्नवान्, छिन्नवान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार खिद् से—खिन्नः, खिन्नवान्; क्षुद् से क्षुण्णः, क्षुण्णवान् (**अट्कुप्वाङ्०, ष्टुना ष्टुः**); उद् √पद् से—उत्पन्नः, उत्पन्नवान्; प्र √सद् से—प्रसन्नः, प्रसन्नवान् आदि रूप बनते हैं।

सूत्र में 'रदाभ्याम्' कहने से 'कृतः कृतवान्' आदि में तकार को नकार आदेश नहीं होता ।

'निष्ठातः' कहने से 'कर्ता, हर्ता' आदि में तृच् के तकार को नकार आदेश नहीं होता ।

चरितम्, चरितवान्, मुदितम्, मुदितवान् आदियों में रेफ और दकार से परे निष्ठा का तकार अव्यवहित नहीं, बीच में इट् का व्यवधान पड़ता है अतः प्रकृतसूत्र से नत्व नहीं होता ।

मद् (मदीँ हर्षे) धातु का निष्ठा मे 'मत्तः, मत्तवान्' बनता है । **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से इट् का निषेध हो जाता है । यहां प्रकृतसूत्र से प्राप्त नत्व का भी **न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) से निषेध हो जाता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (८१७) **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** ।८।२।४३।।

निष्ठातस्य नः स्यात् । द्राणः । ग्लानः ।।

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसी आकारान्त यण्वान् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो ।

व्याख्या—संयोगादेः ।५।१। आतः ।५।१। धातोः ।५।१। यण्वतः ।५।१। निष्ठातः ।६।१। नः ।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो** नः० से) । संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात् संयोगादेः । बहुव्रीहिसमासः । यण् अस्यास्तीति यण्वान्, तस्माद् यण्वतः । **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (५.२.९४) इति मतुप्, **मादुपधायाश्च०** (१०६२) इति मतुपो मकारस्य वकारः । निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः । षष्ठीतत्पुरुषः । 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है । अर्थः –(संयोगादेः) संयोग जिस के आदि में है ऐसी जो (यण्वतः) यण्-वाली (आतः- आदन्ताद् धातोः) आकारान्त धातु, उस से परे (निष्ठात) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश हो जाता है ।

इस सूत्र द्वारा उस धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश किया जाता है जो तीन शर्तें पूरी करती हो—

(१) उस धातु के आदि में संयोग हो ।

(२) उस धातु में कोई यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्ण पाया जाये ।

(३) वह धातु आकारान्त हो ।

इन मे से किसी एक शर्त के भी पूरा न होने पर नत्व न होगा । उदाहरण यथा—

द्राणः (कुत्सित, कृच्छ्रापन्न, दुर्गत) । द्रा कुत्सायां गतौ (अदा०, परस्मै० अनिट्) धातु से भूतकाल में निष्ठाप्रत्यय क्त आ कर 'द्रा+त' हुआ । धातु के एकाच् अनुदात्त होने से इट् का निषेध (४७५) हो जाता है । यहां 'द्रा' यह संयोगादि आकारान्त धातु है इस मे यण् वर्ण (र्) भी विद्यमान है अतः **संयोगादेरातो धातो-**

यण्वतः (८१७) इस प्रकृत सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो कर **अट्-कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार करने से—द्राण। विभक्ति ला कर 'द्राणः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने से 'द्राणवान्' प्रयोग बनेगा।

ग्लानः (खिन्न, दुःखी)। यहां ग्लै हर्षक्षये (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से निष्ठाप्रत्यय 'क्त' की विवक्षामात्र में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) द्वारा धातु के ऐकार को आकार आदेश कर 'क्त' प्रत्यय लाने से—ग्ला+त। धातु के अनुदात्त होने से इट् का आगम नहीं होता। अब यहां 'ग्ला' यह संयोगादि आकारान्त धातु है इस में यण् (ल्) वर्ण भी विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'ग्लानः' प्रयोग सिद्ध होता है। क्तवतु में—ग्लानवान्। इसी तरह म्लै हर्षक्षये से—म्लानः, म्लानवान्; श्रा पाके से—श्राणः, श्राणवान् आदि बनेंगे।

इस सूत्र में 'संयोगादेः' कहने से—यातः, यातवान् आदि में नत्व नहीं होगा।
'आतः' कहने से—च्युतः, च्युतवान् आदि में नत्व नहीं होता।
'यण्वतः' कहने से—स्नातः, स्नातवान् आदि में नत्व नहीं होता।

ध्यै—ध्यातः, ध्यातवान्; ख्या—ख्यातः, ख्यातवान् इत्यादि प्रयोगों में इस सूत्र से प्राप्त नत्व का **न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार मद् (मदी॑ हर्षे, दिवा० परस्मै० सेट्)—मत्तः, मत्तवान्[1] में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से प्राप्त नत्व का भी इसी सूत्र से निषेध हो जाता है।

नोट—ध्यान रहे कि 'द्रा' और 'ग्ला' (ग्लै) अकर्मक धातुएं हैं अतः **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) नियम के अनुसार इन से कर्म में क्त प्रत्यय सम्भव नहीं, वह केवल भाव में ही हो सकता है। परन्तु यदि यहां मूल में भाव में प्रत्यय किया गया होता तो 'द्राणः, ग्लानः' इस प्रकार पुंलिङ्गनिर्देश न होता क्योंकि भाव में तो केवल नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है। अतः इन स्थानों पर **गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्था-ऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्र से कर्त्ता अर्थ में ही क्तप्रत्यय का विधान समझना चाहिये। गत्यर्थक धातु, अकर्मक धातु, श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह् और जॄ धातुओं से भूतकाल में भाव-कर्म के अतिरिक्त कर्त्ता अर्थ में भी क्त प्रत्यय हुआ करता है। यथा—(गत्यर्थक) देवदत्तो ग्रामं गतः। (अकर्मक) ग्लानो देवदत्तः, म्लाना लता, श्रान्तोऽसि, शयितः शिशुः, स्थितोऽस्मि। श्लिष् आदि भी अकर्मक धातुएं हैं इन का सूत्र में पुनरुल्लेख इन के उपसर्गवशात् सकर्मक हो जाने पर भी कर्त्ता में क्त-प्रत्यय के विधान के लिये किया गया है। तद्यथा—(श्लिष्) उपश्लिष्टा वत्सं वानरी; (शीङ्) उपशयितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त गुरु के पास सोया;

---

१. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से यहां इट् का निषेध हो जाता है। सूत्र का अर्थ—टुओँश्वि तथा ईदित् धातु से परे निष्ठा को इट् आगम नहीं होता।

(स्था) उपस्थितो गुरुं भवान् -आप गुरु के समीप उपस्थित हुए; (आस्) उपासितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त ने गुरु की उपासना की; (वस्) अनूषितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त गुरु के पास रहा; (जन्) अनुजातः कन्यां पुत्रः—कन्या के बाद पुत्र पैदा हुआ; (रुह्) आरूढो वृक्षं देवदत्तः—देवदत्त वृक्ष पर चढ़ा; (जॄ) अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः—देवदत्त वृषली के पीछे जीर्ण हो गया। इन सब में कर्त्तरि 'क्त' हुआ है। इन से भाव और कर्म में भी यथासम्भव क्त होता है। इस के उदाहरण काशिकादि में देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८१८) ल्वादिभ्यः ।८।२।४४॥**

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः[1] प्राग्वत्। लूनः। ज्या धातुः। ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम्॥

अर्थ—लूञ् आदि इक्कीस धातुओं से परे निष्ठा के तकार के स्थान पर नकार आदेश हो।

व्याख्या—ल्वादिभ्यः।५।३। निष्ठातः।६।१। नः।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। लू आदिर्येषां ते ल्वादयस्तेभ्यो ल्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(ल्वादिभ्यः) लू आदियों से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है।

---

१ 'विंशति' से 'नवनवति' पर्यन्त सब शब्द स्त्रीलिङ्ग में तथा शत, सहस्र आदि शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। विंशति आदि शब्दों का दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—(१) संख्येय या विशेषणरूप से। (२) केवल संख्यारूप से। जब इन शब्दों का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य होता है तब विशेषणरूप से प्रयुक्त ये शब्द संख्येय माने जाते हैं। यथा—विंशतिर्गावः (बीस गौएं), त्रिंशच्छात्राः (तीस विद्यार्थी), पञ्चाशत् फलानि (पचास फल), विंशतये गोभ्यः (बीस गौओं के लिये), त्रिंशता छात्रैः (तीस छात्रों के द्वारा)। इस स्थिति में ये शब्द स्त्रीलिङ्ग तथा नित्य एकवचनान्त होते हैं। विशेष्य के अनुसार केवल इन की विभक्ति ही बदलती है वचन नहीं। परन्तु जब इन का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होता तब ये संख्येय को न कह कर केवल संख्या को ही कहते हैं। इस अवस्था में इन का सब वचनों में प्रयोग किया जाता है परन्तु लिङ्ग तब भी स्त्रीलिङ्ग ही रहता है। यथा—ब्राह्मणानां विंशतिः (ब्राह्मणों का एक बीसा), छात्राणां द्वे विंशती (छात्रों के दो बीसे), तिस्रो विंशतयो गवाम् (गौओं के तीन बीसे) आदि। ऊपर मूल में 'एकविंशतेर्लूञादिभ्यः' इस स्थल पर 'एकविंशति' शब्द का संख्येयरूप में प्रयोग हुआ है।

विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येय-संख्ययोः।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः॥ (अमरकोष २.९.८३)

ल्वादि इक्कीस धातुएं हैं जो पाणिनीय धातुपाठ के क्र्यादिगण में 'वृत्' द्वारा बताई गई हैं[1]। उदाहरण यथा -

लूनः (काटा हुआ)। यहां 'लूञ् छेदने' (काटना; क्र्या० उभय० सेट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) द्वारा कर्म में क्त प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर —लू+त। **श्र्युकः किति** (६५०) से इट् का निषेध तथा प्रत्यय के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का भी निषेध हो जाता है। अब प्रकृत **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश हो कर —लून। विभक्ति लाने से—लूनः। इसी तरह कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर—'लूनवान्' (काट चुका) बनेगा।

अन्य उदाहरण यथा—ज्या वयोहानौ (बूढ़ा होना; क्र्या० परस्मै० अनिट्०; ल्वाद्यन्तर्गत) धातु से भूतकाल मे कर्त्ता में निष्ठाप्रत्यय क्त करने पर—ज्या+त। **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इण्निषेध हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण **ग्रहिज्या०** (६३४) सूत्रद्वारा 'ज्या' के यकार को सम्प्रसारण इकार किया तो—ज् इ आ+त। **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश—जि+त। इस स्थिति में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८१९) हलः ।६।४।२।।

अङ्गावयवाद् हलः परं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः। जीनः।।

अर्थः—अङ्ग के अवयव हल् से परे जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—हलः।५।१। सम्प्रसारणस्य।६।१। [**सम्प्रसारणस्य** (६.३.१३९) से] दीर्घः।१।१। (**ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से)। अङ्गस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। **अङ्गस्य** इस अधिकृत की आवृत्ति की जाती है। एक 'अङ्गस्य' अवयवावयविभाव से 'हलः' के साथ सम्बद्ध हो जाता है—अङ्गस्यावयवो यो हल् तस्मात्। दूसरे 'अङ्गस्य' का 'सम्प्रसारणस्य' यह विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'सम्प्रसारणान्तस्य

---

१. पीछे **प्वादीनां ह्रस्वः** (६९०) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में हम ने प्वादिगण का सार्थ विवेचन किया है। उस में यदि प्रथम पूञ् धातु को छोड़ दें तो शेष सब ल्वादिगणान्तर्गत हो जाती हैं। वहां पर चौबीस धातुएं गिनाई गई थीं, पूञ् को छोड़ देने से इस प्रकार तेईस (२३) धातुएं ल्वादियों के अन्तर्गत आ जाती हैं। यहा मूल में जो 'एकविंशतेर्लूञादिभ्यः' कहा गया है वह वहां 'ज़ृ वयोहानौ' धातु के दो पाठ भेदों (भ्रॄ, धॄ) को छोड़ देने के कारण समझना चाहिए। यदि उन पाठभेदों को भी पृथक् पृथक् धातु मान लें तो प्वादिगण में चौबीस और ल्वादिगण में तेईस धातु होंगी। अन्यथा प्वादिगण में बाईस और ल्वादिगण में इक्कीस धातुएं समझी जायेंगी।

अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः--(अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (हलः) जो हल् उस से परे (सम्प्रसारणस्य--सम्प्रसारणान्तस्य) जो सम्प्रसारण, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। **अचश्च** (१.२.२८) और **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ अन्त्य अच् अर्थात् सम्प्रसारण के अच् को ही होगा। उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'जि+त' यहां जकार=हल् अङ्ग का अवयव है। इस से परे 'इ' यह सम्प्रसारण है अतः तदन्त अङ्ग 'जि' के अन्त्य इकार को दीर्घ हो कर—जी+त। अब **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'जीनः' (जीर्ण हो चुका, बूढ़ा) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्तवतुँ प्रत्यय में 'जीनवान्' (जीर्ण हो चुका, बूढ़ा) प्रयोग बनेगा।

इस सूत्र में 'हलः' को 'अङ्गस्य' के साथ इस लिये सम्बद्ध किया गया है कि 'दुरुतम्' 'दुरुतवान्' यहां दुर् उपसर्ग के हल् रेफ से परे वेञ् धातु के सम्प्रसारण उकार को दीर्घ न हो जाये।

'हलः' इस लिये कहा है कि 'उत' 'उतवान' इत्यादियों में बिना हल् से परे वेञ् धातु के सम्प्रसारण उकार को दीर्घ न हो जाये।

'तदन्तस्य' इसलिये कहा है कि ('विद्धः' बींधा गया, व्यध्+क्त; **ग्रहिज्ये**ति सम्प्रसारणे धत्व-जश्त्वे) आदि में जहां सम्प्रसारणान्त अङ्ग नहीं वहां दीर्घ न हो जाये।

[लघु०] विधिसूत्रम् (८२०) ओदितश्च ।८।२।४५॥

भुजोँ—भुग्नः। टुओँश्वि—उच्छूनः॥

अर्थः—ओदित् (ओकार जिसका इत् है ऐसी) धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

व्याख्या—ओदितः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । निष्ठातः ।६।१। नः ।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। ओद् (ओकारः) इद् यस्य स ओदित्, तस्माद् ओदितः, बहुव्रीहिसमासः। निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः। निष्ठा का धातु से ही विधान किया गया है अतः 'ओदितः' से ओदित् धातु का ही ग्रहण होता है। अर्थः—(ओदितः) ओकार जिस का इत् है ऐसी धातु से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

भुग्नः (टेढ़ा किया गया, मरोड़ा गया)। भुजोँ कौटिल्ये (तुदा० परस्मै० अनिट्) धातु का ओकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, भुज् मात्र अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार यह धातु ओदित् है। इस ओदित् धातु से भूतकाल मे **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्म में क्त प्रत्यय करने पर भुज्+त। धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो जाता है। अब प्रकृत **ओदितश्च** (८२०) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश तथा इस नत्व के असिद्ध होने से झल् (त्) वर्ण के परे रहते **चोः कुः** (३०६) सूत्र द्वारा भुज् के जकार को कुत्वेन गकार आदेश

कर विभक्ति लाने से 'भुग्नः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी तरह कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'भुग्नवान्' की सिद्धि होती है।

दूसरा उदाहरण यथा—उच्छूनः (फूला हुआ, सूजा हुआ)। टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (गमन करना, बढ़ना-फूलना सूजना; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु के 'टु' और 'ओँ' अनुबन्धों का लोप हो कर 'श्वि' मात्र अवशिष्ट रहता है। उद्पूर्वक 'श्वि' धातु से भूतकाल में कर्ता अर्थ में निष्ठाप्रत्यय 'क्त' के लाने से— उद् √श्वि + त। धातु सेट् है परन्तु **श्व्योदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) द्वारा इट् का निषेध हो जाता है। अब **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से यजाद्यन्तर्गत श्वि के वकार को सम्प्रसारण उकार हो कर **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश हो जाता है—उद् √शु + त। पुनः **हलः** (८१६) सूत्र से उकार को दीर्घ तथा प्रकृत **ओदितश्च** (८२०) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश करने पर—उद् √शून। अब **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से दकार को जकार **खरि च** (७४) से उसे चकार तथा **शश्छोऽटि** (७६) से वैकल्पिक छत्व करने से—उच्छून, उच्शून। विभक्ति ला कर 'उच्छूनः, उच्शूनः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार कर्त्रर्थ में क्तवतु प्रत्यय लाने से—उच्छूनवान्, उच्शूनवान् (फूला हुआ, सूजा हुआ) की सिद्धि होती है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

(१) रुज् (रुजोँ रोगे)—रुग्णः रुग्णवान्।
(२) विज् (ओँविजीँ भयचलनयोः)—उद्विग्नः। उद्विग्नवान्।
(३) हा (ओँहाक् त्यागे) हीनः, हीनवान् [**घुमास्था०** (५८०) से ईत्व]।
(४) व्रश्च् (ओँव्रश्चूँ छेदने)—वृक्णः, वृक्णवान् [**ग्रहिज्येति** (६३४) सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे (२५८) **स्कोः०** (३०९) इतिसंयोगादिलोपे कुत्वे नत्वे च रूपसिद्धिः]।

नोट—स्वादय ओदितः यह दिवादिगण के अन्तर्गत एक गणसूत्र है। इस का अभिप्राय यह है कि दिवादिगणान्तर्गत 'षूङ् प्राणिप्रसवे' धातु से ले कर 'व्रीङ् वृणोत्यर्थे' धातु तक सब धातु ओदित् न होते हुए भी ओदित् समझने चाहियें। इस अतिदेश के कारण इन धातुओं से परे भी **ओदितश्च** (८२०) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो जाता है। यथा—षूङ् प्राणिप्रसवे—सूनः, सूनवान्; दूङ् परितापे दूनः, दूनवान्; डीङ् विहायसा गतौ—डीनः, डीनवान्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२१) शुषः कः।८।२।५१॥

निष्ठातस्य कः। शुष्कः॥

अर्थः शुष् (सूखना) धातु से परे निष्ठा के तकार को ककार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—शुषः।५।१। कः।१।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः)। निष्ठातः। ६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। अर्थः—(शुषः) शुष् धातु से परे

(निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (कः) 'क्' आदेश होता है। उदाहरण यथा —

शुष्कः (सूखा हुआ)। शुष शोषणे (सूखना; दिवा० परस्मै० अनिट्) धातु अकर्मक है अतः इस से भूतकाल में कर्तरि क्त प्रत्यय हो जाता है—शुष्+त। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्र से प्राप्त ष्टुत्व के त्रिपादी में पर होने से असिद्ध होने के कारण प्रकृत **शुषः कः** (८२१) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार को ककार आदेश हो कर—शुष्+क्+अ=शुष्क। विभक्ति लाने से 'शुष्कः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी अर्थ में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'शुष्कवान्' प्रयोग बनेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२२) पचो वः।८।२।५२॥

पक्वः। क्षै क्षये[1]—

अर्थः—पच् धातु से परे निष्ठा के तकार को वकार आदेश हो।

व्याख्या—पचः।५।१। वः।१।१। (वकारादकार उच्चारणार्थः)। निष्ठातः।६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः०** से)। अर्थः—(पचः) पच् धातु से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (वः) व् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

पक्वः (पकाया गया)। पच् (डुपचँष् पाके; भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्मणि क्त (त) प्रत्यय करने पर 'पच्+त' इस स्थिति में प्रकृत **पचो वः** (८२२) सूत्र से निष्ठा के तकार को वकार आदेश हो कर 'पच्+व' बना। अब प्रकृत वत्व के त्रिपादी में परत्वेन असिद्ध होने के कारण झल् वर्ण (त्) के परे होने से **चोः कुः** (३०६) सूत्र द्वारा पच् के चकार को कुत्व= ककार करने पर विभक्ति ला कर 'पक्वः' प्रयोग सिद्ध होता है। पक्वः सूपः, पक्व-मन्नम्, पक्वा यवागूः। इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'पक्ववान्' (पका चुका) प्रयोग सिद्ध होता है।

पक्वं फलम् (पका हुआ फल) इत्यादियों में कर्मकर्तृविवक्षा में क्त प्रत्यय का प्रयोग समझना चाहिये।

क्षै क्षये (क्षीण होना, कमजोर होना; भ्वा० प० अनिट्) धातु अकर्मक है अतः **गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थास-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्र से कर्ता अर्थ में भूतकाल में क्त प्रत्यय करने में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से धातु के ऐकार को आकार आदेश हो जाता है। धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो कर 'क्षा+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२३) क्षायो मः।८।२।५३॥

क्षामः॥

अर्थः—क्षै (क्षीण होना) धातु से परे निष्ठा के तकार को मकार आदेश होता है।

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनेक संस्करणों में 'क्षै हर्षक्षये' ऐसा अशुद्ध पाठ मिलता है, यहां का शुद्ध पाठ 'क्षै क्षये' ही है। 'ग्लै म्लै हर्षक्षये' की वासना से कुछ लोग ऐसी अशुद्धि कर देते हैं।

व्याख्या—क्षायः ।५।१। मः ।१।१। (मकारादकार उच्चारणार्थः) । निष्ठातः । ६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से) अर्थः— (क्षायः) क्षै धातु से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (मः) म् आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

'क्षा +त' इस दशा में प्रकृतसूत्र से निष्ठा के त् को म् आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'क्षामः' (क्षीण, कमजोर, कृश) प्रयोग सिद्ध होता है । क्षुधा क्षामः—क्षुत्क्षामः, तृतीयातत्पुरुष; भूख से क्षीण । **क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनम्** (मेघ० ३.१७)। इसी तरह कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर—'क्षामवान्' प्रयोग सिद्ध होता है । इस का अर्थ भी वही है ।

भू सत्तायाम् (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु अकर्मक है अतः इस से क्त प्रत्यय भाव में या कर्त्ता में हो कर **श्र्युकः किति** (६५०) से इट् का निषेध होता है—तेन भूतम्, स भूतः । अनुपूर्वक यह धातु सकर्मक हो जाती है तब इस से कर्म में भी क्त हो जाता है । यथा—तेन दुःखमनुभूतम् ।

'भू' धातु से हेतुमण्णिच् में **हेतुमति च** (७००) सूत्रद्वारा णिच् प्रत्यय के णित्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि औकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से औकार को आव् आदेश हो कर 'भावि' यह णिजन्त रूप निष्पन्न होता है । अब **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से इस की धातुसंज्ञा हो जाती है । 'भावि' यह सकर्मक धातु है । इस से भूतकाल मे **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्मणि क्तप्रत्यय हो कर—भावि +त । धातु के अनेकाच् होने के कारण सेट् होने से **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम हो जाता है—भावि+इत । अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२४) निष्ठायां सेटि ।६।४।५२।।

णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृह हिंसायाम्—

अर्थः—इट्युक्त निष्ठा परे हो तो णि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—निष्ठायाम् ।७।१। सेटि ।७।१। णेः ।६।१। (**णेरनिटि** से) । लोपः । १।१। (**अतो लोपः** से) । इटा सह वर्त्तत इति सेट्, तस्मिन् सेटि । बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(सेटि निष्ठायाम्) सेट् निष्ठा परे होने पर (णेः) णि का (लोपः) लोप हो जाता है । ध्यान रहे कि इट् परे होने से **णेरनिटि** (५२९) द्वारा णि का लोप प्राप्त नहीं था, अतः इस से विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'भावि+इत' यहां सेट् निष्ठा परे है अतः **निष्ठायां सेटि** (८२४) सूत्र से णि (इ) का लोप हो कर—भाव्+इत—भावित । अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमा के एकवचन में सकार को रुँत्व-विसर्ग हो कर 'भावितः' (हुवाया हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार 'भावि' इस णिजन्त धातु से भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्तवतु (तवत्) प्रत्यय करने पर उसे इट् का आगम हो कर—भावि

+इतवत् । प्रकृतसूत्र से णि का लोप हो जाता है—भाव्+इतवत्=भावितवत् । अब इस कृदन्त से सुँ प्रत्यय लाने पर अत्वसन्तस्य चाऽधातोः (३४३) से अत्वन्त की उपधा को दीर्घ, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८६) से नुँम् का आगम, हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्त तकार का भी लोप करने से 'भावितवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—हुवा चुका अर्थात् जो होने की प्रेरणा दे चुका है।

इस सूत्रद्वारा स्वार्थ तथा हेतुमत् उभयविध णिजन्तों में सेट् निष्ठा के परे होने पर णि का लोप हो जाता है।

स्वार्थणिजन्तों के कुछ उदाहरण यथा—

(१) चोरि (चुर्+णिच्)+इत=चोरितः । क्तवतुँ में—चोरितवान् ।
(२) पीडि (पीड्+णिच्)+इत=पीडितः । क्तवतुँ में—पीडितवान् ।
(३) ताडि (तड्+णिच्)+इत=ताडितः । क्तवतुँ में—ताडितवान् ।
(४) कथि (कथ+णिच्)+इत=कथितः । क्तवतुँ में—कथितवान् ।
(५) पालि (पाल्+णिच्)+इत=पालितः । क्तवतुँ में—पालितवान् ।
(६) पूजि (पूज्+णिच्)+इत=पूजितः । क्तवतुँ में—पूजितवान् ।

हेतुमण्णिजन्तों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) कारि (कृ+णिच्)+इत=कारितः । क्तवतुँ में—कारितवान् ।
(२) दर्शि (दृश्+णिच्)+इत=दर्शितः । क्तवतुँ में—दर्शितवान् ।
(३) पाठि(पठ्+णिच्)+इत=पाठितः[1] । क्तवतुँ में—पाठितवान् ।
(४) पाति (पत्+णिच्)+इत=पातितः[2] । क्तवतुँ में—पातितवान् ।
(५) श्रावि (श्रु+णिच्)+इत=श्रावितः । क्तवतुँ में—श्रावितवान् ।

दृह हिंसायाम् (भ्वा० परस्मै० सेट्) । दृह् धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी के सब मुद्रितसंस्करणों में 'दृह हिंसायाम्' यह पाठ पाया जाता है। परन्तु यह पाठ नितान्त प्रामादिक है। क्योंकि पाणिनीय धातुपाठ के किसी व्याख्याता ने दृह् धातु का यह अर्थ नहीं लिखा है। सब व्याख्याता 'दृह वृद्धौ' पाठ को ही एकस्वर से कहते चले आ रहे हैं। शायद 'तृह हिंसायाम्' इस रौधादिक धातु के ध्यान में यह पाठ अशुद्ध लिखा गया हो। चाहे कारण कोई रहा हो यह पाठ अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'दृह वृद्धौ' (बढ़ना) पाठ ही उचित और शुद्ध है।

दृह् धातु अकर्मक है अतः इस से भाव या कर्त्ता में भूतकाल में क्त प्रत्यय करने पर धातु के सेट् होने से इट् का आगम हो कर 'दृहित' रूप बनता है। तेन दृहितम् । दृहितो देवदत्तः ।

---

१. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ (चाणक्यनीति २.११)

२. कुस्थाः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः । (पञ्चतन्त्रे)

इसी धातु से विशेष अर्थों में 'दृढ' रूप बनाने के लिये अब अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२५) दृढः स्थूल-बलयोः । ७।२।२०॥

स्थूले बलवति च निपात्यते ॥

अर्थः—स्थूल और बलवान् अर्थों में 'दृढ' शब्द निपातन किया जाता है।

व्याख्या—दृढः ।१।१। स्थूलबलयोः ।७।२। बलमस्त्यस्येति बलः, **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९१) इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। स्थूलश्च बलश्च स्थूलबलौ, तयोः स्थूलबलयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(स्थूल-बलयोः) स्थूल अर्थ में या बलवान् अर्थ में (दृढः) 'दृढ' शब्द प्रयुक्त होता है। यहां स्थूल और बलवान् अर्थों में 'दृढ' यह बना-बनाया शब्द निपातित किया जा रहा है। जब कोई कार्य सूत्रों से सिद्ध नहीं होता तब सूत्रकार स्वयं सब कार्य कर अपने मन में शब्द बना कर उसे अपने सूत्रों में पढ़ देते हैं तो इसे निपातन कहा जाता है। सूत्रकार के इन निपातनों में भी वैयाकरण विश्लेषण किया करते हैं कि सूत्रों द्वारा असिद्ध ऐसे कौन-कौन से कार्य हैं जो यहां आचार्यद्वारा किये गये हैं। यहां प्रकृत में दृह् धातु से 'दृढ' शब्द भी सामान्यप्रक्रिया से सिद्ध नहीं होता था, उस से तो 'दृहित' शब्द बनता था जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं। 'दृढ' शब्द को निपातन करते हुए आचार्य ने तीन कार्य किये हैं—

(१) 'दृह्+त' में धातु के सेट् होने पर भी इट् का अभाव।

(२) 'दृह्+त' में हकार का लोप।

(३) 'दृ+त' में तकार को ढकार।

'दृढ' शब्द को कुछ लोग दृंह् (दृहिँ वृद्धौ; बढ़ना; भ्वा० पर० सेट्) धातु से भी निष्पन्न मानते हैं। तब उपर्युक्त तीन कार्यों के अतिरिक्त नुँम् का लोप भी निपातन कार्यों में गिना जायेगा।

'दृढ' शब्द का निपातन सार्वत्रिक नहीं। किन्तु स्थूल (मोटा) और बलवान् इन दो अर्थों तक ही सीमित है। स्थूल अर्थ में चाहे वह बलवान् न भी हो 'दृढ' शब्द प्रयुक्त होगा। इसी तरह बलवान् अर्थ में चाहे वह आपाततः कृश भी क्यों न हो 'दृढ' शब्द का प्रयोग होगा। यदि ये अर्थ अभिप्रेत नहीं होंगे तो 'दृढ' शब्द न बनकर सामान्यप्रक्रिया के अनुसार दृह् से 'दृहित' या दृंह् से 'दृंहित' बनेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२६) दधातेर्हिः ७।४।४२॥

तादौ किति। हितम् ॥

अर्थः—तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः) धातु के स्थान पर 'हि' आदेश हो।

व्याख्या—दधातेः ।६।१। हिः ।१।१। ति ।७।१। किति ।७।१। (**द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** से)। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है]। 'दधातेः' यह 'दधाति' प्रातिपदिक का षष्ठ्यन्त रूप है जो डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उभय०

अनिट्) धातु से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय करने पर बनता है; इस का अर्थ है—धा धातु। 'ति' यह 'किति' का विशेषण है। **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** के अनुसार इस से तदादिविधि हो कर 'तकारादौ किति' बन जाता है। 'अङ्गस्य' अधिकार के कारण 'तकारादौ किति' को प्रत्यय ही समझना चाहिये। अर्थः—(ति=तकारादौ) तकार जिस के आदि में हो ऐसे (किति प्रत्यये) कित् प्रत्यय के परे होने पर (दधातेः) डुधाञ् धातु के स्थान पर (हिः) 'हि' आदेश हो जाता है। 'हि' आदेश में एक से अधिक अल् हैं अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा यह सम्पूर्ण 'धा' के स्थान पर होगा। उदाहरण यथा—

धा (डुधाञ् धारण-पोषणयोः; जुहो० उ० अनिट्) धातु से भूतकाल में कर्म में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्त प्रत्यय करने पर धातु के अनुदात्त होने के कारण इट् का निषेध हो जाता है—धा+त। अब **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) सूत्र से हलादि कित् आर्धधातुक क्त प्रत्यय के परे होने से धा को ईत्व प्राप्त होता है। इस पर प्रकृत **दधातेर्हिः** (८२६) सूत्र से उस का बाध हो कर सम्पूर्ण धा के स्थान पर 'हि' आदेश हो जाता है—हित। पुनः कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विभक्ति लाने से 'हितम्' (धारण किया हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्तवतु में 'हितवान्' (धारण कर चुका हुआ) बनेगा। उपसर्गयोग में—विहितम्, विहितवान्; निहितम्, निहितवान्; अभिहितम्, अभिहितवान् आदि। **नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्** (हितोप०)। **दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः** (रघु० ४.१)। **सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्** (नीतिशतक १०)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२७) दो दद् घोः ।७।४।४६॥

घुसञ्ज्ञकस्य दा इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्—दत्तः॥

अर्थः—तकारादि कित् प्रत्यय के परे होने पर घुसञ्ज्ञक 'दा' धातु के स्थान पर 'दद्' आदेश हो जाता है। चर्त्वम्—**खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

व्याख्या—दः।६।१। दद्।१।१। घोः।६।१। ति।७।१। किति।७।१। (**द्यति-स्यति-मा-स्थामित् ति किति** से)। 'दा' शब्द का षष्ठी के एकवचन में **आतो धातोः** (१६७) से आकार का लोप हो कर 'दः' यह रूप बनता है। 'ति' यह 'किति' का विशेषण है अतः पूर्ववत् तदादिविधि हो कर 'तादौ किति' बन जाता है। अर्थः—(ति=तादौ) तकार जिस के आदि में है ऐसे (किति) कित् प्रत्यय के परे होने पर (घोः) घुसंज्ञक (दः) दा धातु के स्थान पर (दद्) दद् आदेश हो जाता है। 'दद्' अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'दा' के स्थान पर आदेश होगा। दाप् और दैप् धातुओं को छोड़ कर दारूप वाले और धारूप वाले धातुओं की घुसञ्ज्ञा होती है—यह पीछे **दाधा घ्वदाप्** (६२३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। सूत्र का उदाहरण यथा—

दा (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु घुसंज्ञक है और सकर्मक भी। इस से भूतकाल के अर्थ में **कर्मणि निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्त प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप तथा धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध करने पर—दा+त।

अब **घु-मा-स्था०** (५८८) द्वारा प्राप्त ईत्त्व का बाध कर प्रकृतसूत्र से 'दा' के स्थान पर 'दद्' सर्वादेश हो जाता है—दद् + त । पुनः **खरि च** (७४) से दकार के स्थान पर चर्त्व से तकार हो कर—दत्त । विभक्ति लाने से—'दत्तः' (दिया गया) प्रयोग सिद्ध होता है[1] । इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतुँ प्रत्यय करने पर—'दत्तवान्' (दे चुका हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है ।

सूत्र में 'घोः=घुसंज्ञक के स्थान पर' इस लिये कहा है कि—'अवदातं मुखम्' [साफ़ किया हुआ मुख; यहां अवपूर्वक 'दैप् शोधने' धातु के ऐकार को **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से आत्व कर क्तप्रत्यय किया गया है। ध्यान रहे कि **दाधा घ्वदाप्** (६२३) द्वारा घुसंज्ञा करने में दाप्-दैप् धातुओं को वर्जित माना गया है] इत्यादि में घुसंज्ञा न होने से दद् आदेश न हो जाये ।

'दः' इसलिये कहा है कि 'धीतः, धीतवान्' (धेट् पाने + क्त वा क्तवतु) इत्यादि में घुसंज्ञक 'धा' को दद् आदेश न हो जाये ।

दो दद्घोः सूत्रद्वारा विधीयमान आदेश के स्वरूप के विषय में चार प्रकार के मत सम्भव हो सकते हैं—

तकारान्त आदेश—दत् (दत् + घोः = दद्घोः) ।
दकारान्त आदेश—दद् (दद् + घोः = दद्घोः) ।
धकारान्त आदेश—दध् (दध् + घोः = दद्घोः) ।
थकारान्त आदेश—दथ् (दथ् + घोः = दद्घोः) ।

इन सब में जश्त्व करने से सूत्रस्थ 'दद्घोः' निर्देश उपपन्न हो सकता है । इस स्थिति में इस आदेश का युक्त स्वरूप क्या है इस जिज्ञासा में भाष्य में एक प्राचीन कारिका उद्धृत की गई है—

> तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम् ।
> धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः ॥ (विद्युन्मालावृत्तम्)

अर्थात् यदि इस आदेश को तान्त 'दत्' इस प्रकार मानें तो 'वि + दत्तम्' में **दस्ति** (७.३.१२३)[2] सूत्र के द्वारा उपसर्ग को दीर्घ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । यदि इस आदेश को दान्त 'दद्' इस प्रकार मानें तो 'दद् + त' इस अवस्था में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) सूत्र से नत्व हो कर 'दन्न' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जायेगा । यदि इस आदेश को धकारान्त 'दध्' इस तरह का मानें तो 'दध् + त'

---

१. स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ (रघु० ४.१) ।

२. दस्ति (६.३.१२३) सूत्र का दो प्रकार का अर्थ किया जाता है—
(१) इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है 'दा' के स्थान पर होने वाले तकारान्त उत्तरपद के परे होने पर । (२) इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है 'दा' के स्थान पर होने वाले तकारादि उत्तरपद के परे होने पर । सूत्र के प्रथम अर्थ में 'विदत्तम्' में उपसर्ग को अनिष्ट दीर्घ प्राप्त होता है दूसरे अर्थ में नहीं ।

इस स्थिति में **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४६) से क्त के तकार को धत्व प्राप्त होगा जो नितान्त अनभीष्ट है। अब यदि इस आदेश को थान्त 'दथ्' इस प्रकार का मानें तो कहीं कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता अतः इस आदेश को थान्त मानना ही उचित है।

परन्तु काशिकाकार आदि अनेक वैयाकरण इन सब दोषों का परिहार अत्यन्त सरल उपायों से करते हैं। तथाहि—इसे तान्त (दत्) मानने पर भी 'विदत्तम्' में **दस्ति** (६.३.१२३) द्वारा उपसर्ग के इक् को दीर्घ नहीं हो सकता, क्योंकि 'दस्ति' सूत्र का यह अर्थ किया जायेगा—उपसर्ग के इक् को दीर्घ हो दा धातु के स्थान पर होने वाले तकारादि उत्तरपद के परे होने पर। 'वि+दत्तम्' में तकारादि उत्तरपद नहीं अपितु दकारादि है अतः दीर्घ प्राप्त ही न होगा। इसे दान्त और धान्त मानने पर क्रमशः जो नत्व और धत्व दोष गिनाये गये हैं उन का परिहार **सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य** परिभाषा से हो जाता है। इस परिभाषा का विवेचन (१६१) सूत्र पर सोदाहरण कर चुके हैं। इस प्रकार आदेश को चाहे किसी भी प्रकार का (दत्, दद्, दध्, दथ्) मान लें कहीं कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

लघुकौमुदी में निष्ठाप्रकरण यहां पर समाप्त होता है। अब हम विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी अढ़ाई सौ क्त वा क्तवतु प्रत्ययान्तों की अर्थसहित एक सटिप्पण तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं जिस के अभ्यास से विद्यार्थी निश्चय ही निष्ठाप्रत्ययान्त रूपों में शीघ्र ही निपुणता प्राप्त कर सकेंगे—

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
अर्च् [पूजा करना]	अर्चितः=पूजा गया;	अर्चितवान्=पूजा कर चुका
अस् [होना]	भूतः[1]=हो चुका;	भूतवान्=हो चुका
आप् [पाना]	प्राप्तः=पाया गया;	प्राप्तवान्=पा चुका
आस् [बैठना]	आसितः=बैठा हुआ;	आसितवान्=बैठ चुका
इ(ङ्) [पढ़ना]	अधीतः[2]=पढ़ा गया;	अधीतवान्—पढ़ चुका
इ(ण्) [जाना]	इतः=गया हुआ;	इतवान्=जा चुका
इष् [चाहना]	इष्टः[3]=चाहा गया;	इष्टवान्=चाह चुका
ईक्ष् [देखना]	ईक्षितः=देखा गया;	ईक्षितवान्=देख चुका
एध् [बढ़ना]	एधितः=बढ़ा हुआ;	एधितवान्=बढ़ चुका
कथ् [कहना]	कथितः*=कहा गया;	कथितवान्=कह चुका
कम्प् [कांपना]	कम्पितः=कांपा हुआ;	कम्पितवान्=कांप चुका

१. **अस्तेर्भूः** (५७६)। **श्र्युकः क्किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

२. प्रसिद्धत्वादनिर्दिष्टोऽप्युपसर्गयोगो रूपेषु यथायथं स्वयं बोध्यः।

३. **तीषसह०** (६५७) इति वेट्कत्वेन **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायाम् इड् निषिध्यते।

* एवंचिह्नितेषु सर्वत्र **निष्ठायां सेटि** (८२४) इति णेर्लोपो बोध्यः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुप्रत्ययान्त
काङ्क्ष् [चाहना]	काङ्क्षितः = चाहा गया;	काङ्क्षितवान् = चाह चुका
काश् [चमकना]	प्रकाशितः = चमका हुआ;	प्रकाशितवान् = चमक चुका
कुप् [क्रुद्ध होना]	कुपितः = क्रुद्ध हुआ;	कुपितवान् = क्रुद्ध हो चुका
कृ [करना]	कृतः = किया गया;	कृतवान् = कर चुका
कृत् [काटना]	कृत्तः[1] = काटा गया;	कृत्तवान् = काट चुका
क्री [खरीदना]	क्रीतः = खरीदा गया;	क्रीतवान् = खरीद चुका
क्रीड् [खेलना]	क्रीडितः = खेल चुका;	क्रीडितवान् = खेल चुका
क्रुध् [क्रुद्ध होना]	क्रुद्धः[2] = क्रुद्ध हुआ;	क्रुद्धवान् = क्रुद्ध हो चुका
क्षल् [धोना]	क्षालितः* = धुला हुआ;	क्षालितवान् = धो चुका
क्षि [नष्ट होना]	क्षीणः[3] = क्षीण हुआ; क्षितः = नष्ट किया;	क्षीणवान् = क्षीण हो चुका क्षीणवान् = नाश कर चुका
क्षिप् [फेंकना]	क्षिप्तः = फेंका गया;	क्षिप्तवान् = फेंक चुका
खण्ड् [तोड़ना]	खण्डितः* = तोड़ा गया;	खण्डितवान् = तोड़ चुका
खाद् [खाना]	खादितः = खाया गया;	खादितवान् = खा चुका
खिद् [दुःखी होना]	खिन्नः[4] = दुःखी हुआ;	खिन्नवान् = दुःखी हो चुका
ख्या [कहना][5]	ख्यातः = कहा गया;	ख्यातवान् = कह चुका
गण् [गिनना]	गणितः* = गिना गया;	गणितवान् = गिन चुका
गद् [कहना]	गदितः = कहा गया;	गदितवान् = कह चुका
गम् [जाना]	गतः[6] = गया हुआ;	गतवान् = जा चुका
गर्ज् [गरजना]	गर्जितः = गरजा हुआ;	गर्जितवान् = गरज चुका
गर्ह् [निन्दा करना]	गर्हितः = निन्दा किया गया;	गर्हितवान् = निन्दा कर चुका
गवेष् [ढूंढना]	गवेषितः* = ढूंढा हुआ;	गवेषितवान् = ढूंढ चुका

१. 'कृती॑ कर्तने'। ईदित्त्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

२. **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम्।

३. क्षीण इति। कर्त्तरि क्तः। **निष्ठायामण्यदर्थे** (६.४.६०)—भावकर्मणोऽन्यत्र निष्ठायां क्षियो दीर्घः। **क्षियो दीर्घात्** (८.२.४६) इति निष्ठानत्वम्। **क्षित** इति। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र क्षयतिस्तेन कर्मणि प्रत्ययः। भावे तु—तेन **क्षितम्**।

४. **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठातकारस्य धातोर्दकारस्य च नत्वम्।

५. यहां **चक्षिङः ख्याञ्**(२.४.५४) सूत्र से चक्षिङ् के स्थान पर ख्या आदेश हुआ समझना चाहिये। ख्या प्रकथने (अदा० प०) धातु का आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग नहीं होता—वैयाकरण निकाय में यह प्रसिद्धि है।

६. **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
गुञ्ज् [गूंजना]	गुञ्जितः=गूंज चुका;	गुञ्जितवान्=गूंज चुका
गुप् [रक्षा करना]	गोपायितः[1] बचाया गया; गुप्तः=बचाया गया;	गोपायितवान्=बचा चुका गुप्तवान्=बचा चुका
गुम्फ् [गूंथना]	गुफितः[2]=गूंथा गया;	गुफितवान्=गूंथ चुका
गुह् [छुपाना]	गूढः[3]=छुपाया गया;	गूढवान्=छुपा चुका
गृध् [लालची होना]	गृद्धः[4]=लालची हुआ;	गृद्धवान्=लालची हो चुका
गॄ [निगलना]	गीर्णः[5]=निगला हुआ;	गीर्णवान्=निगल चुका
गै [गाना]	गीतः[6]=गाया हुआ;	गीतवान्=गा चुका
ग्रन्थ् [गूंथना]	ग्रथितः[7]=गूंथा गया;	ग्रथितवान्=गूंथ चुका
ग्रस् [निगलना]	ग्रस्तः[8]—निगला गया;	ग्रस्तवान्—निगल चुका
ग्रह् [ग्रहण करना]	गृहीतः[9]=ग्रहणकिया गया;	गृहीतवान्=ग्रहण कर चुका
ग्लै [दुःखी होना]	ग्लानः[10]=दुःखी हुआ;	ग्लानवान् दुःखी हो चुका
घुष् [घोषणा करना]	घोषितः*=घोषित किया;	घोषितवान्=घोषणा कर चुका
घ्रा [सूंघना]	घ्राणः[11]=सूंघा गया; घ्रातः=सूंघा गया;	घ्राणवान्=सूंघ चुका घ्रातवान्=सूंघ चुका
चर् [करना]	आचरितः=किया गया;	आचरितवान्=कर चुका
चर्व् [चबाना]	चर्वितः=चबाया गया;	चर्वितवान्=चबा चुका

१. आयपक्षे—गोपायितः। आयाऽभावपक्षे—ऊदित्वाद् विकल्पितेट्कत्वेन निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः।

२. गुन्फ् धातुर्नोपधः, तेन **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपः। गुम्फित इति प्रयोगस्तु ण्यन्ताद् बोध्यः।

३. गुहूँधातोरूदित्त्वाद् वेट्कत्वेन निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपेषु **ढ्रलोपे०** (११२) इति दीर्घः।

४. गृधुँधातोरुदित्त्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। गृधिरकर्मकः।

५. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्न। इत्त्वरत्वयोः **हलि च** (६१२) इत्युपधादीर्घः। **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठानत्वे णत्वम्।

६. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वे **घुमास्थागा०** (५८८) इतीत्त्वम्।

७. उपधानकारलोपः (३३४)।

८. ग्रसुँधातुरुदित् तेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायां **यस्य विभाषा** (६.२.१५) इतीण्न।

९. इटि **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणे **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६६३) इति इटो दीर्घः।

१०. आत्वे **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वम्।

११. **नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्** (८.२.५६) इति नत्वविकल्पः। नत्वे णत्वम्।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
चल् [चलना]	चलितः = चला हुआ;	चलितवान् = चल चुका
चि [चुनना]	चितः = चुना गया;	चितवान् = चुन चुका
चिन्त् [सोचना]	चिन्तितः* = सोचा गया;	चिन्तितवान् = सोच चुका
चुम्ब् [चूमना]	चुम्बितः = चूमा गया;	चुम्बितवान् = चूम चुका
चुर् [चुराना]	चोरितः* = चुराया गया;	चोरितवान् = चुरा चुका
चूर्ण् [पीसना]	चूर्णितः* = पीसा हुआ;	चूर्णितवान् = पीस चुका
चेष्ट् [चेष्टा करना]	चेष्टितः = चेष्टा कर चुका;	चेष्टितवान् = चेष्टा कर चुका
च्यु [गिरना]	च्युतः = गिरा हुआ;	च्युतवान् = गिर चुका
छद् [ढांपना]	छन्नः[1] = ढांपा गया; छादितः = ढांपा गया;	छादितवान् = ढांप चुका छादितवान् = ढांप चुका
छिद् [काटना]	छिन्नः[2] = काटा गया;	छिन्नवान् = काट चुका
जन् [पैदा होना]	जातः[3] = पैदा हुआ;	जातवान् = पैदा हो चुका
जप् [जपना]	जपितः[4] = जपा गया; जप्तः = जपा गया;	जपितवान् = जप चुका जप्तवान् = जप चुका
जल्प् [कहना]	जल्पितः = कहा गया;	जल्पितवान् = कह चुका
जागृ [जागना]	जागरितः[5] = जागा हुआ;	जागरितवान् = जाग चुका
जि [जीतना]	जितः = जीता गया;	जितवान् = जीत चुका
जीव् [जीना]	जीवितः = जीवित हुआ;	जीवितवान् = जीवित हो चुका
जुष् [सेवन करना]	जुष्टः[6] = सेवन किया गया;	जुष्टवान् = सेवन कर चुका
जॄ [बूढ़ा होना]	जीर्णः[7] = बूढ़ा हो चुका;	जीर्णवान् = बूढ़ा हो चुका
ज्ञा [जानना]	ज्ञातः = जाना गया;	ज्ञातवान् = जान चुका
तड् [पीटना]	ताडितः* = पीटा गया;	ताडितवान् = पीट चुका
तन् [फैलाना]	ततः[8] = फैलाया गया;	ततवान् = फैला चुका

१. **वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः** (७.२.२७) इत्यनेन 'छन्न' इति वा निपात्यते। निपातनाभावे छादयतेर् 'छादित' इति। क्तवतौ छादितवानित्येव।

२. **रदाभ्याम्०** इति निष्ठानत्वम्।

३. जनीँ प्रादुर्भावे। ईदित्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः। **जनसनखनां सञ्झलोः** (६७६) इति नकारस्यात्वे सवर्णदीर्घः।

४. **आदितश्च** (७.२.१६) इतिसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इति काशिका। तेन सेड्-धातोरपि क्वचिदिडभावः। आगमशास्त्रमनित्यमित्याश्रित्य वेडभावः।

५. **जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु** (७.३.८५) इति गुणः।

६. जुषीँ प्रीतिसेवनयोः। **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

७. पूर्वोक्तगीर्णशब्दवत् प्रक्रिया बोध्या। एवं तीर्णः, दीर्णः।

८. तनुँ विस्तारे। क्त्वायाम् **उदितो वा** (७.२.५६) इतीड्विकल्पनान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्न। **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुंप्रत्ययान्त
तप् [तपाना]	तप्तः=तपाया हुआ;	तप्तवान्=तपा चुका
तर्ज् [झिड़कना]	तर्जितः=झिड़का हुआ;	तर्जितवान्=झिड़क चुका
तुद् [दुःखी करना]	तुन्नः[1]=दुःखी किया गया;	तुन्नवान्=दुःखी कर चुका
तुल् [तोलना]	तोलितः*=तोला गया;	तोलितवान्=तोल चुका
तुष् [प्रसन्न होना]	तुष्टः=प्रसन्न हुआ;	तुष्टवान्=प्रसन्न हो चुका
तृप् [तृप्त होना]	तृप्तः[2]=तृप्त हुआ;	तृप्तवान्=तृप्त हो चुका
तृष् [प्यासा होना]	तृषितः=प्यासा होना;	तृषितवान्=प्यासा हो चुका
तॄ [पार करना]	तीर्णः=पार कर चुका;	तीर्णवान्=पार कर चुका
त्यज् [छोड़ना]	त्यक्तः[3]=छोड़ा गया;	त्यक्तवान्=छोड़ चुका
त्रस् [डरना]	त्रस्तः[4]=डरा हुआ;	त्रस्तवान्=डर चुका
त्रुट् [टूटना]	त्रुटितः[5]=टूटा हुआ;	त्रुटितवान्=टूट चुका
त्रै [पालना]	त्रातः[6]=पाला गया;	त्रातवान्=पाल चुका
दण्ड् [दण्ड देना]	दण्डितः*=दण्ड दिया गया;	दण्डितवान्=दण्ड दे चुका
दंश् [डसना]	दष्टः[7]=डसा गया;	दष्टवान्=डस चुका
दल् [दलना]	दलितः=दला गया;	दलितवान्=दल चुका
दह् [जलाना]	दग्धः[8]=जलाया गया;	दग्धवान्=जला चुका
दा [देना]	दत्तः[9]=दिया गया;	दत्तवान्=दे चुका
दा(प्) [साफ़ करना]	अवदातः[10]=साफ़ किया;	अवदातवान्=साफ़ कर चुका
दिश् [छोड़ना-देना]	दिष्टः[11]=छोड़ा गया;	दिष्टवान्=छोड़ चुका

---

१. **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) इति नत्वम् ।

२. रधादित्वेन वैकल्पिकेट्कत्वान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति नेट् ।

३. **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।

४. त्रसी उद्वेगे । ईदित्त्वादिण्निषेधः ।

५. धातुपाठ में 'त्रुट छेदने' इस प्रकार अर्थ निर्दिष्ट किया गया है पर यह 'टूटना' अर्थ में प्रसिद्ध है । यथा—**यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति** (हितोपदेश) । इस विषय में 'कविकल्पद्रुम' पर दुर्गादासकृतव्याख्या विशेष द्रष्टव्य है ।

६. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वम् । **नुदविदोन्दत्रा०** (८.२.५६) इति नत्व-विकल्पे 'त्राण' इत्यपि ।

७. **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपे षत्वे ष्टुत्वम् ।

८. **दादेर्धातोर्घः** (२५२) इति हस्य घत्वम्, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वम्, **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम् । एवं दिग्ध-दुग्धादिषु प्रक्रिया बोध्या ।

९. **दो दद् घोः** (८२७) इति दास्थाने दद् इति सर्वादेशः ।

१०. **दाधा घ्वदाप्** (६२३) इति घुत्वाभावाद् ददादेशो न । दैप् शोधने ।

११. **व्रश्च०** (३०७) इति षत्वे **ष्टुना ष्टुः** (६४) इति ष्टुत्वम् ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
दिह् [लीपना]	दिग्धः=लीपा गया;	दिग्धवान्=लीप चुका
दीप् [चमकना]	दीप्तः[1] =चमकता हुआ;	दीप्तवान्=चमक चुका
दुष् [दूषित होना]	दुष्टः =दूषित हुआ;	दुष्टवान्=दूषित हो चुका
दुह् [दोहना]	दुग्धः=दोहा गया;	दुग्धवान्=दोह चुका
दृ(ङ्) [आदर करना]	आदृतः=आदृत हुआ;	आदृतवान्=आदर कर चुका
दृप् [अभिमान करना]	दृप्तः=गर्वित हुआ;	दृप्तवान्=गर्व कर चुका
दृश् [देखना]	दृष्टः[2] =देखा गया;	दृष्टवान्=देख चुका
दॄ [फाड़ना]	दीर्णः=फाड़ा गया;	दीर्णवान्=फाड़ चुका
द्विष् [द्वेष करना]	द्विष्टः=द्वेष किया गया;	द्विष्टवान्=द्वेष कर चुका
धा [धारण करना]	हितः[3] =धारण हुआ;	हितवान्=धारण कर चुका
धाव् [भागना]	धावितः[4] =भागा हुआ;	धावितवान्=भाग चुका
धु(ञ्) [कंपाना]	धुतः=कम्पाया गया;	धुतवान्=कम्पा चुका
धू(ञ्) [कंपाना]	धूतः=कम्पाया गया;	धूतवान्=कम्पा चुका
धृ [धारण करना]	धृतः=धारण हुआ;	धृतवान्=धारण कर चुका
ध्मा [धौंकना]	ध्मातः =धौंका गया;	ध्मातवान्=धौंक चुका
ध्यै [ध्यान करना]	ध्यातः[5] =ध्याया गया;	ध्यातवान्=ध्यान कर चुका
ध्वंस् [नष्ट होना]	ध्वस्तः[6] =नष्ट हुआ;	ध्वस्तवान्=नष्ट हो चुका
नन्द् [प्रसन्न होना]	नन्दितः=प्रसन्न हुआ;	नन्दितवान्=प्रसन्न हो चुका
नम् [झुकना]	नतः[7]= झुका हुआ;	नतवान्=झुक चुका
नश् [नष्ट होना]	नष्टः[8] =नष्ट हुआ;	नष्टवान्=नष्ट हो चुका

१. दीपीँ दीप्तौ। ईदित्त्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

२. **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

३. **दधातेर्हिः**(८२६) इति हिरादेशः।

४. धावुँ गतिशुद्धयोः। उदित्त्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायाम् इड्विकल्पनादिह निष्ठायाम् इण्निषेधः। निषेधस्यानित्यत्वमाश्रित्य क्वचिद् इडागमोऽपि भवति—धावितः, धावितवान् इति। इडभावे—वकारस्य ऊठि (८४३) वृद्धौ (३४) धौतम्, धौतवान् इत्यपि बोध्यम्।

५. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्त्वम्। **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वे प्राप्ते न **ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्** (८.२.५७) इति निषेधः।

६. ध्वंसुँधातुः। उदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनादिह निष्ठायाम् इण्निषेधः। **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपः।

७. **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।

८. वलादेरार्धधातुकस्य **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पनाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। ततः षत्वे ष्टुत्वम्।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुंप्रत्ययान्त
नह् [बांधना]	नद्धः[1] = बांधा गया;	नद्धवान् = बांध चुका
निन्द् [निन्दा करना]	निन्दितः = निन्दित;	निन्दितवान् = निन्दा कर चुका
नी [ले जाना]	नीतः = ले जाया गया;	नीतवान् = ले जा चुका
नु [स्तुति करना]	नुतः = स्तुति किया;	नुतवान् = स्तुति कर चुका
नुद् [प्रेरणा देना]	नुन्नः[2] प्रेरित हुआ;	नुन्नवान् = प्रेरणा दे चुका
	नुत्तः प्रेरित हुआ;	नुत्तवान् = प्रेरणा दे चुका
पच् [पकाना]	पक्वः[3] = पकाया गया;	पक्ववान् = पका चुका
पठ् [पढ़ना]	पठितः = पढ़ा गया;	पठितवान् = पढ़ चुका
पत् [गिरना]	पतितः = गिरा हुआ;	पतितवान् = गिर चुका
पद् [जाना]	पन्नः[4] = गया हुआ;	पन्नवान् = जा चुका
पा [पीना]	पीतः[5] = पिया गया;	पीतवान् = पी चुका
पा [रक्षा करना]	पातः = रक्षा किया गया;	पातवान् = रक्षा कर चुका
पाल् [पालना]	पालितः* = पाला गया;	पालितवान् = पाल चुका
पिष् [पीसना]	पिष्टः = पीसा गया;	पिष्टवान् = पीस चुका
पीड् [पीड़ा देना]	पीडितः* = सताया हुआ;	पीडितवान् = सता चुका
पुष् [पुष्ट करना]	पुषितः = पुष्ट किया गया	पुषितवान् = पुष्ट कर चुका
पुष् [पुष्ट होना]	पुष्टः[6] = पुष्ट हुआ;	पुष्टवान् = पुष्ट हो चुका
पू(ञ्) [शुद्ध करना]	पूतः[7] = शुद्ध किया गया;	पूतवान् = शुद्ध कर चुका
पूज् [पूजा करना]	पूजितः* = पूजा गया;	पूजितवान् = पूजा कर चुका
पॄ [पालना]	पूर्तः[8] = पाला गया;	पूर्तवान् = पाल चुका
प्रच्छ् [पूछना]	पृष्टः[9] = पूछा गया;	पृष्टवान् = पूछ चुका

१. **नहो धः** (३५९) इति धकारे तकारस्य धकारे पूर्वस्य जश्त्वम् ।

२. **नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्** (८.२.५६) इति वा नत्वम् ।

३. **पचो वः** (८२२) इति वत्वम् । वत्वस्यासिद्धत्वात् **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।

४. **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) इति नत्वम् । पन्नः = पतितः (पन्नग इत्यत्र पन्नदन्त इत्यत्र च यथा) ।

५. **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) इतीत्वम् ।

६. पुष्यतिरनिट् । अयं सकर्मकोऽकर्मकश्चोभयथा प्रयोग उपलभ्यते । एतद्धातु-प्रकरणेऽनुसन्धेयास्माकीना तत्रत्या टिप्पणी ।

७. **श्र्युकः क्किति** (६५०) इतीण्निषेधः ।

८. **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) इति उत्वे रपरत्वे च **हलि च** (६१२) इत्युपधादीर्घः । **रदाभ्यां०** (८१६) इति प्राप्तस्य नत्वस्य **न ध्याख्यापृ०** (८.२.५७) इति निषेधः ।

९. **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणम् । **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति शकारे षत्व-ष्टुत्वे ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
बन्ध् [बांधना]	बद्धः[1] = बांधा गया;	बद्धवान् = बांध चुका
बाध् [रोकना]	बाधितः = रोका गया;	बाधितवान् = रोक चुका
बुध् [जानना]	बुद्धः[2] = जाना गया;	बुद्धवान् = जान चुका
	प्रबुद्धः = जागा हुआ;	प्रबुद्धवान् = जाग चुका
ब्रू [कहना]	उक्तः[3] = कहा हुआ;	उक्तवान् = कह चुका
भक्ष् [खाना]	भक्षितः* = खाया गया;	भक्षितवान् = खा चुका
भज् [बांटना]	विभक्तः = बांटा गया;	विभक्तवान् = बांट चुका
भण् [कहना]	भणितः = कहा हुआ;	भणितवान् = कह चुका
भञ्ज् [तोड़ना]	भग्नः[4] = तोड़ा गया;	भग्नवान् = तोड़ चुका
भर्त्स् [झिड़कना]	भर्त्सितः* = झिड़का हुआ;	भर्त्सितवान् = झिड़क चुका
भाष् [कहना]	भाषितः = कहा गया;	भाषितवान् = कह चुका
भिक्ष् [मांगना]	भिक्षितः = मांगा गया;	भिक्षितवान् = मांग चुका
भिद् [तोड़ना]	भिन्नः[5] = तोड़ा गया;	भिन्नवान् = तोड़ चुका
भी [डरना]	भीतः = डरा हुआ;	भीतवान् = डर चुका
भुज् [पालना]	भुक्तः = पाला गया;	भुक्तवान् = पाल चुका
[खाना]	भुक्तः = खाया गया;	भुक्तवान् = खा चुका
भू [होना]	भूतः[6] = हो चुका;	भूतवान् = हो चुका
भूष् [सजाना]	भूषितः* = सजाया गया;	भूषितवान् = सजा चुका
भृ [धारण करना]	भृतः = धारण किया गया;	भृतवान् = धारण कर चुका
भ्रंश् [नीचे गिरना]	भ्रष्टः[7] = गिरा हुआ;	भ्रष्टवान् = गिर चुका
भ्रम् [घूमना]	भ्रान्तः[8] = घूम चुका;	भ्रान्तवान् = घूम चुका

१. **अनिदिताम्०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः। **झषस्तथोः०** (५४६) इति धत्वम्। **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम्।
२. दैवादिकोऽयं धातुरनिट्। भौवादिकधातुस्तु सेट्, तेन तस्य बुधितः, बुधितवान् इति बोध्यम्।
३. **ब्रुवो वचिः** (५९६)। **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम्। **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम्।
४. ओदित्त्वाद् उपधानकारलोपे **ओदितश्च** (८२०) इति निष्ठानत्वम्। कुत्वम्।
५. **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठानत्वम्।
६. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः।
७. भ्रंशेरुदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायामिण्निषेधः। उपधानकारलोपे शकारस्य षत्वे ष्टुत्वम्।
८. भ्रमुँधातोरुदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुप्रत्ययान्त
भ्रस्ज् [भूनना]	भृष्टः[1] = भूना हुआ;	भृष्टवान् = भून चुका
मण्ड् [सजाना]	मण्डितः* = सजाया गया;	मण्डितवान् = सजा चुका
मद् [प्रसन्न होना]	मत्तः[2] = प्रसन्न हुआ;	मत्तवान् = प्रसन्न हो चुका
मन्थ् [बिलोना]	मथितः[3] = बिलोया हुआ;	मथितवान् = बिलो चुका
मन् [मानना]	मतः[4] = माना हुआ;	मतवान् = मान चुका
मस्ज् [डूबना]	निमग्नः[5] = डूब चुका;	निमग्नवान् = डूब चुका
मा [मापना]	मितः[6] = मापा हुआ;	मितवान् = माप चुका
मा [अदा० समाना]	मितः = समाया हुआ;	मितवान् = समा चुका
मान् [पूजा करना]	मानितः* = पूजा गया;	मानितवान् = पूजा कर चुका
मिल् [मिलना]	मिलितः = मिला हुआ;	मिलितवान् = मिल चुका
मुच् [छोड़ना]	मुक्तः[7] = छोड़ा गया;	मुक्तवान् = छोड़ चुका
मुष् [लूटना]	मुषितः = लूटा गया;	मुषितवान् = लूट चुका
मुह् [मूढ होना]	मुग्धः[8] = मूढ हुआ;	मुग्धवान् = मूढ हो चुका
	मूढः = मूढ हुआ;	मूढवान् = मूढ हो चुका
मृ [मरना]	मृतः = मरा हुआ;	मृतवान् = मर चुका
मृज् [शुद्ध करना]	मृष्टः[9] = शोधा गया;	मृष्टवान् = शुद्ध कर चुका
म्ना [अभ्यास करना]	आम्नातः = अभ्यास किया;	आम्नातवान् = अभ्यास कर चुका
म्लै [मुरझाना]	म्लानः[10] = मुरझाया हुआ;	म्लानवान् = मुरझा चुका

१. **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, संयोगादिलोपे, षत्वे च ष्टुत्वम् ।
२. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधे **न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्** (८.२.५७) इति नत्वनिषेधः । 'मदी' हर्षे' इतीदिदयं धातुः ।
३. **अनिदितां हल०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः ।
४. **अनुदात्तोपदेश०** (५५६) इत्यनुनासिकलोपः ।
५. **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुमि सकारस्य संयोगादिलोपे, नुमो नकारस्य **अनिदितां हल०** (३३४) इति लोपे **ओदितश्च** (८२०) इति नत्वे तस्यासिद्धत्वेन झल्परत्वात् **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।
६. **द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति** (७.४.४०) इत्यनेन इत्वम् ।
७. **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् । इत्थं युक्त-रिक्त-सिक्तादिषु बोध्यम् ।
८. वलादेरार्धधातुकस्य रधादित्वेनेड्विकल्पनान्निष्ठायाम् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः । **वा द्रुहमुह०** (२५४) इति घत्वपक्षे—मुग्धः, मुग्धवान् इति । ढत्वपक्षे—मूढः, मूढवान् । **ढ्लोपे०** (११२) इति दीर्घः ।
९. मृजूधातोरूदित्वाद्वेट्कत्वेन **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायामिण्न । **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् ।
१०. आत्वे **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वम् ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
यज् [पूजा करना]	इष्टः[1]=पूजा गया	इष्टवान्=पूजा कर चुका
यत् [यत्न करना]	प्रयत्तः[2]=यत्न कर चुका;	प्रयत्तवान्=यत्न कर चुका
	आयत्तः=वश में हुआ;	आयत्तवान्=वश में हो चुका
या [जाना]	यातः=गया हुआ;	यातवान्=जा चुका
याच् [मांगना]	याचितः=मांगा गया;	याचितवान्=मांग चुका
यु [मिलाना]	युतः=मिलाया गया;	युतवान्=मिला चुका
युज् [मिलाना]	युक्तः=मिलाया गया;	युक्तवान्=मिला चुका
युध् [युद्ध करना]	युद्धः=युद्ध कर चुका;	युद्धवान्=युद्ध कर चुका
रक्ष् [बचाना]	रक्षितः=बचाया गया;	रक्षितवान्=बचा चुका
रच् [बनाना]	रचितः*=बनाया गया;	रचितवान्=बना चुका
रट् [रटना]	रटितः=रटा हुआ;	रटितवान्=रट चुका
रभ् [आरम्भ करना]	आरब्धः[3]=शुरु किया;	आरब्धवान्=शुरु कर चुका
रम् [क्रीडा करना]	रतः[4]=खेल चुका;	रतवान्=खेल कर चुका
राज् [चमकना]	राजितः=चमक चुका;	राजितवान्=चमक चुका
रिच् [खाली करना]	रिक्तः=खाली हुआ;	रिक्तवान्=खाली कर चुका
रुद् [रोना]	रुदितः=रो चुका;	रुदितवान्=रो चुका
रुध् [रोकना]	रुद्धः=रोका गया;	रुद्धवान्=रोक चुका
रुष् [क्रोध करना]	रुष्टः=क्रुद्ध हुआ;	रुष्टवान्=क्रुद्ध हो चुका
रुह् [बढ़ना]	आरूढः[5]=चढ़ चुका;	आरूढवान्=चढ़ चुका
लभ् [पाना]	लब्धः=पाया गया	लब्धवान्=पा चुका
लिख् [लिखना]	लिखितः=लिखा हुआ;	लिखितवान्=लिख चुका
लिप् [लीपना]	लिप्तः=लिपा हुआ;	लिप्तवान्=लीप चुका
लिह् [चाटना]	लीढः=चाटा हुआ;	लीढवान्=चाट चुका
लू [काटना]	लूनः[6]=काटा हुआ	लूनवान्=काट चुका
लोक् [देखना]	अवलोकितः=देखा गया;	अवलोकितवान्=देख चुका
लोच् [देखना]	लोचितः=देखा गया;	लोचितवान्=देख चुका

१. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणे षत्वे ष्टुत्वम्।
२. यती॑ धातोः श्वीदितो निष्ठायाम् (७.२.१४) इतीण्निषेधः। दकाराभावान्न निष्ठानत्वम्।
३. झषस्तथोः० (५४९) इति धत्वे झलां जश् झशि (१९) इति जश्त्वम्। आङ् उपसर्गः। एवम्—लब्ध-युद्धादिषु बोध्यम्।
४. अनुदात्तोपदेश० (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।
५. ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः। एवम्—लीढ इत्यत्रापि बोध्यम्।
६. ल्वादिभ्यः (८१८) इति निष्ठातकारस्य नकारः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
वच् [कहना]	उक्तः[1] =कहा गया;	उक्तवान् =कह चुका
वद् [बोलना]	उदितः[2] =कहा गया;	उदितवान् =कह चुका
वन्द् [वन्दना करना]	वन्दितः =वन्दना किया;	वन्दितवान् =वन्दना कर चुका
वप् [बोना, काटना]	उप्तः =काटा गया;	उप्तवान् =काट चुका
वस् [रहना]	उषितः[3] =रह चुका;	उषितवान् =रह चुका
वह् [ले जाना]	ऊढः[4] =ले जाया गया;	ऊढवान् =ले जा चुका
वाञ्छ् [चाहना]	वाञ्छितः =चाहा गया;	वाञ्छितवान् =चाह चुका
विद् [जानना]	विदितः =जाना हुआ;	विदितवान् =जान चुका
विद् [पाना]	विन्नः[5] =पाया गया;	विन्नवान् =पा चुका
विश् [प्रवेश करना]	प्रविष्टः =प्रवेश हुआ;	प्रविष्टवान् =प्रवेश कर चुका
वृ [वरना]	वृतः =वरा गया;	वृतवान् =वर चुका
वृध् [बढ़ना]	वृद्धः =बढ़ा हुआ;	वृद्धवान् =बढ़ चुका
वृष् [बरसना]	वृष्टः =बरसा हुआ;	वृष्टवान् =बरस चुका
वे(ञ्) [बुनना]	उतः =बुना हुआ;	उतवान् =बुन चुका
वेप् [कांपना]	वेपितः =कांप चुका;	वेपितवान् =कांप चुका
वेष्ट् [लपेटना]	वेष्टितः =लपेटा हुआ;	वेष्टितवान् =लपेट चुका
व्यथ् [दुःखी होना]	व्यथितः =दुःखी हुआ;	व्यथितवान् =दुःखी हो चुका
व्यध् [बींधना]	विद्धः[6] =बींधा गया;	विद्धवान् =बींध चुका
व्रज् [जाना]	व्रजितः =गया हुआ;	व्रजितवान् =जा चुका
शक् [समर्थ होना]	शक्तः =समर्थ हुआ;	शक्तवान् =समर्थ हो चुका
शङ्क् [शंका करना]	शङ्कितः =शंकित हुआ;	शङ्कितवान् =शंका कर चुका
शप् [शाप देना]	शप्तः =शाप दिया गया;	शप्तवान् =शाप दे चुका
शम् [शान्त होना]	शान्तः[7] =शान्त हुआ;	शान्तवान् =शान्त हो चुका
शंस् [प्रशंसा करना]	प्रशस्तः[8] =स्तुति किया;	प्रशस्तवान् =स्तुति कर चुका

१. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणे चोः कुः (३०६) इति कुत्वम् ।
२. यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । एवम् 'उप्तः, उतः' इत्यत्रापि बोध्यम् ।
३. यजादित्वात् सम्प्रसारणे शासिवसिघसीनां च (५५४) इति षत्वम् ।
४. सम्प्रसारणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः ।
५. 'विद्लृँ लाभे' इति तौदादिकोऽयं धातुरनिट् । रदाभ्याम्० (८१६) इति नत्वम् । धन और प्रसिद्ध अर्थ में 'वित्त'—वित्तो भोगप्रत्यययोः (८.२.५८) ।
६. ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणे धत्व-जश्त्वे ।
७. शमुँ उपशमे उदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् यस्य विभाषा (७.२.१५) इति ण्निषेधः । अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (७२७) इति दीर्घः ।
८. अनिदितां हल० इत्युपधानकारलोपः ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
शास् [उपदेश देना]	शिष्टः[1] = उपदिष्ट हुआ;	शिष्टवान् = उपदेश दे चुका
शिक्ष् [सीखना]	शिक्षितः[2] = सीखा गया;	शिक्षितवान् = सीख चुका
शी (ङ्) [सोना]	शयितः[3] = सोया हुआ;	शयितवान् = सो चुका
शुच् [शोक करना[4]]	शोचितः = शोक किया;	शोचितवान् = शोक कर चुका
शुध् [शुद्ध होना]	शुद्धः = शुद्ध हुआ;	शुद्धवान् = शुद्ध हो चुका
शुभ् [शोभा पाना]	शोभितः = शोभा पाया;	शोभितवान् = शोभा पा चुका
शुष् [सूखना]	शुष्कः[5] = सूखा हुआ;	शुष्कवान् = सूख चुका
श्रम् [थकना]	श्रान्तः[6] = थका हुआ;	श्रान्तवान् = थक चुका
श्रि (ञ्) [सेवन करना]	श्रितः = सेवन किया गया;	श्रितवान् = सेवन कर चुका
श्रु [सुनना]	श्रुतः = सुना हुआ;	श्रुतवान् = सुन चुका
श्लिष् [चिपटना]	श्लिष्टः = चिपटा हुआ;	श्लिष्टवान् = चिपट चुका
श्वि [बढ़ना]	शूनः[7] = बढ़ा हुआ;	शूनवान् = बढ़ चुका
सद् [प्रसन्न होना]	प्रसन्नः[8] = प्रसन्न हुआ;	प्रसन्नवान् = प्रसन्न हो चुका
सह् [सहना]	सोढः[9] = सहा गया;	सोढवान् = सह चुका
सान्त्व् [शान्त करना]	सान्त्वितः* = शान्त हुआ;	सान्त्वितवान् = शान्त हो चुका

---

१. 'शासुँ अनुशिष्टौ'। **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। **शास इदङ्हलोः** (७७८) इत्युपधाया इकारः। **शासिवसिघसीनां च** (५५४) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

२. सकर्मकोऽयं धातुः। तथा च रघुवंशे (३.३१)—**अशिक्षितास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्** इति। अतोऽत्र कर्मणि क्तः। **प्रवीण-निपुणाऽभिज्ञ-विज्ञ-निष्णात-शिक्षिताः** इत्यमर-प्रोक्ते शिक्षा सञ्जाताऽस्येति शिक्षित इत्येवं तारकादित्वादितचि बोध्यम्। ण्यन्ताद्वा निष्ठा बोध्या।

३. **निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः** (१.२.१९) इति वचनान्निष्ठाया अकित्त्वम्। तेन गुणः।

४. शोचतिरकर्मकः सकर्मकश्चापि, उभयथा प्रयोगा दृश्यन्ते।

५. **शुषः कः** (८२१) इति निष्ठातकारस्य ककारः।

६. 'श्रमुँ तपसि खेदे च' इत्युदित्त्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायामिड्विकल्प-नान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इति दीर्घः।

७. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इति श्विग्रहणादिण्न। यजादित्वात् सम्प्रसारणे पूर्वरूपे **हलः** (८१९) इति दीर्घे **ओदितश्च** (८२०) इति निष्ठानत्वम्।

८. **रदाभ्याम्०** (८१६) इति निष्ठानत्वम्।

९. तादेरार्धधातुकस्य **तीषसह०** (६५७) इति वेड्विधानाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायामिण्निषेधः। ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपेषु कृतेषु **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्यवर्णस्य ओकारः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
सिच् [सींचना]	सिक्तः=सींचा गया;	सिक्तवान्=सींच चुका
सिध् [सिद्ध होना]	सिद्धः=सिद्ध हुआ;	सिद्धवान्=सिद्ध हो चुका
सू [पैदा करना]	सूतः=पैदा किया गया;	सूतवान्=पैदा कर चुका
सूच् [सूचित करना]	सूचितः*=सूचित किया;	सूचितवान्=सूचित कर चुका
सृ [गमन करना]	सृतः=गमन कर चुका;	सृतवान्=गमन कर चुका
सृज् [पैदा करना]	सृष्टः[1]=पैदा किया गया;	सृष्टवान्=पैदा कर चुका
सेव् [सेवन करना]	सेवितः=सेवन किया गया;	सेवितवान्=सेवन कर चुका
स्खल् [फिसलना]	स्खलितः=फिसला हुआ;	स्खलितवान्=फिसल चुका
स्तु [स्तुति करना]	स्तुतः=स्तुति किया गया;	स्तुतवान्=स्तुति कर चुका
स्था [ठहरना]	स्थितः[2]=ठहरा हुआ;	स्थितवान्=ठहर चुका
स्ना [नहाना]	स्नातः=स्नान कर चुका;	स्नातवान्=स्नान कर चुका
स्पृश् [छूना]	स्पृष्टः=छुआ हुआ;	स्पृष्टवान्=छू चुका
स्मृ [याद करना]	स्मृतः=याद किया गया;	स्मृतवान्=याद कर चुका
स्रु [टपकना]	स्रुतः=टपका हुआ;	स्रुतवान्=टपक चुका
स्वप् [सोना]	सुप्तः[3]=सोया हुआ;	सुप्तवान्=सो चुका
हन् [मारना]	हतः[4]=मारा गया;	हतवान्=मार चुका
हस् [हंसना]	हसितः[5]=हंस चुका;	हसितवान्=हंस चुका
हा [छोड़ना]	हीनः[6]=छोड़ा गया;	हीनवान्=छोड़ चुका
हिंस् [मारना]	हिंसितः=मारा गया;	हिंसितवान्=मार चुका
हु [हवन करना]	हुतः=होमा गया;	हुतवान्=होम कर चुका
हृ [हरना]	हृतः=हरा गया;	हृतवान्=हर चुका
ह्री [शर्माना]	ह्रीणः[7]=शर्मा चुका;	ह्रीणवान्=शर्मा चुका
	ह्रीतः=शर्मा चुका;	ह्रीतवान्=शर्मा चुका
ह्वे [बुलाना]	आहूतः[8]=बुलाया गया;	आहूतवान्=बुला चुका

१. व्रश्चभ्रस्जसृज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् । एवं स्पृष्ट इत्यत्रापि ।

२. द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति (७.४.४०) इति इत्वम् ।

३. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम् ।

४. अनुदात्तोपदेशवनति० (५५९) इत्यनुनासिकलोपः ।

५. हसतिः सकर्मकोऽपि । आपद्गतं हससि किं द्रविणान्ध मूढ इत्यत्र यथा ।

६. घुमास्थागापाजहातिसां हलि (५८८) इत्यनेन ईत्वे, ओदितश्च (८२०) इति निष्ठानत्वम् ।

७. नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८.२.५६) इति निष्ठानत्वविकल्पः ।

८. यजादित्वात् सम्प्रसारणे हलः (८१६) इति दीर्घत्वम् ।

अभ्यास (४)

(१) निष्ठा किसे कहते हैं ? यह किस अर्थ में किया जाता है ? स्पष्ट करें।

(२) प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिये—

[क] 'मत्तः' में 'रदाभ्यां निष्ठातो०' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

[ख] 'ध्यातः, ख्यातः' में 'संयोगादेरातो०' द्वारा नत्व क्यों नहीं होता ?

[ग] 'लूनः, शीर्णः' में धातु के सेट् होने पर भी इट् क्यों नहीं होता ?

[घ] धातुओं को ओदित् और ईदित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[ङ] 'दो दद् घोः' में 'घोः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[च] क्तवतु क्तप्रत्यय की तरह भाव और कर्म में क्यों नहीं होता ?

[छ] ल्वादि धातु इक्कीस हैं या तेईस ? टिप्पणी लिखिये।

[ज] संख्येय अर्थ में विंशति शब्द के तीन उदाहरण दीजिये।

(३) तान्ते दोषो दीर्घत्वं—कारिका की व्याख्या कीजिये।

(४) ससूत्र सिद्धि करें—

द्राणः, शुष्कः, पक्वः, क्षामः, भावितवान्, दृढः, हितम्, दत्तः, उच्छूनः, लूनः, भिन्नः, शीर्णः।

(५) अन्तर स्पष्ट करें—

'पीतः' और 'पातः' में; 'गुफितः' और 'गुम्फितः' में; 'विदितः' और 'विन्नः' में; 'मत्तः' और 'मतः' में; 'क्षीणः' और 'क्षितः' में।

(६) पांच हेतुमण्णिजन्त धातुओं के निष्ठा में रूप लिखिये।

(७) सूत्रों की व्याख्या करें—

निष्ठायां सेटि; रदाभ्यां निष्ठा०; ओदितश्च; संयोगादेरातो०; हलः; स्वादय ओदितः।

(८) कर्त्ता और कर्म में कौन-सी विभक्ति होगी ?

क्तवतु के प्रयोग में, कर्मणि क्त के प्रयोग में, कर्तरि क्त के प्रयोग में, भावे क्त के प्रयोग में।

(९) संयोगादेरातो० में 'संयोगादेः' तथा 'यण्वतः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(१०) निम्नस्थ धातुओं के निष्ठा में रूप लिखते हुए अवान्तर प्रक्रिया का भी निर्देश करें—

ओहाक्, स्था, शीङ्, वह्, ब्रू, टुओँश्वि, खिद्, स्वप्, क्षि, कृत्, गै, घ्रा, जन्, ग्लै, प्र+√यत्, दुह्, तॄ, ज्या, गाध्, ध्वंस्, नह्, गम्, मस्ज्, भ्रम्, बन्ध्, पूञ्, लभ्, डुदाञ्, डुधाञ्, रुह्, वेञ्।

(११) किसी धातु के क्तान्त रूप के साथ 'वत्' लगा देने से उस धातु का क्तवत्वन्तरूप बन जाता है—इस का आप क्या कोई अपवाद बता सकते हैं ? (क्षितः—क्षीणवान्)

— :०: —

कानच् (वेदमात्र)

अब लिँट् के स्थान पर होने वाले कानच् और क्वसु प्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२८) **लिँटः कानज्वा** ।३।२।१०६।।

विधि-सूत्रम्—(८२९) **क्वसुँश्च** ।३।२।१०७।।

लिँटः कानच् क्वसुँश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् (३७७) । चक्राणः ।।

अर्थः—लिँट् के स्थान पर कानच् और क्वसु आदेश विकल्प से होते हैं। **तङानौ**—इन में कानच् **तङानावात्मनेपदम्** (३७७) सूत्र से आत्मनेपदसंज्ञक है।

व्याख्या—लिँटः ।६।१। कानच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । क्वसुँः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **प्रथम सूत्र का अर्थ**—(लिँटः) लिँट् के स्थान पर (कानच्) कानच् आदेश (वा) विकल्प से हो । **द्वितीयसूत्र का अर्थ**—(लिँटः) लिँट् के स्थान पर (क्वसुँः) क्वसु आदेश (च) भी (वा) विकल्प से हो ।[1] इन दोनों सूत्रों से पूर्व अष्टाध्यायी में **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) सूत्र पढ़ा गया है । जिस का अर्थ है—वेद में भूतसामान्य में लिँट् प्रत्यय होता है। इसी वैदिक लिँट् के स्थान पर यहां इन दो सूत्रों के द्वारा कानच् वा क्वसु आदेश विधान किये जा रहे हैं ।[2] अतः इन दोनों को भी वैदिक ही समझना चाहिये —**छान्दसौ कानच्क्वसू** (महाभाष्य ३.२.१०७), परन्तु इन में से द्वितीय वैदिक आदेश

---

१. यहां पर 'लिँटः कानच्क्वसू वा' इस प्रकार एक ही सूत्र न बना कर दो सूत्रों का निर्माण इसलिये किया गया है कि अष्टाध्यायी में अगले **भाषायां सद-वस-श्रुवः** (३.२.१०८) सूत्र में क्वसु का ही अनुवर्त्तन हो कानच् का नहीं, अन्यथा दोनों की अनुवृत्ति जा कर भ्रम उत्पन्न हो जाता ।

२. पिछले **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) सूत्र से लिँट् का अनुवर्त्तन हो कर उसे विभक्तिविपरिणाम से 'लिँटः' बनाया जा सकता था तो पुनः यहां 'लिँटः' का उल्लेख क्यों किया गया है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए काशिकाकार कहते हैं कि 'लिँटः' का पुनरुल्लेख इसलिये किया गया है कि **परोक्षे लिँट्** (३९१)द्वारा परोक्ष अनद्यतन भूत में विधान किये गये लिँट् के स्थान पर भी कानच्-क्वसुँ हो जायें । परन्तु हरदत्तमिश्र-भट्टोजिदीक्षित-नागेशभट्ट प्रभृति वैयाकरणों का कहना है कि यदि यहां 'लिँटः' का पुनरुल्लेख न करते तो ये कानच् और क्वसुँ आदेश लिँट् के स्थान पर न हो कर धातु से परे स्वतन्त्र प्रत्यय ही समझ लिये जाते । इस से लिण्निमित्तक द्वित्वादि उपपन्न न हो सकता अतः आचार्य ने शब्दलाघव का मोह छोड़ अर्थलाघव को ध्यान में रखते हुए 'लिँटः' का पुनरुल्लेख करना ही उचित समझा है । **अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा** इस परिभाषा के अनुसार यहां इसी अनन्तरोक्त भूतसामान्य में विहित लिँट् के स्थान पर ही ये आदेश करने चाहियें दूरपठित **परोक्षे लिँट्** (३९१) वाले लिँट् के स्थान पर नहीं । इन वैयाकरणों की युक्तियों में पर्याप्त बल प्रतीत होता है ।

क्वसुँ का लोक में भी कवियों द्वारा बहुधा प्रयोग देखा जाता है।[1] स्वयं भाष्यकार ने भी विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् (४.३.२४) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में पपुष आगतं पपिवद्रूप्यम् ऐसा प्रयोग किया है। इस में 'पपुषः' यह 'पपिवस्' इस वैदिक क्वस्वन्त का षष्ठ्येकवचनान्तरूप प्रयुक्त किया गया है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि लोक में भी क्वचित् वैदिक क्वस्वन्तों का प्रयोग अनुमत है। अतः वैदिक होने पर भी यहां लघुकौमुदी में इन का उल्लेख किया गया है।

लिँट्प्रत्यय कृदतिङ् (३०२) के अनुसार कृत्संज्ञक है अतः इस के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव के कारण इन की भी कृत्संज्ञा तथा प्रत्ययसंज्ञा हो जाती है। कानच् में चकार चितः (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये तथा ककार कित्कार्यों के लिए जोड़ा गया है, 'आन' मात्र अवशिष्ट रहता है। इसी प्रकार क्वसुँ में उँकार उगित्कार्यों के लिये तथा ककार कित्कार्यार्थ जोड़ा गया है, 'वस्' मात्र अवशिष्ट रहता है।

कानच् तङानावात्मनेपदम् (३७७) के अनुसार आत्मनेपदसंज्ञक है। अतः जिन धातुओं से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (३७८) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (३७९) आदि सूत्रों द्वारा आत्मनेपद का विधान है उन धातुओं से परे ही लिँट् के स्थान पर कानच् का विधान समझना चाहिये। क्वसुँ आदेश लः परस्मैपदम् (३७६) के अनुसार लादेश होने से परस्मैपदसंज्ञक है अतः परस्मैपदी धातुओं से ही इस की प्रवृत्ति होती है आत्मनेपदियों से नहीं।

कानच् का उदाहरण यथा—

कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभ०) धातु से कर्तृविवक्षा में भूतसामान्य में छन्दसि लिँट् (३.२.१०५) द्वारा लिँट् प्रत्यय, पुनः क्रियाफल के कर्तृगामी होने के कारण लिँटः कानज्वा (८२८) से लिँट् को आत्मनेपदसंज्ञक कानच् आदेश हो कर अनुबन्ध-लोप करने से—कृ+आन। अब लिँडादेश कानच् (आन) को स्थानिवद्भाव के कारण

---

१. वैदिक क्वस्वन्तों का कवियों द्वारा प्रयोग यथा—
तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे (रघु० ५.६१); श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते (रघु० ५.३४); बाणभिन्नहृदया निपेतुषी (रघु० ११.१९); पदमातस्थुषा त्वया (पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति में उद्धृत ३.२.१०७)।

न्यासकार, क्षीरस्वामी, रामचन्द्राचार्य तथा विट्ठल आदि अनेक वैयाकरण कानच् को भी लोक-वेदोभयवर्त्ती मानते हैं। क्षीरस्वामी ने शिशिवदानोऽकृष्णकर्मा अमरकोष के इस स्थल की व्याख्या के प्रसंग में कानच् को स्पष्ट लौकिक भी माना है। परन्तु अन्य अनेक वैयाकरण 'शिशिवदानः' को दिवतेर्दश्च (उणा० २.९३) इस उणादिसूत्र से सिद्ध करते हैं। हमें वर्त्तमान पाणिन्युत्तर लौकिक-साहित्य में अभी तक कानच्-प्रत्ययान्त कोई शब्द नहीं मिला। हां महाभारत में इस के प्रयोग उपलब्ध हैं—ततो महीन्द्रः क्रतुभिरीजानो भरतस्तथा (महा० आदि० ९४.२२) यहां प्रयुक्त 'ईजानः' प्रयोग यज् धातु का कानच्प्रत्ययान्त रूप है।

लिँट् मान कर **लिँटि धातोरनभ्यासस्य** (३९४) से द्वित्व, **उरत्** (४७३) से अत्व, रपरत्व, हलादिशेष (३९६) तथा **कुहोश्चुः** (४५४) से अभ्यास के ककार को चकार आदेश हो कर—चकृ+आन। 'आन' के आर्धधातुक होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का कानच् के कित्त्व के कारण **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। अब **इको यणचि** (१५) से ऋकार को यण् = रेफ तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार करने पर—चक्राण। स्थानिवद्भाव से कृदन्त होने के कारण इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सुँ विभक्ति में 'चक्राणः' प्रयोग सिद्ध होता है। वेद में प्रयोग यथा—**अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा** (ऋग्वेद सं. १.७२.१)।

कानच् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः कहीं कहीं वेद में भूतसामान्य में लिँट् हो कर उस के स्थान पर तिङ् का श्रवण भी होता है। यथा—**अहं सूर्यमुभयतो ददर्श** (यजु० ८.९); **अहं द्यावापृथिवी आततान** (तै०ब्रा० १.२.१३३)। ध्यान रहे कि यहां परोक्ष न होने से लिँट् प्राप्त न था अतः भूतसामान्य में लिँट् का विधान किया गया है।

इसी प्रकार—यज्+कानच्, इज्+आन [**वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण], इज् इज्+आन [द्वित्व], ईजान, ईजानः (यज्ञ कर चुका)। **यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्** (अ० ११.४.२)। पच्+कानच् = पेचानः [द्वित्व, एत्वाभ्यासलोप, पका चुका]। स्तु+कानच् = तुष्टुवानः [स्तुति कर चुका]। श्रु+कानच् = शुश्रुवाणः [उवँङ्, सुन चुका]। कॄ+कानच् = चिकिराणः [धातु के ऋकार को पहले इर् हो कर पुनः द्वित्व होता है; बिखेर चुका]। तॄ+कानच् = तितिराणः [तैर चुका] इत्यादि अनेक वैदिक शब्द सिद्ध होते हैं।

क्वसुँ आदेश का उदाहरण यथा—

गम् (गम्लृँ गतौ, भ्वा० प०) धातु से कर्तृविवक्षा में भूतसामान्य में **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) से लिँट् प्रत्यय हो कर **क्वसुश्च** (८२९) से उसे क्वसुँ आदेश हो जाता है। तब क्वसुँ के अनुबन्धों का लोप करने पर—गम्+वस्। स्थानिवद्भाव के कारण क्वसुँ को लिड्वत् मान कर **लिटि धातोरनभ्यासस्य** (३९४) से द्वित्व, अभ्यासकार्य हलादिशेष तथा चुत्व से गकार को जकार करने पर—जगम्+वस्। अब **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का यद्यपि **नेड्वशि कृति** (८००) से निषेध हो जाता है तथापि क्रादिनियम (४७९) से इट् की प्राप्ति अक्षुण्ण रहती है। इस पर **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७.२.६७[1]) इस नियम से इट् का पुनः निषेध हो कर अन्त में **विभाषा गम-हन-विद-विशाम्** (७.२.६८[2]) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में

---

१. **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७.२.६७) द्वित्व करने पर भी जो धातु एकाच् रहे उस धातु से परे तथा आकारान्त और घस् धातु से परे वसुँ को इट् का आगम होता है अन्यों से नहीं।

२. **विभाषा गम-हन-विद-विशाम्** (७.२.६८) गम्, हन्, विद् (विन्द्) और विश् धातुओं से परे वसुँ को विकल्प से इट् का आगम हो।

गमहनजन० (५०५) से उपधालोप हो जाता है—'जग्मिवस्' । परन्तु इट् के अभाव में 'जगम्+वस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३०) म्वोश्च ।८।२।६५॥

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् ॥

अर्थः—मकारान्त धातु के मकार को नकार आदेश होता है मकार या वकार परे होने पर ।

व्याख्या—म्वोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम् । मः ।६।१। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । धातोः ।६।१। (**मो नो धातोः** से) । म् च व् च म्वौ, तयोः=म्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'मः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'मकारान्तस्य धातोः' बन जाता है । अर्थः -- (म्वोः) मकार या वकार परे होने पर (च) भी (मः=मकारान्तस्य) मकारान्त (धातोः) धातु के स्थान पर (नः) 'न्' यह आदेश हो जाता है । अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व **मो नो धातोः** (२७०) सूत्र द्वारा मकारान्त धातु को पदान्त में नत्व विधान कर चुके हैं अब यहां पुनः उसे मकार वकार परे होने पर भी नकार आदेश किया जा रहा है अतः सूत्र में 'च' लगाया गया है । मकारान्त धातु को कहा गया यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा के द्वारा मकारान्त धातु के अन्त्य अल्—मकार के स्थान पर ही होता है । अगन्व, अगन्म—ये इस सूत्र के उदाहरण हैं । वेद में गम् धातु से लँङ् में शप् का **बहुलं छन्दसि** (२.४.७३) से लुक् हो कर धातु के मकार को मकार वकार के परे होने पर नकार आदेश करने से ये रूप सिद्ध होते हैं ।

प्रकृत में 'जगम्+वस्' यहां 'वस्' का वकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'जगम्' इस मकारान्त के अन्त्य मकार को नकार आदेश हो कर 'जगन्वस्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । 'जग्मिवस्' और 'जगन्वस्' ये दोनों शब्द वसुँप्रत्ययान्त हैं अतः इन से स्वादिप्रक्रिया 'विद्वस्' शब्द की तरह होती है । सुँ में **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) में नुँम् आगम, **सान्तमहतः संयोगस्य** (३४२) से सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ हो—जग्मिवान्स्+स्; जगन्वान्स्+स् । अब हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से—'जग्मिवान्' और 'जगन्वान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि इन में संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का लोप नहीं होता । शस् में—'जग्मिवस्+अस्', 'जगन्वस्+अस्' इस अवस्था में '**वसोः सम्प्रसारणम्**' (३५३) से वसुँ के वकार को सम्प्रसारण तथा '**सम्प्रसारणाच्च**' (२५८) से पूर्वरूप हो जाता है । इट्पक्ष में इट् की निवृत्ति तथा इडभावपक्ष में नत्व की निवृत्ति **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः** परिभाषा से हो कर उपधालोप हो जाता है (देखें ३५३ सूत्र पर टिप्पण) । इस प्रकार दोनों पक्षों में 'जग्मुषः' प्रयोग सिद्ध होता है । इन शब्दों की पृथक् पृथक् रूपमाला यथा—[जग्मिवस्]—जग्मिवान्, जग्मिवांसौ, जग्मिवांसः । जग्मिवांसम्, जग्मिवांसौ,

जग्मुषः । जग्मुषा, जग्मिवद्भ्याम्[1], जग्मिवद्भिः । जग्मुषे, जग्मिवद्भ्याम्, जग्मिवद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मिवद्भ्याम्, जग्मिवद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मुषोः, जग्मुषाम् । जग्मुषि, जग्मुषोः, जग्मिवत्सु । हे जग्मिवन् !, हे जग्मिवांसौ !, हे जग्मिवांसः !। [जगन्वस्]—जगन्वान्, जगन्वांसौ, जगन्वांसः । जगन्वांसम्, जगन्वांसौ, जग्मुषः । जग्मुषा, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भिः । जग्मुषे, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भ्यः । जग्मुषः, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मुषोः, जग्मुषाम् । जग्मुषि, जग्मुषोः, जगन्वत्सु । हे जगन्वन् !, हे जगन्वांसौ !, हे जगन्वांसः !।

इसी प्रकार—अद्+क्वसुँ=आदिवान्; दा+क्वसुँ=ददिवान्; हन्+क्वसुँ=जघ्निवान्-जघन्वान्; दृश्+क्वसुँ=ददृशिवान्; स्था+क्वसुँ=तस्थिवान्; कृ+क्वसुँ=चकृवान्; पा+क्वसुँ=पपिवान्; रा+क्वसुँ=ररिवान्; भू+क्वसुँ=बभूवान् इत्यादि वैदिक प्रयोग जानने चाहियें ।

मुनित्रयानुसार कानच् और क्वसुँ यद्यपि वैदिक प्रत्यय (आदेश) माने गये हैं तथापि निम्नस्थ आठ क्वसुँ प्रत्ययान्तों तथा एक कानच्प्रत्ययान्त अर्थात् कुल नौ शब्दों का प्रयोग लोक में अष्टाध्यायीसम्मत है[2] । इन के विधायक-सूत्र हैं—**भाषायां सदवसश्रुवः** (३.२.१०८) **उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च** (३.२.१०९) **दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च** (६.१.१२) । इन सूत्रों की व्याख्या काशिका आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें—

(१) इण्—उपेयिवस्[3] [प्राप्त कर चुका] । उपेयिवान्, (शसि) उपेयुषः ।
(२) अश्—अनाश्वस् [भोजन न कर चुका] । अनाश्वान्, (शसि) अनाशुषः ।
(३) सद्—सेदिवस् [गमन कर चुका] । सेदिवान्, (शसि) सेदुषः ।
(४) वस्—ऊषिवस् [रह चुका] । ऊषिवान्, (शसि) ऊषुषः ।
(५) श्रु—शुश्रुवस् [सुन चुका] । शुश्रुवान् (शसि) शुश्रुवुषः (उवँङ्) ।
(६) दाश्—दाश्वस् [दे चुका] । दाश्वान्, (शसि) दाशुषः ।
(७) सह्—साह्वस् [अभिभव कर चुका] । साह्वान्, (शसि) साहुषः ।
(८) मिह्—मीढ्वस् [सींच चुका] । मीढ्वान्, (शसि) मीढुषः ।
(९) वच्—अनूचान [कानजन्त; सांग वेद का प्रवचन कर चुका] । अनूचानः, अनूचानौ, अनूचानाः (रामवत्) ।

लोक में इन के प्रयोग यथा—

(क) **रावणः शुश्रुवाञ्छत्रून् राक्षसानभ्युपेयुषः ।**
स्वयं युयुत्सयाञ्चक्रे प्राकाराग्रे निषेदिवान् ॥ (भट्टि० १४.२२)

---

१. भ्याम्, भिस्, भ्यस् आदि में **वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहां दः** (२६२)से दत्व हो जाता है ।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि लोक में इन शब्दों में धातु से भूतसामान्य में लिँट् होकर नित्य क्वसुँ आदेश हो जाता है, अतः विकल्प न होने से भूतसामान्य में लिँट् के तिङन्त प्रयोग नहीं पाये जाते ।

३. यहां 'उप' उपसर्ग अतन्त्र है । उपसर्ग के विना या अन्य उपसर्ग के साथ भी इस का प्रयोग हो सकता है । यथा— ईयिवान्, समीयिवान् आदि ।

शतृ, शानच्

(ख) निषेदुषीमासनबन्धधीरः[1] । (रघु० २.६)
(ग) अध्यूषुषस्तामभवज्जनस्य । (माघ ३.५६)
(घ) उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्याम् । (रघु० ६.७३)
(ङ) तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान् सुपुत्राशिषमित्युवाच ।(रघु० १४.७१)
(च) प्रसेदिवांसं तमुपाससाद । (किरात० ३.२४)
(छ) अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥
(किरात० १२.२)

अभ्यास (५)

(१) क्वसुँ प्रत्यय पर इट्-विषयक एक टिप्पण लिखिये ।
(२) लिँटः कानज्वा में 'वा' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट कीजिये ।
(३) क्वसुँप्रत्ययान्त कितने और कौन-कौन से शब्द व्याकरणानुसार लोक में प्रयुक्त हो सकते हैं ?
(४) कानच् प्रत्यय वैदिक है—अपवादनिर्देशपूर्वक इस पर टिप्पण लिखिये ।
(५) सूत्रों की व्याख्या करें—
म्वोश्च; वस्वेकाजाद्घसाम्; लिँटः कानज्वा ।
(६) निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
जगन्वान्; चक्राणः; जग्मुषः; तस्थिवान्; तस्थुषी ।
(७) वैदिकक्वस्वन्तों के कवियों द्वारा प्रयुक्त चार उदाहरण दीजिये ।
(८) उपेयिवस् और जगन्वस् शब्दों की रूपमाला लिखें ।
(९) जग्मिवस्, शुश्रुवस्, सेदिवस् और अनूचान शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में रूप लिखें ।

——:o:——

अब कृदन्तों में सुप्रसिद्ध शतृँ और शानच् प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३१) लँटः शतृँशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ।३।२।१२४॥

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लँट एतौ वा [?] स्तः । शबादिः । पचन्तं चैत्रं पश्य ॥

१. ध्यान रहे कि क्वस्वन्तों के स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च (१२४६) से ङीप् हो कर समग्र शस्प्रत्ययवत् सम्प्रसारणादि प्रक्रिया होती है। यथा—(पुं०) उपेयिवान्; (स्त्री०) उपेयुषी । (पुं०) अनाश्वान्; (स्त्री०) अनाशुषी । (पुं०) सेदिवान्; (स्त्री०) सेदुषी । (पुं०) ऊषिवान् (स्त्री०) ऊषुषी । (पुं०) शुश्रुवान्; (स्त्री०) शुश्रुवुषी । (पुं०) दाश्वान्; (स्त्री०) दाशुषी । (पुं०) जग्मिवान्; (स्त्री०) जग्मुषी । अनूचान आदि कानजन्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो जाता है—अनूचाना, चक्राणा आदि ।

अर्थः—अप्रथमान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि पदों के साथ यदि लँट् का अधिकरण [वाच्य] समान=अभिन्न हो तो लँट् के स्थान पर शतृँ और शानच् आदेश होते हैं। शबादि—शतृँ और शानच् के शित् होने से सार्वधातुकसंज्ञा के कारण शप् आदि विकरण हो जाते हैं।

व्याख्या—लँटः ।६।१। शतृँ-शानचौ ।१।२। अप्रथमासमानाधिकरणे ।७।१। समासः—शता च शानच् च शतृँ-शानचौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न प्रथमा अप्रथमा, नञ्समासः, पर्युदासप्रतिषेधः[1]। 'प्रथमा' यह 'सुँ-औ-जस्' प्रत्ययों की प्रसिद्धि है अतः प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः इस परिभाषा के अनुसार प्रथमा से प्रथमान्त का ग्रहण होता है। समानम्=अभिन्नम् अधिकरणम्=वाच्यं यस्य स समानाधिकरणः, बहुव्रीहिसमासः। अप्रथमया (अप्रथमान्तेन=द्वितीयान्तादिना) समानाधिकरणः—अप्रथमा-समानाधिकरणः, तस्मिन् अप्रथमासमानाधिकरणे (लँटि सति), तृतीयातत्पुरुषः, भावे सप्तमी। अर्थः—(अप्रथमासमानाधिकरणे) अप्रथमान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि के साथ समान अधिकरण=वाच्य हो तो (लँटः) लँट् के स्थान पर (शतृँ-शानचौ) शतृँ और शानच् आदेश हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वितीयान्त आदि पद जिस अधिकरण या वाच्य अर्थात् कर्त्ता वा कर्म को कहता है यदि लँट् भी उसी को कहे तो उस लँट् के स्थान पर शतृँ और शानच् आदेश हो जाते हैं। यथा—पचन्तं चैत्रं पश्य, पचमानं चैत्रं पश्य (जो पका रहा है उस चैत्र को देखो अथवा पकाते हुए चैत्र को देखो)। यहां 'चैत्रम्' यह द्वितीयान्त होने से अप्रथमान्त पद है, यह जिस अधिकरण या वाच्य को कहता है पच्धातु से वर्त्तमानकाल में लाया गया लँट् भी उसी को कहता है अतः लँट् का अप्रथमान्त के साथ समान या अभिन्न अधिकरण है तो इस अवस्था में लँट् के स्थान पर शतृँ या शानच् प्रत्यय हो जाता है। इसी तरह—पचता चैत्रेण दृष्टम्, पचते चैत्राय देहि, पचतश्चैत्रादानीतम्, पचतश्चैत्रस्य समीपादागतः, पचति चैत्रे गतोऽसौ इत्यादियों में तृतीयान्त आदियों के सामानाधिकरण्य में भी समझ लेना चाहिये।

लँट् के स्थान पर आदिष्ट होने से स्थानिवद्भाव (१४४) के कारण शतृँ और शानच् कृत् तथा प्रत्ययसंज्ञक हो जाते हैं। शतृँ प्रत्यय का अन्त्य ऋकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् (२८) द्वारा तथा आदि शकार लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अत्' मात्र शेष रहता है। शानच् का आदि शकार भी लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा तथा अन्त्य चकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'आन' मात्र शेष रहता है। शतृँ और शानच् दोनों शित् प्रत्यय हैं अतः तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३८६) के अनुसार दोनों सार्वधातुकसंज्ञक हैं अतः इन के परे होने पर धातु से कर्तृवाच्य में कर्त्तरि शप् (३८७), दिवा-

---

१. अत एव पर्युदासः सदृग्ग्राही के अनुसार प्रथमा से भिन्न तत्सदृश अर्थात् द्वितीयादि का ग्रहण होता है।

दिभ्यः श्यन् (३२९) आदि से शप् श्यन् आदि तथा कर्मवाच्य में सार्वधातुके यक् (७५२) से यक् विकरण हो जाता है। शतृ में ऋकार उगिदचां० (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये तथा शानच् का चकार चितः (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। शतृ प्रत्यय लः परस्मैपदम् (३७६) से परस्मैपदसंज्ञक तथा शानच् (आन) प्रत्यय तङानावात्मनेपदम् (३७७) से आत्मनेपदसंज्ञक है अतः परस्मैपदी धातुओं से परे लँट् के स्थान पर शतृ तथा आत्मनेपदी धातुओं से परे शानच् आदेश होता है।

सूत्र का उदाहरण यथा—पचन्तं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)। यहां पच् (डुपचँष् पाके, भ्वा० उभय०) धातु से कर्तृवाच्य में वर्त्तमाने लँट् (३७४) द्वारा वर्त्तमानकाल में लँट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'पच्+ल्' हुआ। यहां लँट् का वाच्य वही है जो 'चैत्रम्' इस द्वितीयान्त पद का है अतः अप्रथमान्त के साथ समान अर्थात् अभिन्न अधिकरण वाला होने के कारण लँट् के लकार के स्थान पर प्रकृतसूत्र से शतृ आदेश हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'पच्+अत्' हुआ। अब तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३८६) द्वारा शतृ के सार्वधातुक होने के कारण कर्त्तरि शप् (३८७) से शप् प्रत्यय आ कर शकार पकार का लोप करने से—पच् अ+अत्। पुनः अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'पचत्' यह कृदन्त शब्द उत्पन्न होता है। अब इस से कर्म की विवक्षा में द्वितीया के एकवचन 'अम्' प्रत्यय को लाने पर उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८९) से नुँम् आगम, अनुबन्धलोप, अपदान्त नकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण (७९) करने पर 'पचन्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है—पचन्तं चैत्रं पश्य। इसी प्रकार द्वितीया के अन्य वचनों तथा तृतीयादि विभक्तियों में भी प्रक्रिया जाननी चाहिये। 'पचत्' की सुबन्तप्रक्रिया इस ग्रन्थ के प्रथमभागस्थ (३४३) सूत्र पर कहे शत्रन्त 'भवत्' (होता हुआ) शब्द की तरह समझनी चाहिये—यह सब वहां सविस्तर लिख चुके हैं।[1]

पच् (डुपचँष् पाके) धातु स्वरितेत् है अतः क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (३७९) से आत्मनेपद करना होगा। तब 'शतृ' न हो कर लँट् के स्थान पर आत्मनेपदसंज्ञक शानच् प्रत्यय किया जायेगा। शानच्

---

१. इस सूत्र (८३१) की वृत्ति (अर्थ) में 'वा' (विकल्प) का उल्लेख सर्वत्र लघुकौमुदी के मुद्रित संस्करणों में पाया जाता है जो स्पष्टतः अपपाठ और विद्यार्थियों के लिये भ्रमोत्पादक है। यदि यहां शतृ-शानच् का विधान वैकल्पिक मानें तो 'पचन्तं चैत्रं पश्य' के दूसरे पक्ष में क्या रूप बनेगा ? यह कोई नहीं बता सकता। यदि नन्वोर्विभाषा (३.२.१२१) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति ला कर उसे व्यवस्थितविभाषा मानते हुए अप्रथमासमानाधिकरण में नित्य तथा प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प करें जैसा कि भाष्यकार ने किया है तो यह भी यहां ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि प्रथमासमानाधिकरण में लघुकौमुदीकार आगे लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् इस प्रकार स्वयं व्यवस्था करते हैं जो व्यर्थ हो जायेगी।

की भी शित्त्वात् सार्वधातुकसंज्ञा हो कर शप् विकरण लाने से—पच् अ+आन = पच+आन । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३२) आने मुँक् ।७।२।८२॥

अदन्ताङ्गस्य मुँगागमः स्याद् आने परे । पचमानं चैत्रं पश्य ॥

अर्थः—'आन' परे होने पर अदन्त अङ्ग का अवयव मुँक् हो ।

व्याख्या—आने ।७।१। मुँक् ।१।१। अतः ।६।१। (**अतो येयः** से पञ्चम्यन्त का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है[1] । अर्थः—(आने) 'आन' परे होने पर (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (मुँक्) मुँक् हो जाता है। मुँक् में ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है अतः 'म्' मात्र शेष रहता है । मुँक् आगम कित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार अदन्त अङ्ग का अन्तावयव बनता है । अदन्त अङ्ग शप्, दिवादि श्यन्, तुदादि श और कर्मणि यक् के आने से ही होता है ।

'पच+आन' यहां 'आन' परे है अतः प्रकृतसूत्र से अदन्त अङ्ग 'पच' को मुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से—पचम्+आन='पचमान' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । द्वितीया के एकवचन की विवक्षा में 'अम्' प्रत्यय के लाने पर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'पचमानम्' प्रयोग सिद्ध होता है—पचमानं चैत्रं पश्य ।

अदन्त अङ्ग न होगा तो मुँक् का आगम न होगा । यथा—दधानम्, ददानम्, ब्रुवाणम्, तन्वानम् आदि[2] ।

ध्यान रहे कि शतृँ प्रत्यय केवल कर्तृवाच्य में ही होता है । कर्मवाच्य में **भाव-कर्मणोः** (७५१) से आत्मनेपद का विधान होने से शानच् ही होता है शतृँ नहीं । 'पीडयन्तम्' यहां कर्तृवाच्य के कारण शतृँ तथा 'पीड्यमानम्' यहां कर्मवाच्य के कारण शानच् हो कर यक्विकरण हो जाता है ।

द्वितीयान्त आदि के सामानाधिकरण्य में साहित्य में शतृँ-शानच् के कुछ प्रयोग यथा—

---

१. इस प्रकार अर्थ करने से 'पचमानः' आदि में स्वरदोष प्रसक्त होता है । इस का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखा जा सकता है । यहां बालकों के लिये उपयोगी न होने से इस का विवेचन नहीं करते ।

२. साहित्य में कई स्थानों पर मुँक् आगम का अभाव भी देखा जाता है । यथा—**एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति** (मनु० ४.२५८), **ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा** (शाकुन्तल ३); **अपि शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः** (न्यास ८.४.१६ पर उद्धृत) इत्यादि । इन स्थानों पर वैयाकरण **आगम-शास्त्रमनित्यम्** का आश्रयण किया करते हैं ।

द्वितीयान्त के साथ—

(१) यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ (अनर्घराघव)

(२) स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव । (हितोप०)

(३) सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम् ।
(वृद्धचाणक्य० १५.४)

(४) एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । (गीता १.३५)

तृतीयान्त के साथ—

(५) गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥
(भर्तृ० नीति० ६५)

(६) धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥ (हितोप०)

(७) वयेति ब्रुवता पूर्वं वञ्चितोऽस्मि त्वमब्वता । (स्वप्न०)

(८) हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता । (पञ्चतन्त्र)

चतुर्थ्यन्त के साथ—

(९) जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥
(रघु० ३.१६)

पञ्चम्यन्त के साथ—

(१०) अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्याद् अश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ (महा० ५.३४.३२)

षष्ठ्यन्त के साथ—

(११) ध्यायतो विषयान् पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते । (गीता २.६२)

(१२) वनानि वहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः । (सुभाषित)

(१३) पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनः कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ॥ (सुभाषित)

सप्तम्यन्त के साथ—

(१४) न हन्यते हन्यमाने शरीरे । (गीता २.२०)

(१५) धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते । (हितोप०)

(१६) यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु । (पञ्चतन्त्र)

(१७) संसारेऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम् । (सुभाषित)

वेद-लोक दोनों में प्रथमान्त के सामानाधिकरण्य में भी शतृ-शानच् के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं । परन्तु उपर्युक्त पाणिनीय सूत्र (८३१) के अनुसार ऐसे प्रयोगों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता । इन को सहसा कोई असाधु भी नहीं कह सकता क्योंकि

प्रायः सब कविजनों ने इन का प्रचुर प्रयोग किया है और करते चले आ रहे हैं[1]। इस शङ्का का समाधान करते हुए लघुकौमुदीकार वरदराज लिखते हैं—

[लघु०] लँट् इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः ॥

अर्थः—लँट् की अनुवृत्ति आने पर भी सूत्र में पुनः लँट् का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि कहीं कहीं प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी लँट् के स्थान पर शतृ-शानच् हो जाते हैं।

---

१. (१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजुः० ४०.२)
(२) अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्। (रघु० २.४७)
(३) लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्। (भर्तृ० नीति० ४)
(४) धुन्वन् धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः। (किरात० ३.१९)
(५) यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानः। (पञ्चतन्त्र)
(६) विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति। (भर्तृ० नीति० ७२)
(७) यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः। (मनु० २.१५६)
(८) अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति। (सुभाषित)
(९) स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः ॥ (पञ्चतन्त्र ३.८१)
(१०) ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। (सिद्धान्तकौमुदी)
(११) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता० ३.११)
(१२) अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्। (रघु० २.४६)
(१३) अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ (उत्तरराम० २.१९)
(१४) कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः। (पञ्चतन्त्र)
(१५) परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः। (भर्तृ० नीति० ७०)
(१६) कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव (कादम्बरी)।
(१७) कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः। (स्वप्न० १.४)
(१८) समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। (किरात० १.८)
(१९) कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन!
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥ (भर्तृ० वैरा० ८७)

व्याख्या—**लँटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (३.२.१२४) सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **वर्त्तमाने लँट्** (३.२.१२३) सूत्र पढ़ा गया है। इस सूत्र से यदि लँट् की अनुवृत्ति ला कर उस का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम करते तो 'लँटः' पद सुतरां प्राप्त हो सकता था इस से **लँटः शतृशानचा०** सूत्र में 'लँटः' पद को पढ़े विना काम चल सकता था परन्तु ऐसा न कर मुनिवर पाणिनि का इस में पुनः 'लँटः' पद का पढ़ना इस बात को द्योतित करता है कि आचार्य लँट् के स्थान पर कुछ और अधिक आदेश चाहते हैं। इस से क्वचित् प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी लँट् के स्थान पर शतृ-शानच् हो जाते हैं।[1] ध्यान रहे कि इस अवस्था में शतृ-शानच् विकल्प से होंगे पक्ष में लँट् के स्थान पर तिङन्त का भी प्रयोग होगा। अत एव मूल में 'क्वचित्' कहा गया है। उदाहरण यथा —

सन् द्विजः (द्विज अर्थात् ब्राह्मण है)। यहां 'अस्' (अस भुवि, अदा० परस्मै०) धातु से कर्तृविवक्षागत वर्त्तमानकाल में लँट् हो कर 'अस्+ल्' इस स्थिति में प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी **लँटः शतृशानचावप्रथमा०** (८३१) सूत्र में 'लँटः' पद के पूर्वतः प्राप्त होते पुनर्ग्रहणसामर्थ्य से शतृ प्रत्यय करने से 'अस्+अत्' हुआ। अब **कर्त्तरि शप्** (३८७) से शप् तथा **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (५५२) से उस का लुक् हो जाता है। **श्नसोरल्लोपः** (५७४) सूत्र द्वारा अस् के अकार का भी लोप हो कर 'सत्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एकवचन सुँ में **उगिदचां०** (२८९) से नुँम् का आगम हो कर हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्तलोप करने पर 'सन्' प्रयोग सिद्ध होता है—सन् द्विजः। पक्ष में लँट् के स्थान पर तिङ्प्रत्यय आ कर 'अस्ति द्विजः' भी बनेगा। इसी प्रकार प्रथमासमानाधिकरण में शानच् के विषय में भी समझना चाहिये—वर्धमानः स्नेहः, वर्धते स्नेहः; विद्यमानो ब्राह्मणः, विद्यते ब्राह्मणः; एधमानोऽग्निः, एधतेऽग्निः आदि।

अब 'विद ज्ञाने' (जानना; अदा० परस्मै०) धातु से शतृ में विशेष कार्य विधान करने के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३३) विदेः शतुर्वसुः ।७।१।३६।।

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विद्वान्। विदन्।।

अर्थः—विद् (जानना) धातु से परे शतृ के स्थान पर विकल्प से वसुँ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—विदेः ।५।१। शतुः ।६।१। वसुँः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। (तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् से)। 'विदेः' यहां 'विद्' धातु को इक्प्रत्यय से निर्दिष्ट

---

1. क्वचित् सामानाधिकरण्य के अभाव में भी इन की प्रवृत्ति हो जाती है। यथा — कुर्वतोऽपत्यं कौर्वतः [तस्यापत्यम् (१००१) इत्यण्], कुर्वतो भार्या कुर्वद्भार्या इत्यादि। यहां यदि 'देवदत्तस्य' आदि का अध्याहार कर सामानाधिकरण्य स्थापित करेंगे तो असमर्थ होने से तद्धित तथा समास न हो सकेगा।

किया गया है—**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (देखें ३९८ सूत्र पर टिप्पण)। अर्थः—(विदेः) विद् धातु से परे (शतुः) शतृँ के स्थान पर (वसुः) वसुँ आदेश (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है। वसुँ का उँकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'वस्' मात्र शेष रहता है।[1] अनेकाल् होने से यह आदेश 'शतृँ' के स्थान पर सर्वादेश समझना चाहिये। 'विद्' से यहां केवल 'विद ज्ञाने' (अदा० परस्मै०) धातु का ही ग्रहण हो सकता है अन्यों का नहीं। तथाहि—'विद सत्तायाम्' (दिवा०) तथा 'विद विचारणे' (रुधा०) दोनों धातुएं आत्मनेपदी हैं अतः इन से परे शतृँ का आगमन सम्भव ही नहीं; 'विदॢँ लाभे' (तुदा०) धातु के उभयपदी होने से उस से परे यद्यपि शतृँ का आना सम्भव है तथापि मध्य में 'श' विकरण (६५१) के आ जाने से उस से परे अव्यवहित शतृँ प्राप्त नहीं होता। 'विद ज्ञाने' धातु आदादिक है इस से परे शप् विकरण का लुक् हो जाने से अव्यवहित शतृँ प्राप्त होता है अतः इसी का ही यहां ग्रहण होता है। सूत्र का उदाहरण यथा—

'विद्' (जानना; अदा० परस्मै०) धातु से कर्तृविषयक वर्त्तमानकाल में लँट् आ कर **लँटः शतृँशानचा०** (८३१) में 'लँटः' के पुनर्ग्रहण के कारण प्रथमा के सामानाधिकरण्य में भी शतृँ आदेश हो कर—विद्+शतृँ=विद्+अत्। अब **कर्त्तरि शप्** (३८७) से शप् विकरण आ कर उस का **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (५५२) से लुक् हो जाता है -विद्+अत्। इस स्थिति मे प्रकृतसूत्र से शतृँ के अत् को वैकल्पिक 'वसुँ' सर्वादेश हो कर अनुबन्धलोप करने से 'विद्वस्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया पूर्वार्ध में सविस्तर लिख चुके है—विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः आदि। शस् में **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से सम्प्रसारण के कारण 'विदुषः'। जिस पक्ष मे वसुँ आदेश नहीं होता वहां शप्-लुक् हो कर 'विदत्' शब्द बनता है। इस का उच्चारण—विदन्, विदन्तौ, विदन्तः आदि पूर्ववत् जानें। शतृँ के अभावपक्ष में 'वेत्ति' आदि तिङन्त प्रयोग भी होंगे। अनेक वैयाकरण यहां 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति न ला कर शतृँ को नित्य वसुँ आदेश मानते हैं उन के मतानुसार 'विदन्, विदन्तौ, विदन्तः' आदि प्रयोग नहीं होते।

---

१. यहां पर उकार अनुबन्ध **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया नहीं माना जा सकता क्योंकि शतृँ के उगित् होने से स्थानिवद्भाव के कारण वस् को भी उगित् माना जा सकता था अतः यहाँ वसुँ का उगित्करण **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) मे क्वसुँ के ग्रहण के लिये माना जाता है। तात्पर्य यह है कि **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) में यदि केवल वसुँ का ग्रहण ही अभीष्ट होता तो मुनिवर उसे उगित् न कर सूत्र को भी 'वसः सम्प्रसारणम्' बना देते। परन्तु उन का ऐसा न कर इसे उगित् करना '**वसोः सम्प्रसारणम्**' में वसुँ के साथ क्वसुँ के ग्रहण के लिये समझा जाता है। इस उगित्करणसामर्थ्य से **एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य** (एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो तो दो अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता) इस परिभाषा से भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, दोनों का ग्रहण हो जाता है।

शतृ-शानच् की प्रक्रिया में कुछ ध्यातव्य बातें—

(क) शतृ-शानच् प्रत्ययों के परे होने पर प्रत्येक धातु से अपने अपने गण के अनुसार विकरण होता है। यथा—

भ्वादिगणीय भू—भू + शप् + शतृ = भू + अ + अत् = भो + अ + अत् (गुण) = भव् + अ + अत् (अवादेश) = भव + अत् = भवत् (**अतो गुणे** २७४)। एध् + शप् + शानच् = एध् + अ + आन = एध + आन = एधमान (**आने मुक्** ८३२)।

अदादिगणीय अद्—अद् + शप् + शतृ = अद् + अत् = अदत्। इस गण में शप् का लुक् हो जाता है (५५२)। शी + शप् + शानच् = शी + आन = शे + आन [**शीङः सार्वधातुके गुणः** (७.४.२१) से गुण] = शयान।

जुहोत्यादिगणीय धातुओं से शतृ-शानच् में शप् को श्लु (६०४) तथा **श्लौ** (६०५) से द्वित्व हो जाता है। यथा = हु + शप् + शतृ = हु + अत् = जुहु + अत् = जुह्वत् [**हुश्नुवोः सार्वधातुके** (५०१) से यण्]। डुदाञ् + शप् + शानच् = दा + आन = ददा + आन = दद् + आन [**श्नाऽभ्यस्तयोरातः** (६१९) से अभ्यस्त का आकार-लोप] = ददान।

दिवादिगणीय दिव्—दिव् + श्यन् + शतृ = दिव् + य + अत् = दीव् + य + अत् [**हलि च** (६१२) से उपधादीर्घ] = दीव्यत् [**अतो गुणे** (२७४)]। युध् + श्यन् + शानच् = युध् + य + आन = युध्यमान [**आने मुक्** (८३२)]।

स्वादिगणीय सु—सु + श्नु + शतृ = सु + नु + अत् = सुन्वत् [**हुश्नुवोः०** (५०१) से यण्]। सु + श्नु + शानच् = सु + नु + आन = सुन्वान। पूर्ववत् यण्।

तुदादिगणीय तुद्—तुद् + श + शतृ = तुद् + अ + अत् = तुदत् (पूर्वरूप)। तुद् + अ + शानच् = तुद् + अ + आन = तुदमान (मुँक्)।

रुधादिगणीय रुध्—श्नम् विकरण हो कर—रु श्नम् ध् + शतृ = रुनध् + अत् = रुन्ध् + अत् [**श्नसोरल्लोपः** (५७४) से श्नम् का अकारलोप] = रुन्धत्। रु श्नम् ध् + शानच् = रुनध् + आन = रुन्ध् + आन = रुन्धान।

तनादिगणीय तन्—तन् + उ + शतृ = तन् + उ + अत् = तन्वत् [**इको यणचि** (१५) से यण्]। तन् + उ + शानच् = तन् + उ + आन = तन्वान। यण्।

क्र्यादिगणीय क्री—क्री + श्ना + शतृ = क्री + ना + अत् = क्री + न् + अत् [**श्नाभ्यस्तयोरातः** (६१९) से श्ना का आकारलोप] = क्रीणत्। क्री + श्ना + शानच् = क्री + ना + आन = क्री + न् + आन = क्रीणान।

चुरादिगणीय चुर्—चुर् णिच् + शप् + शतृ = चोरि + अ + अत् = चोरे + अ + अत् = चोरय + अत् = चोरयत् (पररूप)। चुर् णिच् + शप् + शानच् = चोरि + अ + आन = चोरय + आन = चोरयमाण (मुँक्)।

(ख) शतृ-शानच् प्रत्ययों के परे होने पर यथासम्भव पिब आदि धात्वादेश हो जाते हैं। यथा—**पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः** (४८७) — पा + शप् + शतृ = पिब + अ + अत् =

पिबत् (दो बार पररूप)। इसी प्रकार—घ्रा—जिघ्रत्। ध्मा—धमत्। स्था—तिष्ठत्। दाण्—यच्छत्। दृश्—पश्यत्। सृ—धावत्। शद्—शीयमान। सद्—सीदत्। ज्ञाजनोर्जा (६३६)—ज्ञा+श्ना+शतृँ=जा+ना+अत्=जानत् [श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६१६) से श्ना के आकार का लोप]। शानच्—जानान। जन्+श्यन्+शानच्=जा+य+आन=जायमान (मुँक्)। इषुगमियमां छः (५०४)—इष्+श+शतृँ=इच्छ्+अ+अत्=इच्छत्। गम्+शप्+शतृँ=गच्छ्+अ+अत्=गच्छत्। श्रुवः शृ च (४९९)—श्रु+शतृँ=शृ+श्नु+अत्=शृ+नु+अत्=शृण्वत् (५०१)। शतृँ और शानच् सार्वधातुक प्रत्यय हैं अतः आर्धधातुक परे न होने से अस्तेर्भूः (५७६) और ब्रुवो वचिः (५९६) सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। अस्+शप्+शतृँ=अस्+अत् (अदादित्वात् शप् का लुक्)=स्+अत् [श्नसोरल्लोपः (५७४) से अस् के अकार का लोप]=सत्। ब्रू+शप्+शतृँ=ब्रू+अत्=ब्रुवत् [अचि श्नुधातु० (१९९) से उवँङ्]। शानच्—ब्रुवाण।

(ग) शतृँ-शानच् में यथासम्भव उपधाकार्य हो जाते हैं—हन्+शप्+शतृँ=हन्+अत् (शब्लुक्)=ह्+न्+अत् [गमहनजनखन० (५०५) से उपधालोप]=घ्न्+अत्=घ्नत् [हो हन्तेर्० (२८७) से कुत्व-घकार]। शम्+श्यन्+शतृँ=शाम्+य+अत् [शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७.३.७४) से दीर्घ]=शाम्यत्। इसी प्रकार—श्रम्—श्राम्यत्। भ्रम्—भ्राम्यत्[1]। दम्—दाम्यत् आदि।

(घ) शतृँ-शानच् में प्वादीनां ह्रस्वः (६९०) से ह्रस्व प्रवृत्त हो जाता है। यथा—पूञ्+श्ना+शतृँ=पु+ना+अत्=पु+न्+अत् [श्नाभ्यस्तयोरातः (६१६) से आकारलोप]=पुनत्। शानच्—पुनान। इसी प्रकार—लुनत्-लुनान आदि।

(ङ) शतृ-शानच् में यथासम्भव शे मुचादीनाम् (६५४) से नुम् प्रवृत्त हो जाता है—मुच्+श+शतृँ=मुञ्च्+अ+अत्=मुञ्चत् (पररूप)। शानच् में—मुञ्चमान। इसी तरह—सिच्—सिञ्चत्-सिञ्चमान। कृत्—कृन्तत्-कृन्तमान। विद्लृँ—विन्दत्-विन्दमान। लुप्—लुम्पत्-लुम्पमान आदि।

(च) शतृँ-शानच् में कहीं गुण हो जाता है और कहीं उस का अभाव। इस की सामान्य व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

शतृँ-शानच् के परे रहते यदि धातु से शप् विकरण किया गया हो तो वह पित् होने से सार्वधातुकमपित् (५००) द्वारा ङिद्वत् नहीं होता अतः उस के परे रहते सार्वधातुकगुण (३८८) या लघूपधगुण (४५१) निर्बाध हो जाते हैं। यथा—जि+शप्+शतृँ=जे+अ+अत्=जयत् (सार्वधातुकगुण हो जाता है)। भू+शप्+

---

१. भ्रम् धातु से वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमुँ-क्रमुँ-क्लमुँ-त्रसि-त्रुटि-लषः (३.१.७०) सूत्रद्वारा श्यन् का वैकल्पिक विधान होता है। श्यन्पक्ष में शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७.३.७४) से दीर्घ हो कर 'भ्राम्यत्' बनता है। श्यन् के अभाव में शप् हो कर दीर्घ न होगा—भ्रमत्।

शतृँ=भो+अ+अत्=भवत् (सार्वधातुकगुण हो जाता है)। रुह्+शप्+शतृँ=रोह्+अ+अत्=रोहत् (लघूपधगुण हो जाता है)। शुभ्+शप्+शानच्=शोभ्+अ+आन=शोभमान (लघूपधगुण हो जाता है)। वृध्+शप्+शानच्=वर्ध्+अ+आन=वर्धमान (लघूपधगुण हो जाता है)।

परन्तु श्यन्, श्नु, श्ना, श विकरणों के अपित् होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण क्ङिति च (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है। यथा—कुप्+श्यन्+शतृँ=कुप्+य+अत्=कुप्यत् (लघूपधगुण नहीं हुआ)। चि+श्नु+शतृँ=चि+नु+अत्=चिन्वत् (सार्वधातुकगुण नहीं हुआ)। मिल्+श+शतृँ=मिल्+अ+अत्=मिलत् (लघूपधगुण नहीं हुआ)। क्री+श्ना+शानच्=क्री+ना+आन=क्री+न्+आन=क्रीणान (सार्वधातुक गुण नहीं हुआ)।

अदादि और जुहोत्यादि गणों में शप् का क्रमशः लुक् और श्लु हो जाने से शतृँ-शानच् साक्षात् धातु के सामने रहते हैं अतः सार्वधातुकमपित् (५००) से इन के ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है। यथा—दुह्+शप्+शतृँ=दुह्+अत्=दुहत् (लघूपधगुण नहीं होता है)। दुह्+शप्+शानच्=दुह्+आन=दुहान (लघूपधगुण नहीं होता)। ब्रू+शप्+शानच्=ब्रू+आन=ब्रुवाण (सार्वधातुकगुण नहीं होता)। हु+शप्+शतृँ=जुहु+अत्=जुह्वत् (सार्वधातुकगुण नहीं होता)। भी+शप्+शतृँ=बिभी+अत्=बिभ्यत् (सार्वधातुकगुण नहीं होता)।

तनादिगण में उ विकरण आर्धधातुक होता है। उस के परे रहते लघूपधगुण का विकल्प प्रतिपादन कर चुके हैं (देखें द्वितीय भाग पृ० ५५७) परन्तु कृ धातु में आर्धधातुकगुण हो कर अत उत् सार्वधातुके (६७७) से अकार को उकार हो जाता है। यथा—कृ+उ+शतृँ=कर्+उ+अत्=कुरु+अत्=कुर्वत्। कृ+उ+शानच्=कर्+उ+आन=कुरु+आन= कुर्वाण। क्षिण्+उ+शतृँ=क्षेण्+उ+अत्=क्षेण्वत्, क्षिण्वत् (लघूपधगुण का विकल्प)।

रुधादिगण में श्नम् प्रत्यय धातु के मध्य में किया जाता है अतः उस के परे रहते रुध् आदि के रु आदि धातुभागों की अङ्गसंज्ञा न होने से गुण की प्राप्ति ही नहीं होती[1]। यथा—रु श्नम् ध्+शतृँ=रुनध्+अत्=रुन्ध्+अत्=रुन्धत्। रु श्नम् ध्+शानच्=रुनध्+आन=रुन्ध्+आन=रुन्धान। भु श्नम् ज्+शानच्=भुनज्+आन=भुञ्ज्+आन=भुञ्जान [श्नसोरल्लोपः (५७४)]।

कुछ धातुओं में गुण का विशेष विधान होता है अतः वह शतृँ-शानच् में भी यथासम्भव हो जाता है। यथा—शीङ्+शप्+शानच्=शी+आन=शे+आन=शयान [शीङः सार्वधातुके गुणः (५८३) से गुण]। मिद्+श्यन्+शतृँ=मिद्+य+अत्=मेद्+य+अत्=मेद्यत् [मिदेर्गुणः (७.३.८२) से गुण]।

(छ) शतृँ-शानच् के परे रहते यथाप्राप्त सम्प्रसारण हो जाता है। यथा—

---

१. देखें भैमीव्याख्या का द्वितीय भाग पृष्ठ (५२२)।

प्रच्छ्+श+शतृँ=पृच्छ्+अ+अत् [**ग्रहिज्यावयिव्यधि०** (६३४)]=पृच्छत् । ग्रह्+श्ना+शानच्=गृह्+ना+आन=गृह्+न्+आन=गृह्णान । शतृँ में—गृह्णत् । पूर्ववत् सम्प्रसारण । व्यध्+श्यन्+शतृँ=विध्+य+अत्=विध्यत् । पूर्ववत् सम्प्रसारण ।

(ज) ददत्, दधत्, बिभ्यत्, जुह्वत्, जाग्रत् आदि अभ्यस्तसंज्ञकों (३४४, ३४६) की रूपमाला अन्य शत्रन्तों से भिन्न 'ददत्, ददतौ, ददतः ; ददतम्, ददतौ' इत्यादिप्रकारेण चलती है । **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८६) सूत्र से प्राप्त नुँम् आगम का **नाभ्यस्ताच्छतुः** (३४५) से निषेध हो जाता है । इस का सविस्तर विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ (३४६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें ।

(झ) शतृप्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२४६) से ङीप् (ई) प्रत्यय हो जाता है । यथा—जानत्—जानती (जानती हुई) । शृण्वत्—शृण्वती (सुनती हुई) । अदत्—अदती (खाती हुई) । अश्नत्—अश्नती (खाती हुई) । ददत्—ददती (देती हुई) । घ्नत्—घ्नती (मारती हुई) । प्राप्नुवत्—प्राप्नुवती (प्राप्त करती हुई) । कुर्वत्—कुर्वती (करती हुई) । रुन्धत्—रुन्धती (रोकती हुई) आदि । यदि धातु में शप् वा श्यन् विकरण हुआ हो तो ङीप् के परे होने पर नित्य नुँम् का आगम हो जाता है [देखें—**शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६)]। यथा—पचत्—पचन्ती (पकाती हुई) । भवत्—भवन्ती (होती हुई) । गच्छत्—गच्छन्ती (जाती हुई) । दीव्यत्—दीव्यन्ती (चमकती हुई) । कुप्यत्—कुप्यन्ती (क्रोध करती हुई) । चोरयत्—चोरयन्ती (चुराती हुई) । गणयत्—गणयन्ती (गिनती हुई) आदि । तुदादिगणीय तथा आकारान्त अदादिगणीय धातुओं से ङीप् में नुँम् का आगम विकल्प से होता है [देखें—**आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५)] । यथा—तुदत्—तुदती-तुदन्ती (दुःख देती हुई) । मुञ्चत्—मुञ्चती-मुञ्चन्ती (छोड़ती हुई) । विन्दत्—विन्दती-विन्दन्ती (पाती हुई) । यात्—याती-यान्ती (जाती हुई) । स्नात्—स्नाती-स्नान्ती (स्नान करती हुई) । भात्—भाती-भान्ती (चमकती हुई) आदि । शानच्-प्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में सर्वत्र **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय हो जाता है । यथा—एधमान—एधमाना । वर्धमान—वर्धमाना (बढ़ती हुई) । ददान—ददाना (देती हुई) आदि । यहां नुँम् का कोई प्रसङ्ग ही नहीं ।

(ञ) कर्तृवाच्य की तरह कर्मवाच्य में भी शानच्प्रत्यय की प्रवृत्ति होती है (शतृँ की नहीं) । तब वहां **सार्वधातुके यक्** (७५२) से यक् विकरण होता है । यथा—पठ्यमानः श्लोकः, दृश्यमानं वस्तु, आस्वाद्यमानो रसः, भक्ष्यमाणा यवागूः, गम्यमानो मार्गः, स्तूयमानो नरपतिः, अवलोक्यमानं दृश्यम्, उपेक्ष्यमाणो व्याधिः । भाववाच्य में अनभिधान के कारण शानच् की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(ट) णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि धातुओं से परे भी लँट् के स्थान पर शतृँ शानच् प्रत्यय हो जाते हैं । यथा—(णिजन्त)—स्था+णिच्=स्थापि—स्थापयत् । पठ्+णिच्=पाठि—पाठयत् । दृश्+णिच्=दर्शि—दर्शयत् । पा+णिच्=पाति

—पातयत् आदि । (सन्नन्त)—पठ्+सन्=पिपठिष—पिपठिषत् । गम्+सन्= जिगमिष—जिगमिषत् । (यङन्त)—ग्रह्+यङ्=जरीगृह्य—जरीगृह्यमाण । भू+ यङ्=बोभूय—बोभूयमान । दह्+यङ्=दन्दह्य—दन्दह्यमान । स्मृ+यङ्=सास्मर्य —सास्मर्यमाण । हन्+यङ्=जङ्घन्य—जङ्घन्यमान । क्री+यङ्=चेक्रीय— चेक्रीयमाण । दीप्+यङ्=देदीप्य—देदीप्यमान । यज्+यङ्=यायज्य—यायज्य- मान । यङन्त धातुओं के ङित्त्व के कारण आत्मनेपदसंज्ञक शानच् ही होता है, शतृँ नहीं ।

यहां यह भूलना नहीं चाहिये कि हेतुमण्णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि धातुओं से कर्तृवाच्य में लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् करने पर शप् विकरण अवश्य किया जाता है । तब अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश हो जाता है । इन के कर्मवाच्य में तो यक् विकरण ही होगा ।

अब हम प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी शतृँ-शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थ सहित दो बृहत्संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं । प्रथम शतृँप्रत्ययान्तों का संग्रह यथा—

१. (अट्) अटत्[1]=घूमता हुआ
२. (अद्) अदत्=खाता हुआ
३. (अर्च्) अर्चत्=पूजता हुआ
४. (अर्ज्) अर्जयत्=कमाता हुआ
५. (अश्) अश्नत्=खाता हुआ
६. (अस्) सत्=होता हुआ
७. (अस्) अस्यत्=फेंकता हुआ
८. (आप्) आप्नुवत्=पाता हुआ
९. (इण्) यत्=जाता हुआ
१०. (इष्) इच्छत्=चाहता हुआ
११. (कथ्) कथयत्=कहता हुआ
१२. (कर्ण्) आकर्णयत्=सुनता हुआ
१३. (काङ्क्ष्) काङ्क्षत्=चाहता हुआ
१४. (कुप्) कुप्यत्=क्रोध करता हुआ
१५. (कूज्) कूजत्=गूंजता हुआ
१६. (कृ) कुर्वत्=करता हुआ
१७. (कृत्) कृन्तत्=काटता हुआ
१८. (कृष्) कर्षत्=खींचता हुआ
१९. (कृष्) कृषत्=हल चलाता हुआ
२०. (कॄ) किरत्=बिखेरता हुआ
२१. (कॄत्) कीर्तयत्=यश गाता हुआ
२२. (क्रन्द्) क्रन्दत्=चिल्लाता हुआ
२३. (क्रम्) क्रामत्=आगे बढ़ता हुआ
क्राम्यत्=आगे बढ़ता हुआ
२४. (क्री) क्रीणत्=खरीदता हुआ
२५. (क्रीड्) क्रीडत्=खेलता हुआ

१. स्त्रीलिङ्ग में इन शत्रन्तों के रूप यथा—(१) अट्—अटन्ती । (२) अद्— अदती । (३) अर्च्—अर्चन्ती । (४) अर्ज्—अर्जयन्ती । (५) अश्—अश्नती । (६) अस् (अदा०)—सती । (७) अस् (दिवा०)—अस्यन्ती । (८) आप्—आप्नुवती । (९) इण्—यती । (१०) इष्—इच्छती-इच्छन्ती । (११) कथ्—कथयन्ती । (१२) कर्ण्— आकर्णयन्ती । (१३) काङ्क्ष्—काङ्क्षन्ती । (१४) कुप्—कुप्यन्ती । (१५) कूज्— कूजन्ती । (१६) कृ—कुर्वती । (१७) कृत्—कृन्तती-कृन्तन्ती । (१८) कृष् (भ्वा०) —कर्षन्ती । (१९) कृष् (तु०)—कृषती-कृषन्ती । (२०) कॄ—किरती-किरन्ती । (२१) कॄत्—कीर्तयन्ती । (२२) क्रन्द्—क्रन्दन्ती । (२३) क्रम्—क्रामन्ती- क्राम्यन्ती । (२४) क्री—क्रीणती । (२५) क्रीड्—क्रीडन्ती ।

२६. (क्रुध्) क्रुध्यत् = क्रोध करता हुआ
२७. (क्वण्) क्वणत् = शब्द करता हुआ
२८. (क्षम्) क्षाम्यत् = क्षमा करता हुआ
२९. (क्षर्) क्षरत् = झरता हुआ
३०. (क्षल्) क्षालयत् = धोता हुआ
३१. (क्षि) क्षयत् = घटता हुआ
३२. (क्षिप्) क्षिपत् = फेंकता हुआ
३३. (क्षुध्) क्षुध्यत् = भूखा होता हुआ
३४. (खन्) खनत् = खोदता हुआ
३५. (खाद्) खादत् = खाता हुआ
३६. (खेल्) खेलत् = खेलता हुआ
३७. (गण्) गणयत् = गिनता हुआ
३८. (गद्) गदत् = कहता हुआ
३९. (गम्) गच्छत् = जाता हुआ
४०. (गर्ज्) गर्जत् = गरजता हुआ
४१. (गुञ्ज्) गुञ्जत् = गूंजता हुआ
४२. (गुप्) गोपायत् = रक्षा करता हुआ
४३. (गुम्फ्) गुम्फत् = गूंथता हुआ
४४. (गॄ) गिरत् = निगलता हुआ
४५. (गै) गायत् = गाता हुआ
४६. (ग्रह्) गृह्णत् = ग्रहण करता हुआ
४७. (ग्लै) ग्लायत् = दुःखी होता हुआ
४८. (घ्रा) जिघ्रत् = सूंघता हुआ
४९. (चर्) चरत् = चरता हुआ
५०. (चल्) चलत् = चलता हुआ
५१. (चि) चिन्वत् = चुनता हुआ
५२. (चिन्त्) चिन्तयत् = सोचता हुआ
५३. (चुर्) चोरयत् = चुराता हुआ
५४. (छिद्) छिन्दत् = काटता हुआ
५५. (जप्) जपत् = जप करता हुआ
५६. (जागृ) जाग्रत् = जागता हुआ
५७. (जि) जयत् = जीतता हुआ
५८. (जीव्) जीवत् = जीता हुआ
५९. (ज्ञा) जानत् = जानता हुआ
६०. (ज्वल्) ज्वलत् = जलता हुआ
६१. (तड्) ताडयत् = पीटता हुआ
६२. (तन्) तन्वत् = विस्तार करता हुआ
६३. (तप्) तपत् = तपता हुआ
६४. (तुद्) तुदत् = चुभोता हुआ
६५. (तुल्) तोलयत् = तोलता हुआ
६६. (तुष्) तुष्यत् = प्रसन्न होता हुआ
६७. (तृप्) तृप्यत् = तृप्त होता हुआ
६८. (तॄ) तरत् = तैरता हुआ
६९. (त्यज्) त्यजत् = छोड़ता हुआ

(२६) क्रुध्—क्रुध्यन्ती। (२७) क्वण्—क्वणन्ती। (२८) क्षम्—क्षाम्यन्ती। (२९) क्षर्—क्षरन्ती। (३०) क्षल्—क्षालयन्ती। (३१) क्षि—क्षयन्ती। (३२) क्षिप्—क्षिपती-क्षिपन्ती। (३३) क्षुध्—क्षुध्यन्ती। (३४) खन्—खनन्ती। (३५) खाद्—खादन्ती। (३६) खेल्—खेलन्ती। (३७) गण्—गणयन्ती। (३८) गद्—गदन्ती। (३९) गम्—गच्छन्ती। (४०) गर्ज्—गर्जन्ती। (४१) गुञ्ज्—गुञ्जन्ती। (४२) गुप्—गोपायन्ती। (४३) गुम्फ्—गुम्फती-गुम्फन्ती। (४४) गॄ—गिरती-गिरन्ती। (४५) गै—गायन्ती। (४६) ग्रह्—गृह्णती। (४७) ग्लै—ग्लायन्ती। (४८) घ्रा—जिघ्रन्ती। (४९) चर्—चरन्ती। (५०) चल्—चलन्ती। (५१) चि—चिन्वती। (५२) चिन्त् चिन्तयन्ती। (५३) चुर्—चोरयन्ती। (५४) छिद्—छिन्दती। (५५) जप्—जपन्ती। (५६) जागृ—जाग्रती। (५७) जि—जयन्ती। (५८) जीव्—जीवन्ती। (५९) ज्ञा—जानती। (६०) ज्वल्—ज्वलन्ती। (६१) तड्—ताडयन्ती। (६२) तन्—तन्वती। (६३) तप्—तपन्ती। (६४) तुद्—तुदती-तुदन्ती। (६५) तुल्—तोलयन्ती। (६६) तुष्—तुष्यन्ती। (६७) तृप्—तृप्यन्ती। (६८) तॄ—तरन्ती। (६९) त्यज्—त्यजन्ती।

७०. (दण्ड्) दण्डयत् = दण्ड देता हुआ
७१. (दह्) दहत् = जलाता हुआ
७२. (दा) ददत् = देता हुआ
७३. (दाण्) यच्छत् = देता हुआ
७४. (दिव्) दीव्यत् = चमकता हुआ
७५. (दुह्) दुहत् = दोहता हुआ
७६. (दृश्) पश्यत् = देखता हुआ
७७. (द्रुह्) द्रुह्यत् = द्रोह करता हुआ
७८. (द्विष्) द्विषत् = द्वेष करता हुआ
७९. (धा) दधत् = धारण करता हुआ
८०. (धाव्) धावत् = भागता हुआ
८१. (धु) धुन्वत् = हिलाता हुआ
८२. (धृ) धरत् = धारण करता हुआ
८३. (ध्यै) ध्यायत् = ध्यान करता हुआ
८४. (नम्) नमत् = नमस्कार करता हुआ
८५. (नश्) नश्यत् = नष्ट होता हुआ
८६. (निन्द्) निन्दत् = निन्दा करता हुआ
८७. (नी) नयत् = ले जाता हुआ
८८. (नृत्) नृत्यत् = नाचता हुआ
८९. (पच्) पचत् = पकाता हुआ
९०. (पठ्) पठत् = पढ़ता हुआ
९१. (पत्) पतत् = गिरता हुआ
९२. (पा) पिबत् = पीता हुआ
९३. (पाल्) पालयत् = पालता हुआ
९४. (पीड्) पीडयत् = दुःख देता हुआ
९५. (पुष्) पुष्णत् = पुष्ट करता हुआ
९६. (पूज्) पूजयत् = पूजता हुआ
९७. (प्रच्छ्) पृच्छत् = पूछता हुआ
९८. (भक्ष्) भक्षयत् = खाता हुआ
९९. (भज्) भजत् = भजता हुआ
१००. (भर्त्स्) भर्त्सयत् = झिड़कता हुआ
१०१. (भिद्) भिन्दत् = तोड़ता हुआ
१०२. (भी) बिभ्यत् = डरता हुआ.
१०३. (भू) भवत् = होता हुआ
१०४. (भ्रम्) भ्रमत् = घूमता हुआ
भ्राम्यत् = घूमता हुआ
१०५. (मिल्) मिलत् = मिलता हुआ
१०६. (मुच्) मुञ्चत् = छोड़ता हुआ
१०७. (मुष्) मुष्णत् = चुराता हुआ
१०८. (मुह्) मुह्यत् = मूढ होता हुआ
१०९. (यज्) यजत् = यज्ञ करता हुआ
११०. (या) यात् = जाता हुआ
१११. (याच्) याचत् = मांगता हुआ
११२. (रक्ष्) रक्षत् = रक्षा करता हुआ

(७०) दण्ड् - दण्डयन्ती। (७१) दह्—दहन्ती। (७२) दा—ददती। (७३) दाण्—यच्छन्ती। (७४) दिव्—दीव्यन्ती। (७५) दुह्—दुहती। (७६) दृश्—पश्यन्ती। (७७) द्रुह्—द्रुह्यन्ती। (७८) द्विष्—द्विषती। (७९) धा—दधती। (८०) धाव्—धावन्ती। (८१) धु—धुन्वती। (८२) धृ—धरन्ती। (८३) ध्यै—ध्यायन्ती। (८४) नम्—नमन्ती। (८५) नश्—नश्यन्ती। (८६) निन्द्—निन्दन्ती। (८७) नी—नयन्ती। (८८) नृत्—नृत्यन्ती। (८९) पच्—पचन्ती। (९०) पठ्—पठन्ती। (९१) पत्—पतन्ती। (९२) पा—पिबन्ती। (९३) पाल्—पालयन्ती। (९४) पीड्—पीडयन्ती। (९५) पुष्—पुष्णती। (९६) पूज्—पूजयन्ती। (९७) प्रच्छ्—पृच्छती-पृच्छन्ती। (९८) भक्ष्—भक्षयन्ती। (९९) भज्—भजन्ती। (१००) भर्त्स्—भर्त्सयन्ती। (१०१) भिद्—भिन्दती। (१०२) भी—बिभ्यती। (१०३) भू—भवन्ती। (१०४) भ्रम्—भ्रमन्ती-भ्राम्यन्ती। (१०५) मिल्—मिलती-मिलन्ती। (१०६) मुच्—मुञ्चती-मुञ्चन्ती। (१०७) मुष्—मुष्णती। (१०८) मुह्—मुह्यन्ती। (१०९) यज्—यजन्ती। (११०) या—याती-यान्ती। (१११) याच्—याचन्ती। (११२) रक्ष्—रक्षन्ती।

११३. (रच्) रचयत् = बनाता हुआ
११४. (रुद्) रुदत् = रोता हुआ
११५. (रुध्) रुन्धत् = रोकता हुआ
११६. (रुह्) रोहत् = उगता हुआ
आरोहत् = चढ़ता हुआ
११७. (लिख्) लिखत् = लिखता हुआ
११८. (लिह्) लिहत् = चाटता हुआ
११९. (लुभ्) लुभ्यत् = लोभ करता हुआ
१२०. (वद्) वदत् = बोलता हुआ
१२१. (वम्) वमत् = वमन करता हुआ
१२२. (वर्ण्) वर्णयत् = वर्णन करता हुआ
१२३. (वस्) वसत् = रहता हुआ
१२४. (वह्) वहत् = ढोता हुआ
१२५. (वाञ्छ्) वाञ्छत् = चाहता हुआ
१२६. (विद्) विद्वस् = जानता हुआ
विदत् = जानता हुआ
१२७. (विद्) विन्दत् = पाता हुआ
१२८. (विश्) विशत् = घुसता हुआ
१२९. (व्रज्) व्रजत् = जाता हुआ
१३०. (शक्) शक्नुवत् = समर्थ होता हुआ
१३१. (शम्) शाम्यत् = शान्त होता हुआ
१३२. (शंस्) शंसत् = कहता हुआ
१३३. (शुच्) शोचत् = शोक करता हुआ
१३४. (शुष्) शुष्यत् = सूखता हुआ
१३५. (श्रि) श्रयत् = आश्रय करता हुआ
१३६. (श्रु) शृण्वत् = सुनता हुआ
१३७. (श्लिष्) श्लिष्यत् = चिपटता हुआ
१३८. (श्वस्) श्वसत् = सांस लेता हुआ
१३९. (सद्) सीदत् = दुःखी होता हुआ
१४०. (सिच्) सिञ्चत् = सींचता हुआ
१४१. (सिध्) सिध्यत् = सिद्ध होता हुआ
१४२. (सृ) सरत् = सरकता हुआ
१४३. (सृज्) सृजत् = पैदा करता हुआ
उत्सृजत् = छोड़ता हुआ
१४४. (स्तु) स्तुवत् = स्तुति करता हुआ
१४५. (स्था) तिष्ठत् = ठहरता हुआ
१४६. (स्पृश्) स्पृशत् = छूता हुआ
१४७. (स्मृ) स्मरत् = याद करता हुआ
१४८. (स्वप्) स्वपत् = सोता हुआ
१४९. (हन्) घ्नत् = मारता हुआ
१५०. (हस्) हसत् = हंसता हुआ
१५१. (हा) जहत् = छोड़ता हुआ
१५२. (हृ) हरत् = हरता हुआ

(११३) रच्—रचयन्ती। (११४) रुद्—रुदती। (११५) रुध्—रुन्धती। (११६) रुह्—रोहन्ती। (११७) लिख्—लिखती-लिखन्ती। (११८) लिह्—लिहती। (११९) लुभ्—लुभ्यन्ती। (१२०) वद्—वदन्ती। (१२१) वम्—वमन्ती। (१२२) वर्ण्—वर्णयन्ती। (१२३) वस्—वसन्ती। (१२४) वह्—वहन्ती। (१२५) वाञ्छ्—वाञ्छन्ती। (१२६) विद्—विदुषी-विदती। (१२७) विद्—विन्दती-विन्दन्ती। (१२८) विश्—विशती-विशन्ती। (१२९) व्रज्—व्रजन्ती। (१३०) शक्—शक्नुवती। (१३१) शम्—शाम्यन्ती। (१३२) शंस्—शंसन्ती। (१३३) शुच्—शोचन्ती। (१३४) शुष्—शुष्यन्ती। (१३५) श्रि—श्रयन्ती। (१३६) श्रु—शृण्वती। (१३७) श्लिष्—श्लिष्यन्ती। (१३८) श्वस्—श्वसती। (१३९) सद्—सीदती-सीदन्ती। (१४०) सिच्—सिञ्चती-सिञ्चन्ती। (१४१) सिध्—सिध्यन्ती। (१४२) सृ—सरन्ती। (१४३) सृज्—सृजती-सृजन्ती। (१४४) स्तु—स्तुवती। (१४५) स्था—तिष्ठन्ती। (१४६) स्पृश्—स्पृशती-स्पृशन्ती। (१४७) स्मृ—स्मरन्ती। (१४८) स्वप्—स्वपती। (१४९) हन्—घ्नती। (१५०) हस्—हसन्ती। (१५१) ओँहाक्—जहती। (१५२) हृ—हरन्ती।

द्वितीय शानच्प्रत्ययान्त शब्दों का संग्रह यथा—

१. (अय्) पलायमान[1] = भागता हुआ
२. (अर्थ्) प्रार्थयमान = प्रार्थना करता हुआ
[कर्मणि] प्रार्थ्यमान = प्रार्थना किया जाता हुआ
३. (अश्) अश्नुवान = व्याप्त करता हुआ
४. (आप्) [कर्मणि] प्राप्यमाण = पाया जाता हुआ
५. (आस्) आसीन[2] = बैठा हुआ
६. (इङ्) अधीयान = पढ़ता हुआ
७. (ईक्ष्) ईक्षमाण = देखता हुआ
[कर्मणि] निरीक्ष्यमाण = देखा जाता हुआ
८. (ईड्) ईडान = स्तुति करता हुआ
[कर्मणि] ईड्यमान = स्तुति किया जाता हुआ
९. (ईह्) ईहमान = चेष्टा करता हुआ
१०. (ऊह्) ऊहमान = तर्क करता हुआ
११. (एध्) एधमान = बढ़ता हुआ
१२. (कथ्) कथयमान = कहता हुआ
१३. (कम्) कामयमान = चाहता हुआ
१४. (कम्प्) कम्पमान = कांपता हुआ
१५. (काश्) प्रकाशमान = चमकता हुआ
१६. (कृ) कुर्वाण = करता हुआ
(कर्मणि) क्रियमाण = किया जाता हुआ
१७. (क्री) क्रीणान = खरीदता हुआ
[कर्मणि] क्रीयमाण = खरीदा जाता हुआ
१८. (क्षम्) क्षममाण = सहता हुआ
१९. (खिद्) खिद्यमान = खिन्न होता हुआ
२०. (गण्) गणयमान = गिनता हुआ
[कर्मणि] गण्यमान = गिना जाता हुआ
२१. (गर्ह्) गर्हमाण = निन्दा करता हुआ
[कर्मणि] गर्ह्यमाण = निन्दा किया जाता हुआ
२२. (गाह्) गाहमान = विलोडता हुआ
[कर्मणि] गाह्यमान = विलोडा जाता हुआ
२३. (ग्रह्) गृह्णान = ग्रहण करता हुआ
[कर्मणि] गृह्यमाण = ग्रहण किया जाता हुआ
२४. (घट्) घटमान = घटित होता हुआ
२५. (चि) चिन्वान = चुनता हुआ
[कर्मणि] चीयमान = चुना जाता हुआ
२६. (चिन्त्) चिन्तयमान = चिन्ता करता हुआ
[कर्मणि] चिन्त्यमान = सोचा जाता हुआ
२७. (चुर्) चोरयमाण = चुराता हुआ
[कर्मणि] चोर्यमाण = चुराया जाता हुआ
२८. (चेष्ट्) चेष्टमान = चेष्टा करता हुआ।
२९. (छिद्) छिन्दान = छेदन करता हुआ

---

१. स्त्रीलिङ्ग में शानच्प्रत्ययान्तों से केवल **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय किया जाता है। यथा—पलायमाना आदि। अतः इन का पृथक् निर्देश नहीं किया।

२. **ईदासः** (७.२.८३) सूत्र से यहां 'आन' के आकार को ईकार आदेश हो जाता है।

३०. (जन्) जायमान = पैदा होता हुआ
३१. (डी) डीयमान = उड़ता हुआ (दिवा०)
डयमान = उड़ता हुआ (भ्वा०)
३२. (तड्) ताडयमान = पीटता हुआ
[कर्मणि] ताड्यमान = पीटा जाता हुआ
३३. (तन्) तन्वान = विस्तार करता हुआ
३४. (त्रप्) त्रपमाण = लज्जा करता हुआ
३५. (त्रै) त्रायमाण = पालता हुआ
३६. (त्वर्) त्वरमाण = जल्दी करता हुआ
३७. (दय्) दयमान = दया करता हुआ
३८. (दाञ्) ददान = देता हुआ
[कर्मणि] दीयमान = दिया जाता हुआ
३९. (दीप्) दीप्यमान = चमकता हुआ
(यङन्त) देदीप्यमान = बहुत चमकता हुआ
४०. (दुह्) दुहान = दोहता हुआ
[कर्मणि] दुह्यमाना = दोही जाती हुई
४१. (दृ) आद्रियमाण = आदर करता हुआ
[कर्मणि] आद्रियमाण = आदर पाता हुआ
४२. (द्युत्) द्योतमान = चमकता हुआ
४३. (द्विष्) द्विषाण = द्वेष करता हुआ
४४. (धा) दधान = धारण करता हुआ
[कर्मणि] निधीयमान = रखा जाता हुआ
४५. (नह्) सन्नह्यमान = तैयार होता हुआ
४६. (नी) नयमान = ले जाता हुआ
[कर्मणि] नीयमान ले जाया जाता हुआ
४७. (पच्) पचमान = पकाता हुआ
[कर्मणि] पच्यमान = पकाया जाता हुआ
४८. (पीड्) पीडयमान = पीड़ा देता हुआ
[कर्मणि] पीड्यमान = पीड़ा दिया जाता हुआ
४९. (पू) पुनान = पवित्र करता हुआ
५०. (पूज्) पूजयमान = पूजा करता हुआ
[कर्मणि] पूज्यमान = पूजा जाता हुआ
५१. (बाध्) बाधमान = रोकता हुआ
[कर्मणि] बाध्यमान = रोका जाता हुआ
५२. (बुध्) बुध्यमान = जागा हुआ (दिवा०)
५३. (भज्) भजमान = भजता हुआ
५४. (भाष्) भाषमाण = बोलता हुआ
५५. (भिक्ष्) भिक्षमाण = मांगता हुआ
५६ (भिद्) भिन्दान = भेदन करता हुआ
५७. (भुज्) भुञ्जान[1] = खाता हुआ
५८. (भृ) बिभ्राण - धारण करता हुआ
५९. (भ्रस्ज्) भृज्जमान = भूनता हुआ
६०. (भ्राज्) भ्राजमान = चमकता हुआ
६१. (मण्ड्) मण्डयमान = सजाता हुआ
६२. (मन्) मन्यमान = मानता हुआ
६३. (मुच्) मुञ्चमान = छोड़ता हुआ
६४. (मुद्) मोदमान = प्रसन्न होता हुआ
६५. (यज्) यजमान = यज्ञ करता हुआ
६६. (यत्) यतमान = यत्न करता हुआ
६७. (याच्) याचमान = मांगता हुआ
[कर्मणि] याच्यमान = मांगा जाता हुआ

---

१. **भुजोऽनवने** (६७२) से आत्मनेपद, श्नम् । भुञ्जत् = रक्षा करता हुआ ।

६८. (युध्) युध्यमान=युद्ध करता हुआ
६९. (रच्) रचयमान=रचता हुआ
[कर्मणि] रच्यमान=रचा जाता हुआ
७०. (रभ्) आरभमाण=शुरु करता हुआ
[कर्मणि] आरभ्यमाण=शुरु किया जाता हुआ
७१. (रम्) रममाण=रमण करता हुआ
७२. (राज्) राजमान=शोभा पाता हुआ
७३. (रुच्) रोचमान=पसंद आता हुआ
७४. (रुध्) रुन्धान=रोकता हुआ
७५. (लङ्घ्) लङ्घमान=लांघता हुआ
७६. (लभ्) लभमान=पाता हुआ
[कर्मणि] लभ्यमान=पाया जाता हुआ
७७. (लिह्) लिहान=चाटता हुआ
७८. (ली) लीयमान=लीन होता हुआ
७९. (लू) लुनान=काटता हुआ
८०. (लोक्) लोकमान=देखता हुआ
८१. (लोच्) लोचमान=देखता हुआ
८२. (वन्द्) वन्दमान=झुकता हुआ
८३. (वह्) वहमान=ढोता हुआ
[कर्मणि] उह्यमान=ढोया जाता हुआ
८४. (वस्) वसान=ढांपता हुआ
८५. (विद्) विद्यमान=होता हुआ
८६. (विद्) विन्दमान=पाता हुआ
८७. (वृत्) वर्त्तमान=होता हुआ
८८. (वृध्) वर्धमान=बढ़ता हुआ
८९. (वेप्) वेपमान=कांपता हुआ
९०. (वेष्ट्) वेष्टमान=लपेटता हुआ
९१. (शङ्क्) शङ्कमान=शंका करता हुआ
९२. (शिक्ष्) शिक्षमाण=सीखता हुआ
९३. (शी) शयान=सोता हुआ
९४. (शुभ्) शोभमान=शोभा पाता हुआ
९५. (श्री) श्रयमाण=आश्रय करता हुआ
[कर्मणि] श्रीयमाण=आश्रय किया जाता हुआ
९६. (श्लाघ्) श्लाघमान=श्लाघा करता हुआ
९७. (सह्) सहमान=सहता हुआ
९८. (सिच्) सिञ्चमान=सींचता हुआ
९९. (सेव्) सेवमान=सेवन करता हुआ
[कर्मणि] सेव्यमान=सेवन किया जाता हुआ
१००. (स्तु) स्तुवान=स्तुति करता हुआ
[कर्मणि] स्तूयमान=स्तुति किया जाता हुआ
१०१. (स्पर्ध्) स्पर्धमान=स्पर्धा करता हुआ
१०२. (हृ) हरमाण=हरता हुआ
[कर्मणि] ह्रियमाण=हरा जाता हुआ

अब शास्त्र में बार बार प्रयोग करने के लिये शतृ-शानच् का नामकरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८३४) तौ सत् ।३।२।१२७॥

तौ शतृ-शानचौ सत्संज्ञौ स्तः ॥

अर्थः—वे शतृ और शानच् 'सत्' संज्ञक होते हैं।

व्याख्या—तौ ।१।२। सत् ।१।१। 'तौ' यह लेट: शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (८३१) इस पूर्वसूत्रोक्त 'शतृशानचौ' के स्वरूपनिर्देश के लिये है। यहां

यद्यपि अनुवृत्ति से भी 'शतृँशानचौ' प्राप्त हो सकता था तथापि 'तौ' का ग्रहण उपाधि-रहित शुद्ध शतृँ-शानच् के निर्देश के लिये किया गया है अन्यथा वर्त्तमानकाल में लँडा-देश शतृँ-शानच् की ही 'सत्' संज्ञा हो पाती भविष्यत्कालिक लृँडादेश की न होती। अर्थः—(तौ) शतृँ और शानच् (सत्) 'सत्' संज्ञक होते हैं। 'सत्' संज्ञा का उपयोग **पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन** (२.२.११), **लृँटः सद्वा** (८३५) आदि सूत्रों में किया गया है।

अब लृँट् के स्थान पर भी 'सत्' (शतृँ-शानच्) का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३५) लृँटः सद् वा ।३।३।१४॥

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य॥

अर्थः—लृँट् के स्थान पर सत्सञ्ज्ञक अर्थात् शतृँ-शानच् विकल्प से होते हैं।

व्यवस्थितेति—यह व्यवस्थितविभाषा है इस से अप्रथमासामानाधिकरण्य में तथा प्रत्यय और उत्तरपद के परे रहते किञ्च सम्बोधन, लक्षण और हेतु में नित्य ही सत् हो जाता है (अन्यत्र क्वचित्)।

व्याख्या—लृँटः ।६।१। सत् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। **अर्थः**—(लृँटः) लृँट् के स्थान पर (सत्) सत् अर्थात् शतृँ और शानच् आदेश (वा) विकल्प से होते हैं। पीछे (८३१) सूत्र में वर्त्तमान काल में लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश विधान किये गये थे अब भविष्यत्कालिक लृँट् के स्थान पर भी उन का विधान किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा देवदत्तं पश्य (भविष्य में करने वाले देवदत्त को देख)। यहां डुकृञ् करणे (तना० उभय०) धातु से कर्तृविवक्षा में भविष्यत्सामान्य में **लृँट् शेषे च** (४०८) से लृँट् प्रत्यय आ कर **स्यतासी लृँलुँटोः** (४०३) से 'स्य' प्रत्यय, उस की आर्धधातुकसंज्ञा, **ऋद्धनोः स्ये** (४९७) से इट् का आगम, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण तथा **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व हो कर 'करिष्य+ल्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से लृँट् को शतृँ प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से —करिष्य+अत्। अब **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'करिष्यत्' यह शब्द निष्पन्न होता है। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से द्वितीया के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय के लाने पर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम तथा नकार को अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण करने पर 'करिष्यन्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है। कृञ् धातु ञित् होने से उभयपदी है अतः क्रिया-फल के कर्तृगामी होने पर इस से परे लृँट् को शतृँ न हो कर आत्मनेपदसंज्ञक शानच् आदेश होगा। तब **आने मुँक्** (८३२) से मुँक् का आगम हो कर णत्व करने पर 'करिष्यमाणम्' बनेगा।

लृँट् के स्थान पर होने वाले इस शतृँ-शानच् में पूर्ववत् कोई भी शर्त नहीं है। अतः प्रथमासमानाधिकरण या अप्रथमासमानाधिकरण कहीं पर भी इस की प्रवृत्ति निर्बाध हो जाती है। यथा—करिष्यन् देवदत्तः, करिष्यमाणो देवदत्तः। करिष्यन्तं देवदत्तम्, करिष्यमाणं देवदत्तम्। करिष्यता देवदत्तेन, करिष्यमाणेन देवदत्तेन। करिष्यते देवदत्ताय, करिष्यमाणाय देवदत्ताय आदि।

यहां शतृँ-शानच् को वैकल्पिक कहा गया है। इस विकल्प को वैयाकरणों ने व्यवस्थितविभाषा माना है। जो विकल्प किसी स्थान पर नित्य, किसी स्थान पर बिल्कुल नहीं अथवा किसी स्थान पर उभयथा प्रवृत्त हो उसे व्यवस्थितविभाषा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे विकल्प की सामान्यतः प्रत्येक स्थान पर प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति हो कर दो दो रूप बनते चले जाते हैं वैसे व्यवस्थितविभाषा में नहीं हुआ करता। इस में तो व्यवस्था रहती है—कहीं नित्य प्रवृत्ति होती है और कहीं नित्य अप्रवृत्ति, क्वचित् उभयविध भी व्यवस्था रहती है। व्यवस्थितविभाषा का अक्षरार्थ इस प्रकार समझना चाहिये—व्यवस्था सञ्जाताऽस्या इति व्यवस्थिता, तारकादित्वाद् इतच् (११६३)। व्यवस्थिता चाऽसौ विभाषा व्यवस्थितविभाषा, कर्मधारयसमासः। इस का तात्पर्य वही है जो ऊपर समझा चुके हैं। यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि इस व्यवस्थितविभाषा का निर्णय प्रयोगों को देख कर ही किया जाता है। प्रत्येक विकल्प को व्यवस्थितविभाषा नहीं कहा जा सकता। यहां लृँडादेश ये शतृँ-शानच् भी व्यवस्थितविभाषा से होते हैं। निम्नस्थ स्थानों पर इन की प्रवृत्ति नित्य देखी जाती है—

(१) अप्रथमा अर्थात् द्वितीया आदि के साथ सामानाधिकरण्य में। यथा—करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा देवदत्तं पश्य। करिष्यता करिष्यमाणेन वा देवदत्तेन सूचितम् इत्यादि।

(२) प्रत्यय या उत्तरपद के परे होने पर। यथा—करिष्यतोऽपत्यम्—कारिष्यतः। **तस्यापत्यम्** (१००१) इत्यण्। करिष्यमाणस्यापत्यम्—कारिष्यमाणिः। **अत इञ्** (१०११) इतीञ्। यहां अण् और इञ् प्रत्यय परे हैं। करिष्यतो भक्तिः—करिष्यद्भक्तिः। यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में उत्तरपद परे है।

(३) सम्बोधन में। यथा—हे करिष्यन् !, हे करिष्यमाण !

(४) लक्षण (क्रिया के परिचायक) में। यथा—शयिष्यमाणा भोक्ष्यन्ते यवनाः। यवन लेटे हुए खायेंगे। यहां 'खाना' क्रिया का परिचायक 'लेटना' है।

(५) हेतु (क्रिया के कारण या फल) में। यथा—अर्जयिष्यन् वसति नगरे। कमाने के लिये नगर में रहता है। यहां 'कमाना' नगर में रहने का हेतु है। अध्येष्यमाणो वसति काश्याम्। पढ़ने के हेतु काशी में रहता है।[१]

---

१. सम्बोधन तथा क्रिया के लक्षण और हेतु में लँट् के स्थान पर भी शतृँ-शानच् प्रत्ययों का प्रयोग सूत्रकार को अभिमत है। तथाहि—

सम्बोधने च (३.२.१२५)। सम्बोधन के विषय में भी धातु से परे लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश होते हैं। यथा—हे पचन् ! हे पचमान !।

इन के अतिरिक्त अन्यत्र विकल्प देखा जाता है। यथा 'करिष्यन्' और 'करिष्यमाणः' आदि के पक्ष में 'करिष्यति' आदि भी होते हैं। अर्थात् प्रथमा के सामानाधिकरण्य में विकल्प के कारण तिङन्तों का भी प्रयोग होता है।

नोट—(क) लृँट् लकार में जिस धातु का जो रूप बनता है उसका स्यभागान्त रूप शतृँ-शानच् में भी अक्षुण्ण रहता है। उस भाग की प्रक्रिया भी उसी तरह समझनी चाहिये। यथा—कृ धातु का लृँट् में 'करिष्यति' रूप बनता है तो इस का स्यभागान्त 'करिष्य' यह रूप शतृँ-शानच् में भी उसी तरह सिद्ध हो कर 'करिष्यन्' और 'करिष्यमाणः' बनता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं में भी समझना चाहिये।

(ख) लृँट् के स्थान पर शतृँ आदेश होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२४६) से ङीप् हो कर स्यान्तत्वात् अकारान्त होने के कारण **आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५) से सर्वत्र वैकल्पिक नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—करिष्यती-करिष्यन्ती, भविष्यती-भविष्यन्ती, तोत्स्यती-तोत्स्यन्ती, वत्स्यंती-वत्स्यंन्ती, दास्यती-दास्यन्ती आदि। आत्मनेपद में शानच् आदेश होने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से केवल टाप् ही होता है। यथा—करिष्यमाणा, लप्स्यमाना, यतिष्यमाणा आदि।

(ग) भविष्यत्काल या उस काल में रहने वाले पदार्थ में 'भविष्य' शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है। यथा—

(१) **नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः।** (महाभारत १४.८७.२१)

(२) **अयं भविष्यः कथितो भविष्यकुशलैर्द्विजैः।** (हरिवंश ८१.२८)

(३) **श्रुत्वा साङ्ग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति।**
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्॥ (पञ्च० १.१००)

(४) **यद्भविष्यो विनश्यति** (पञ्च० १.३४६)

(५) **भविष्यपुराण** आदि में भी भविष्य शब्द प्रसिद्ध है।

इन स्थानों पर भविष्यत् शब्द के तकार का पृषोदरादित्वात् लोप समझना चाहिये।

लृँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३.२.१२६)। क्रिया के लक्षण=परिचायक तथा क्रिया के हेतु में वर्त्तमान धातु से परे लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश होते हैं। यथा—शयाना भुञ्जते यवनाः। यवन लेटे हुए खाते हैं। तिष्ठन्ती मूत्रयति गौः। गाय खड़ी होते हुए मूतती है। **पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्** (रामायण १.१.१००)। रामायण पढ़ने से द्विज वाणी में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। अधीयानो वसति गुरुकुले। पढ़ने के लिये गुरुकुल में रहता है। **जीवन् नरो भद्रशतानि पश्येत्।** जीवन के कारण ही मनुष्य सैकड़ों भद्र बातों को देख पाता है।

ध्यान रहे कि इन उपर्युक्त स्थानों पर शतृँ-शानच् आदेश नित्य ही होते हैं विकल्प से नहीं।

(१) मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि —(बृ० उप० २.४.१)।

(२) यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि—(छां० उप० ५.११.५)।

(३) लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥
(रघु० २.८)

(४) कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥
(किरात० १.२)

(५) उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च॥ (माघ० २.१०)

(६) विद्या प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः॥ (सुभाषित)

अभ्यास (६)

(१) यदि शतृ-शानच् लँडादेश या लृँडादेश न हो कर साक्षात् प्रत्यय होते तो क्या दोष उत्पन्न हो जाता ? सप्रमाण विश्लेषण करें।

(२) क्या कर्मवाच्य में शतृ का प्रयोग होता है या नहीं ? सप्रमाण स्पष्ट करें।

(३) निषिद्ध होने पर भी प्रथमासामानाधिकरण्य में लँडादेश शतृ-शानच् की उत्पत्ति कैसे और क्यों मानी जाती है ?

(४) व्यवस्थितविभाषा किसे कहते हैं ? उदाहरणद्वारा स्पष्ट करें।

(५) 'विदेः शतुर्वसुः' सूत्र में 'विदेः' से किस विद् धातु का ग्रहण होता है ? सहेतुक लिखें।

(६) निम्नस्थ धातुओं में किस से परे लँट् के स्थान पर शतृ और किस से परे शानच् होगा ? सप्रमाण लिखें—
आस्, तुद्, ब्रू, सृज्, चुर्, डुधाञ्, डुकृञ्, दिव्, ग्रह्, एध्, अस् (अदा०)।

(७) प्रश्नों का उत्तर दें—
(क) 'पचमानः' और 'पच्यमानः' में तथा 'कर्षन्' और 'कृषन्' में क्या अन्तर है ?
(ख) 'क्रीणन्' में श्ना का आकार तथा 'सन्' में अस् का अकार कैसे लुप्त हो जाता है ?
(ग) दीव्यन्, क्राम्यन्, शाम्यन् में दीर्घ किस से विधान किया जाता है ?

(घ) 'शयानाः' में गुण तथा 'पुनानाः' में आकार लोप का विधान कौन करता है ?

(ङ) जुह्वत्, बिभ्यत् और तन्वत् में यण्विधायक सूत्र समझा कर लिखें ।

(च) लिखत्, मिलत् आदि में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(८) 'भविष्य' शब्द का क्या अर्थ है और इस की सिद्धि कैसे की जाती है ?

(९) निम्नस्थ शत्रन्तों के स्त्रीलिङ्ग में रूप लिखें—
यात्, शृण्वत्, घ्नत्, बिभ्यत्, कुप्यत्, करिष्यत्, विद्वस्, पठत्, कुर्वत्, गणयत्, मुञ्चत् ।

(१०) व्याख्या करें—

(क) लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लँङ्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् ।

(ख) तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षण-हेत्वोश्च नित्यम् ।

(११) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
विदेः शतुर्वसुः, लँटः शतृशानचावप्रथमा०, लृँटः सद्वा ।

(१२) निम्नस्थ धातुओं से यथायोग्य शतृ या शानच् कर ससूत्र सिद्धि करें—
हन्, लिह्, हु, गम्, श्रु, डुदाञ्, शीङ्, मुच्, रुध्, ग्रह्, स्था, ब्रू, पा (रक्षणे), पा (पाने), इष्, रुह्, शम्, अस्, आस् ।

(१३) विद्यते ब्राह्मणः, करिष्यति देवदत्तः, अस्ति द्विजः, वर्धते स्नेहः—इन प्रयोगों को शतृ-शानच्प्रत्ययान्त रूपों में बदलें ।

(१४) 'बिभ्यत्' शब्द के प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में रूप लिखें ।

——:०:——

अब ताच्छीलिक आदि कृत्प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(८३६) आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधु-कारिषु ।३।२।१३४॥

क्विँपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से आगे क्विँप् प्रत्यय तक (उस के सहित) जो प्रत्यय कहे जायेंगे वे तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में समझने चाहियें ।

व्याख्या—आ इत्यव्ययपदम् । क्वेः ।५।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। तच्छील आदियों में 'तद्' शब्द से धातोः (७९६) अधिकार के कारण 'धातु' का ही ग्रहण होता है परन्तु शास्त्रोक्त वर्णात्मक धातु किसी कर्ता का शील-स्वभाव आदि नहीं बन सकती अतः 'धातु' से यहां धात्वर्थ (क्रिया) समझा जाता है । समासः -रा

तृन् [तच्छील, तद्धर्मा, तत्साधुकारी कर्ता]

(धात्वर्थः) शीलं=स्वभावो यस्य स तच्छीलः। बहुव्रीहिसमासः। स (धात्वर्थः) धर्मः=आचारः=कुलाचारो यस्य स तद्धर्मा। यहां बहुव्रीहिसमास में **धर्मादनिच् केवलात्** (५.४.१२४) सूत्र से समासान्त अनिच् प्रत्यय हो कर 'तद्धर्मन्' शब्द बन जाता है। साधु (सम्यक्प्रकारेण) करोतीति साधुकारी। **साधुकारिण्युपसंख्यानम्** इति वार्त्तिकेन ताच्छील्याभावेऽपि णिनिँप्रत्ययः। तस्य (धात्वर्थस्य) साधुकारी तत्साधुकारी। षष्ठीतत्पुरुषः। तच्छीलश्च तद्धर्मा च तत्साधुकारी च तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिणः, तेषु तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु। इतरेतरद्वन्द्वः। 'क्वेः' में आङ् के योग के कारण **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) से पञ्चमी विभक्ति हुई है। 'क्विँ' से अष्टाध्यायी के इसी पादस्थ **भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विँप्** (३.२.१७७) सूत्रोक्त 'क्विँप्' प्रत्यय का निर्देश किया गया है। अर्थः—(आ क्वेः) आगे **भ्राजभास०** सूत्र में आने वाले क्विँप् प्रत्यय तक जो प्रत्यय कहेंगे वे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता में ही हों। यहां सूत्र में 'आ' (आङ्) मर्यादा अर्थ में नहीं अपितु अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः 'क्विँप् प्रत्यय तक' से वक्ष्यमाण क्विँप् प्रत्यय में भी यह सूत्र प्रवृत्त होगा[1]।

तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में यहां से आगे आने वाले प्रत्यय यद्यपि **कृदतिङ्** (३०२) से कर्ता अर्थ में ही होते हैं तथापि इस प्रस्तुत अधिकार के कारण वे प्रत्यय साधारण कर्ता अर्थ में न हो कर तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में ही होंगे अन्य कर्ताओं में नहीं।

(१) तच्छील कर्ता—फल की अपेक्षा किये बिना शील या स्वभाव से ही क्रिया करने वाला कर्ता।

(२) तद्धर्मा कर्ता—शील न होने पर भी क्रिया को अपने कुल का आचार समझकर करने वाला कर्ता।

(३) तत्साधुकारी कर्ता—शील वा कुलाचार न होने पर भी ठीक या उत्तम ढंग से क्रिया करने वाला कर्ता।

इन सब के उदाहरण अगले सूत्र पर स्पष्ट होंगे। अब ताच्छीलिक प्रत्ययों में प्रमुख प्रत्यय तृन् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३७) तृन् ।३।२।१३५॥

कर्ता कटान् ॥

अर्थः—तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में धातु से परे तृन् प्रत्यय हो।

---

१. आङ् के मर्यादा और अभिविधि दो अर्थ होते हैं। इन का सोदाहरण विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में (५५) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में कर चुके हैं वहीं देखें।

व्याख्या—तृन् ।१।१। **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** तीनों अधिकृत हैं। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** इस अधिकार के कारण)। **अर्थः** (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं के वाच्य होने पर (धातोः) धातुमात्र से (परः) परे (तृन्) **तृन्** (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

तृन् प्रत्यय का अन्त्य नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'तृ' मात्र शेष रहता है। नकार अनुबन्ध आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

धातु से तृन् प्रत्यय करने पर भी प्रक्रिया उसी तरह समझनी चाहिये जिस प्रकार तृच् प्रत्यय करने पर होती है। अन्तर केवल स्वर में पड़ता है रूपसिद्धि में नहीं। उदाहरण यथा—

कर्ता कटान् [चटाइयों को बनाने के स्वभाव वाला]। यहां कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभय०) धातु से तच्छील कर्त्ता के वाच्य होने पर **आक्वेस्तच्छील०** (८३६) के अधिकार में **तृन्** (८३७) सूत्र से तृन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर—कृ+तृ। **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से तृ की आर्धधातुकसंज्ञा हो कर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण और रपर करने से 'कर्तृ' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। यहां इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध समझना चाहिये। अब कृदन्तत्वात् 'कर्तृ' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय लाने पर **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** (२०५) से अनँङ् आदेश, उपधादीर्घ (१७७), हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'कर्ता' प्रयोग सिद्ध होता है। इस तृन्नन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्म में प्राप्त षष्ठीविभक्ति का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—कर्ता कटान्।

तृजन्त और तृन्नन्त का अन्तर—

'कर्ता कटानाम्' यहां 'कर्तृ' शब्द तृजन्त और 'कर्ता कटान्' यहां 'कर्तृ' शब्द तृन्नन्त है। तृजन्त सामान्यकर्तृवाचक तथा तृन्नन्त तच्छीलादि कर्ता का वाचक होता है। तृजन्त के योग में कर्म में षष्ठी तथा तृन्नन्त के योग में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती हैं। स्वर के अतिरिक्त तृजन्त और तृन्नन्त का यही मुख्य अन्तर है।

तच्छील कर्त्ता के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) वदिता सत्यम्। जो स्वभावतः सत्य बोलता है।
(२) वदिता जनापवादम्। जो स्वभावतः लोकनिन्दक है।
(३) कर्ता कलहम्। जो स्वभावतः झगड़ा करता है।
(४) उपदेष्टा जनान्। जो स्वभावतः लोगों को उपदेश देता है।
(५) उद्भावयिता बन्धून् भव, न्यग्भावयिता शत्रून् (व्या०च०)। तू स्वभावतः बान्धवों को उठाने वाला और शत्रुओं को नीचा दिखाने वाला हो।

षाकन् [तद्धर्म, तच्छील, तत्साधुकारिषु]

तद्धर्मा कर्ता के उदाहरण यथा—

(१) राघवाः पञ्च चूडाः कर्तारो भवन्ति (व्या० च०)। रघुकुल के राजकुमार पांच चोटियां रखते हैं यह उन के कुल का आचार है।

(२) मुण्डयितारः श्राविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम् (काशिका)। श्रविष्ठा-गोत्र के लोग नवविवाहित वधू का सिर मूंडते हैं—यह उन का कुलाचार है।

(३) अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे (काशिका)। अह्वरदेश के लोग श्राद्धार्थं अन्न के तैयार हो जाने पर उसे उठा ले जाते हैं—यह उन का कुलाचार है।

(४) उन्नेतारस्तौल्वलायना भवन्ति पुत्रे जाते (काशिका)। तौल्वलि के युवापत्यों के कुल का यह धर्म है कि वे उत्पन्न हुए पुत्र को माता से जुदा कर देते हैं (व्या० च०)।

तत्साधुकारी कर्ता के उदाहरण यथा—

(१) कर्ता कटान्। चटाइयों को अच्छी तरह बनाने वाला।

(२) गन्ता खेटम्। शिकार को अच्छी तरह करने वाला।

(३) पूरयिता वंशीम्[1]। बांसुरी को अच्छी तरह बजाने वाला।

(४) गोप्ता गृहम्। घर की भली भांति रक्षा करने वाला।

(५) पक्ता भोजनम्। भोजन को भली भांति पकाने वाला।

नोट—तृन्नन्तों के स्त्रीलिङ्ग में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो कर यण् करने से—कर्त्री, गन्त्री, वादयित्री, गोप्त्री, पक्त्री आदि रूप बनते हैं। इन की रूपमाला गौरीवत् चलती है।

अब ताच्छीलिकादि प्रत्ययों में षाकन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३८) जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् ।३।२।१५५॥

अर्थः—जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट् और वृङ् धातुओं से परे तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में षाकन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः ।५।१। षाकन् ।१।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** से)। **धातोः प्रत्ययः, परश्च** ये सब अधिकृत हैं। जल्पश्च भिक्षश्च कुट्टश्च लुण्टश्च वृङ् च=जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङ्, तस्मात्=जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः, समाहारद्वन्द्वसमासः। जल्पादिष्वकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थो

---

१. नहि वंशी वाद्यते किन्तर्हि पूर्यते यथा शंखः। तेन वंशीं पूरयितेत्येव व्यवहारानुगः प्रयोगः। वंशीं वादयितेति तु असाधुरेवेति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः।

मे (जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः) जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट, लुण्ट् और वृङ् (धातोः) धातु से (परः) परे (षाकन्) षाकन् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है।

जल्प् (बोलना) —[जल्प व्यक्तायां वाचि, भ्वा० प०]।
भिक्ष् (भीख मांगना) —[भिक्षँ भिक्षायामलाभे लाभे च, भ्वा० आ०]।
कुट्ट् (कूटना आदि) —[कुट्ट छेदनभर्त्सनयोः, चुरा० उभय०]।
लुण्ट् (चुराना-लूटना)—[लुण्ट स्तेये, चुरा० उभय०]।
वृङ् (चुनना, चाहना) —[वृङ् सम्भक्तौ, क्र्या० आ०]।

इन पांच धातुओं से तच्छीलादि कर्ताओं में षाकन् प्रत्यय विधान किया जाता है। 'षाकन्' में नकार और षकार दोनों अनुबन्ध हैं। नकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्-संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। यह अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। षकार की इत्संज्ञा करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८३९) **षः प्रत्ययस्य** ।१।३।६॥

प्रत्ययस्यादिः ष इत्सञ्ज्ञः स्यात्। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः। वराकी॥

अर्थः—प्रत्यय का आदि ष् इत्सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—षः।१।१। (षकारादकार उच्चारणार्थः)। प्रत्ययस्य।६।१। आदिः। १।१। (**आदिर्ञिटुडवः** से)। इत्।१।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से)। अर्थः—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (आदिः) आदि (षः) ष् वर्ण (इत्) इत्सञ्ज्ञक होता है।

'षाकन्' प्रत्यय है अतः प्रकृतसूत्र से इस के आदि षकार की इत्संज्ञा हो कर **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप हो जाता है। इस प्रकार 'षाकन्' का 'आक' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय को षित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) द्वारा ङीष् करना है।

जल्पाकः (बोलने के स्वभाव वाला-व्यर्थप्रलापी, बोलने को कुलाचार समझने वाला या ठीक ढंग से बोलने वाला[1])। यहां 'जल्प व्यक्तायां वाचि' धातु से तच्छीलादि-कर्तृविवक्षा में **जल्प-भिक्ष०** (८३८) से षाकन् प्रत्यय हो कर नकार की **हलन्त्यम्** (१) तथा षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत्संज्ञा हो कर दोनों का **तस्य लोपः** (३) से लोप हो जाता है—जल्प्+आक=जल्पाक। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमा के एकवचन सुँ के आने पर 'जल्पाकः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भिक्ष्' से 'भिक्षाकः' (भीख मांगने के स्वभाव वाला आदि); 'कुट्ट्' से 'कुट्टाकः' (कूटने के स्वभाव वाला आदि); 'लुण्ट्' से 'लुण्टाकः' (लूटने के स्वभाव वाला आदि) तथा 'वृङ्' से 'वराकः' (आर्धधातुक गुण। सेवाशील-दीन-बेचारा) प्रयोग सिद्ध होते है। कुट्ट् और लुण्ट् से स्वार्थिक णिच् का लोप (५२९) विशेष है।

षाकन् के षित्त्व के कारण स्त्रीलिङ्ग में **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से

---

१. **स्याज्जल्पाकस्तु वाचाल** इत्यमरे दर्शनाज्जल्पाको बहुवक्तरि रूढः।

ङीप् तथा **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से जल्पाकी, भिक्षाकी, कुट्टाकी, लुण्टाकी और वराकी प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

नोट —कुछ वैयाकरण 'लुण्ट्' के स्थान पर 'लुण्ठ्' धातु स्वीकार करते हैं। वे पूर्वोक्त सूत्र का भी **जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ठ-वृङः षाकन्** इस प्रकार पाठ मानते हैं। उन के अनुसार 'लुण्टाकः' प्रयोग न होकर 'लुण्ठाकः' प्रयोग बनता है ।

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध ताच्छीलिक प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४०) **सनाशंसभिक्ष उः** ।३।२।१६८।।

चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।।

अर्थः—सन्नन्त, आशंस् तथा भिक्ष् धातु से परे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में 'उ' प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—सनाशंसभिक्षः ।५।१। उः ।१।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। सन् च आशंसश्च भिक्ष् च सनाशंसभिक्ष्, तस्मात्=सनाशंसभिक्षः । समाहारद्वन्द्वसमासः । 'आशंस' के अन्त में अकार उच्चारणार्थक है । 'सन्' से यहां सन् धातु का नहीं अपितु सन् प्रत्यय का ग्रहण हो कर **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार सन्प्रत्ययान्त चिकीर्ष आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है। गणपाठ के गर्गादिगण (१००५) में 'विजिगीषु' शब्द का पाठ इस प्रकार के व्याख्यान में प्रमाण है। 'आशंस्' द्वारा 'आङः शसिँ इच्छायाम्' (भ्वा० आ०[1]) इस धातु का ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(सनाशंसभिक्षः) सन्प्रत्ययान्त, आङ्पूर्वक शसिँ अर्थात् आशंस् तथा भिक्ष् (धातोः) धातु से (परः) परे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थों में (उः) 'उ' (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

'चिकीर्ष' यह 'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) धातु का सन्नन्त रूप है । इस की सिद्धि सन्नन्तप्रक्रिया में (७०६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें । इस से तच्छील आदि कर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'उ' प्रत्यय हो कर **अतो लोपः** (४७०) से सन् के सकारोत्तर अकार का लोप कर—चिकीर्षु । विभक्तिकार्य करने पर 'चिकीर्षुः' (करने की स्वभावतः इच्छा वाला आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी तरह—जिहीर्षुः, पिपठिषुः, जिज्ञासुः, मुमुक्षुः, जिघांसुः, जिगमिषुः, शुश्रूषुः, विजिगीषुः, पिपासुः, दिदृक्षुः, आरुरुक्षुः प्रभृति प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

आङ्पूर्वक 'शसिँ इच्छायाम्' (भ्वा० आ०) को इदित्त्वाद् नुँम् आगम तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'आशंस्' धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र द्वारा 'उ' प्रत्यय कर प्रथमैकवचन में 'आशंसुः' (इच्छाशील) प्रयोग सिद्ध होता

---

१. 'आङः शसिँ इच्छायाम्' यह धातुपाठ का वचन है । आङ् से परे शसिँ (शंस्) धातु 'इच्छा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । यथा—आशंसते, आशंसेते, आशंसन्ते आदि ।

है। इसी प्रकार 'भिक्षँ भिक्षायामलाभे लाभे च' (भ्वा० आ०) से 'भिक्षुः' (याचन-शील, भिखारी, साधु) प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

अब ताच्छीलिक प्रत्ययों में अन्तिम क्विँप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४१) भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विँप् ।३।२।१७७॥

विभ्राट् । भाः ॥

अर्थः—भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्रावन्पूर्वक ष्टुञ् धातु से परे तच्छीलादि कर्ता में क्विँप् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः ।५।१। क्विँप् ।५।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्म०** से)। **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। भ्राजश्च भासश्च धुर्विश्च द्युतश्च ऊर्जिश्च पॄ च जुश्च ग्रावस्तुश्च तस्मात्=भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः, समाहारद्वन्द्वः। भ्राज, भास और द्युत में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है। ऊर्जि और धुर्वि में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** से इक् प्रत्यय किया गया है। 'ग्रावस्तु' का अभिप्राय ग्रावन् (पत्थर) पूर्वक 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से है। ग्रावन् कर्म का स्तु धातु से समास सौत्र समझना चाहिये। अर्थः (भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः) भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्रावस्तु (धातोः) इन आठ धातुओं से (परे) परे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में (क्विँप्) क्विँप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। क्विँप् प्रत्यय के ककार इकार और पकार अनुबन्धों का लोप हो कर 'व्' मात्र शेष रहता है। उस का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस प्रकार क्विँप् प्रत्यय का सर्वापहार लोप होता है। इस के आने से यही लाभ होता है कि धातु कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक बन जाती है किञ्च क्विँप् के कित्त्व के कारण सम्प्रसारण या गुणवृद्धिनिषेध तथा पित्त्व के कारण तुँक् आगम आदि कार्य हो जाते हैं।

भ्राज् आदि धातुओं का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) भ्राज् (चमकना)। भ्राजृँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(२) भास् (चमकना)। भासृँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(३) धुर्व् (हिंसा करना)। धुर्वीँ हिंसायाम् [भ्वा० परस्मै० सेट्]।
(४) द्युत् (चमकना)। द्युतँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(५) ऊर्ज् (शक्तिमान् होना या जीना)। ऊर्ज बलप्राणनयोः [चुरा० उभय० सेट्]।

---

१. **यो निःसृतोऽपि न च निःसृतकामरागः**
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः।
पात्रं बिभर्त्यथ गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः॥ (सौन्दरनन्द ७.४६)

(६) पॄ (पालना वा भरना)। पॄ पालनपूरणयोः [जुहो० परस्मै० सेट्]।
(७) जु (तेज चलना)। जु वेगितायां गतौ [सौत्रोऽयं धातुः]।
(८) ग्रावन्+स्तु (पत्थर की स्तुति करना)। ष्टुञ् स्तुतौ [अदा० उभय० अनिट्]।

भ्राज् आदि धातुओं से निरुपसर्ग या सोपसर्ग किसी भी दशा में क्विँप् हो सकता है। परन्तु ष्टुञ् धातु से ग्रावन्शब्दपूर्वक ही।

'वि' उपसर्गपूर्वक भ्राज् (चमकना) धातु से तच्छीलादि कर्ता की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्विँप् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'विभ्राज्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर हल्ङ्यादिलोप, **व्रश्च-भ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** (३०७) से भ्राज् के जकार को षकार तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार और **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'विभ्राट्, विभ्राड्' (चमकने के स्वभाव वाला) ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भास् (चमकना) धातु से तच्छीलादि कर्तृविवक्षा में क्विँप्, उस का सर्वापहार-लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आकर उस का हल्ङ्यादिलोप (१७९) कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'भाः' (चमकने के शील वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'धुर्व्' (हिंसा करना) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्विँप् हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से—धुर्व्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४२) राल्लोपः।६।४।२१॥

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ, झलादौ क्ङिति (च)। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्॥

अर्थः—रेफ से परे छकार या वकार का लोप हो जाता है यदि क्विँ (क्विँप्) परे हो या झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो। **दृशि** अग्रिमसूत्र से 'दृश्यते' पद के अपकर्षण के कारण 'जु' को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—रात्।५।१। लोपः।१।१। छ्वोः।६।२। (**छ्वोः शूडनुनासिके च** से) क्विँ-झलोः।७।२। क्ङिति।७।१। (**अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति** से)। 'क्विँ-झलोः' में 'झलि' अंश 'क्ङिति' का विशेषण है अतः विशेषण से **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(रात्) 'र्' से परे (छ्वोः) छ् और व् का (लोपः) लोप हो जाता है (क्विँ-झलोः क्ङिति) क्विँ परे होने पर अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर। उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'धुर्व्' से क्विँप् किया गया था जो प्रत्ययलक्षणद्वारा (१९०) अब भी परे माना जा सकता है अतः रेफ से परे व् का लोप हो कर 'धुर्' प्रातिपदिक

निष्पन्न होता है। प्रथमैकवचन में इस से परे सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति** (प०) इस कथन के अनुसार धातुत्व के अक्षुण्ण रहने से पदान्त में **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ करने से 'धूर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'धूः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धुर्' शब्द की रूपमाला तथा समस्त प्रक्रिया पूर्वार्ध मे (३६०) सूत्र पर लिखे 'गिर्, पुर्' शब्दों की तरह होती है। यह शब्द नित्यस्त्रीलिङ्गी माना जाता है।[1]

झलादि कित् के उदाहरण 'मूर्तः, मूर्तवान्' आदि। मुर्छाँ मोहसमुच्छ्राययोः (भ्वा० प०)। मुर्छ्+क्त=मुर्छ्+त=मुर्+त=मूर्तः [हलि च (६१२) से दीर्घ हो जाता है][2]।

झलादि ङित् के उदाहरण 'मोमूर्तः' आदि। यह मुर्छ् धातु के यङ्लुगन्त में लँट् के प्रथमपुरुष का द्विवचन है। **सार्वधातुकमपित्** (५००) से यहां 'तस्' ङित् है।

पूर्वप्रकृत क्विँप् के अन्य उदाहरण यथा—

'वि' पूर्वक द्युत् (चमकना) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि०** (८४१) से क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप तथा क्विँप् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो कर 'विद्युत्' यह तकारान्त स्त्रीलिङ्गी शब्द निष्पन्न होता है। इस से परे प्रथमैकवचन सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर 'विद्युत्' (चमकने के स्वभाव वाली—तडित् या बिजली) प्रयोग सिद्ध होता है। विद्युत्, विद्युतौ, विद्युतः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी।

ऊर्ज् (बलवान् होना या प्राणधारण करना) धातु से स्वार्थ में णिच् (६९४) हो कर **भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विँप्** (८४१) द्वारा तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप **णेरनिटि** (५२९) से णिच् का भी लोप करने पर 'ऊर्ज्' प्रातिपदिक बनता है। अब इस से परे प्रथमैकवचन सुँ का हल्ङ्यादिलोप, **रात्सस्य** (२०९) नियम के कारण संयोगान्तलोप का निषेध, **चोः कुः** (३०६) से कुत्व=गकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=ककार करने पर 'ऊर्क्, ऊर्ग्' (बलशील वा जीवनशील) प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'ऊर्ज्' शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग धारण करेगा। पुं० में ऊर्क्, ऊर्जौ, ऊर्जः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी[3]।

---

१. धूर्वति=हिनस्ति=दुःखाकरोति वोढॄन् इति धूः। बैल आदि वाहकों को दुःखी करने के स्वभाव वाला अर्थात् रथ आदि का अग्रभाग जो बैल आदि के कन्धे पर रखा जाता है। यह शब्द अब कई अर्थों में रूढ हो चुका है। यथा—
   (क) रथादि के अग्रभाग में—**न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति** (मृच्छ० ४.१७)।
   (ख) भार अर्थ में—**तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे** (रघु० १.३४)।
   (ग) अग्र अर्थ में—**अपांसुलानां धुरि कीर्त्तनीया** (रघु० २.२)।

२. अत्र **आदितश्च** (७.२.१६) इतीण्निषेधः। **रदाभ्यां०** (८१६) इति निष्ठानत्व-स्यापि **न ध्याख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) इति निषेधः।

३. प्रायः सभी प्रमुख कोषकारों ने ऊर्ज् शब्द को अन्न वा बल का वाचक तथा नित्य-स्त्रीलिङ्गी माना है। रामचन्द्र तथा भट्टोजिदीक्षित आदि वैयाकरणों ने इसे हलन्त-

पॄ पालन-पूरणयोः (जुहो० परस्मै०) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भासधुर्वि०** (८४१) सूत्र से क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप, क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध, पुनः **ॠत इद् धातोः** (६६०) द्वारा इत्व के प्राप्त होने पर उस का बाध कर **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) से उत्व तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर करने पर 'पुर्' यह नित्यस्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला 'गिर्' शब्द की तरह चलती है। प्रथमैकवचन में सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ तथा रेफ को विसर्ग करने से 'पूः' प्रयोग सिद्ध होता है। पूः, पुरौ, पुरः। पिपर्त्ति तच्छीलेति पूः। जो अपने अन्तर्गत प्राणियों का पालन करे या अपने अन्दर वस्तुओं को भरती रहे उसे 'पुर्' कहते हैं। यह शब्द नगरी अर्थ में रूढ हो चुका है[1]।

'जु' धातु धातुपाठ में नहीं पढ़ी गई, सूत्रों में ही देखी जाती है[2]। अतः इसे सौत्र धातु कहते हैं। इसी से ही 'जवः, जूतिः, जवनः' प्रभृति शब्द बनते हैं। काशिकाकार ने इस का अर्थ 'वेगितायां गतौ' अर्थात् 'तेज चलना' लिखा है। इस 'जु' धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र से क्विँप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारलोप करने से—जु। परन्तु **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र में **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) इस अग्रिमसूत्र से 'दृश्यते' (देखा जाता है) पद का अपकर्षण कर यह माना जाता है कि इस सूत्र में कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो लोक में तो देखे जाते हैं पर शास्त्रद्वारा विहित नहीं किये गये, उन की भी स्वीकृति 'दृश्यते' के कारण समझ ली जाती है। अतः यहां 'जु' को दीर्घ कर 'जू' शब्द बन जाता है। कारण कि लोक में दीर्घान्त जू शब्द ही उपलब्ध होता है ह्रस्वान्त नहीं। अब 'जू' की कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ लाने पर 'जूः' प्रयोग सिद्ध होता है। जवति वेगेन गच्छतीति तच्छीलो जूः (वेग से चलने के स्वभाव वाला)। जूः, जुवौ, जुवः—इस प्रकार रूप माला चलेगी।

ग्रावाणं स्तौति तच्छील इति ग्रावस्तुत् [सोम-अभिषव के साधन पत्थर की स्तुति करने के स्वभाव वाला, होता के तीन सहायकों में से एक ऋत्विग्विशेष]। 'ग्रावन्' शब्द पत्थर का वाचक है और नकारान्त पुं० है[3]। 'ग्रावन्' कर्मपूर्वक स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ, अदा० उभय०) धातु से **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में क्विँप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहारलोप हो जाता है। पुनः कृद्योग मे कर्म में षष्ठी

नपुंसकप्रकरण में पढ़ा है और हम ने यहां इसे त्रिलिङ्गी मान कर व्याख्या की है। इन सब का आधार अभी अन्वेषणीय है।

१. इस ताच्छीलिकप्रकरण में आचार्य ने प्रायः योगरूढ शब्दों का ही संग्रह किया है। शुद्ध यौगिक शब्द बहुत कम हैं।

२. यथा—**जु-चङ्क्रम्य०** (३.२.१५०); **प्रजोरिनिः** (३.२.१५६); **भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु०** (३.३.९७)।

३. **अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** (उत्तरराम० १.२८)।

आ कर सूत्रोक्तसामर्थ्य से 'ग्रावन्+ङस्' का 'स्तु' के साथ समास[1] हो कर अन्तर्वर्तिनी 'ङस्' विभक्ति का लुक् हो **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से ग्रावन् के नकार का भी लोप करने से 'ग्रावस्तु'। अब क्विँप् के कित्त्व के कारण 'स्तु' को आर्धधातुक-गुण नहीं होता किञ्च क्विँप् के पित्त्व के कारण **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से स्तु के अन्त में तुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'ग्रावस्तुत्' यह कृदन्त पुंलिङ्ग प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। सुँ में हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् से सुँ का लोप कर 'ग्रावस्तुत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ, ग्रावस्तुतः - -इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलती है।

यह ताच्छीलिक क्विँप् प्रत्यय भ्राज् आदि धातुओं के अतिरिक्त **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) अर्थात् अन्य धातुओं से भी देखा जाता है—ऐसा आचार्य पाणिनि ने कहा है इस की व्याख्या करते हुए आचार्य कात्यायन अपना एक वार्तिक प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] वा०—(४८) क्विब् वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च ॥

वक्तीति – वाक् ॥

अर्थः—वच्, प्रच्छ्, आयतपूर्वक स्तु, कटपूर्वक प्रु, जु और श्रि—इन छः धातुओं से तच्छीलादि कर्ता के वाच्य होने पर क्विँप् प्रत्यय तथा इन धातुओं को दीर्घ हो और सम्प्रसारण का भी अभाव हो।

व्याख्या—क्विँप् ।१।१। वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणाम् ।६।३। दीर्घः । १।१। असम्प्रसारणम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । न सम्प्रसारणम् असम्प्रसारणम्; नञ्समासः। यह वार्तिक ताच्छीलिक प्रकरणस्थ **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तच्छीलविषयक ही समझा जायेगा। इस का अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है। वचि और प्रच्छि में धातुनिर्देशार्थ इक्प्रत्यय जोड़ा गया है। 'आयतस्तु' से आयतपूर्वक 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु का तथा 'कटप्रु' से कटपूर्वक 'प्रुङ् गतौ' धातु का ग्रहण होता है। वार्तिकोक्त धातुओं का पूर्ण विवरण यथा—

(१) वच् (बोलना); वच परिभाषणे (अदा० परस्मै०)।
(२) प्रच्छ् (पूछना); प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तुदा० परस्मै०)।
(३) आयतपूर्वक स्तु (स्तुति करना); ष्टुञ् स्तुतौ (अदा० उभय०)।
(४) कटपूर्वक प्रु (जाना); प्रुङ् गतौ (भ्वा० आत्म०)।
(५) जु (तेज़ चलना); जु वेगितायां गतौ (सौत्र धातु)।
(६) श्रि (आश्रय करना, सेवा करना); श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उभय०)।

इन धातुओं से क्विँप् हो कर दीर्घ तो सब में हो जाता है परन्तु सम्प्रसारण

---

१. आचार्य ने **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र में 'ग्रावस्तु' से क्विँप् का विधान किया है। इस से प्रतीत होता है कि वे यहां समास भी चाहते हैं, यही यहां सूत्रोक्त सामर्थ्य है।

का अभाव केवल वहां पर ही हो सकता है जहां सम्प्रसारण प्राप्त है। सम्प्रसारण की प्राप्ति वच् और प्रच्छ् में ही सम्भव है अतः सम्प्रसारण का अभाव इन दो में ही समझना चाहिये। उदाहरण यथा —

(१) वक्ति तच्छीलेति —वाक् [बोलना जिस का स्वभाव है अर्थात् वाणी]। यहां वच् (बोलना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा वकारोत्तर अकार को दीर्घ करने पर—वाच्। क्विप् के कित्त्व के कारण **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) द्वारा सम्प्रसारण प्राप्त था उस का भी प्रकृतवार्त्तिक से निषेध हो जाता है। 'वाच्' से प्रथमैकवचन में सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **चोः कुः** (३०६) से कुत्व तदनन्तर जश्त्व-चर्त्व करने पर 'वाक्-वाग्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। वाक्-वाग्, वाचौ, वाचः—इस की रूपमाला हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में लिख चुके हैं वहीं देखें।

(२) पृच्छति तच्छील इति प्राट् [पूछने के स्वभाव वाला]। प्रच्छ् (पूछना) धातु से प्रकृतवार्त्तिकद्वारा क्विँप्, धातु के अकार को दीर्घ तथा क्विँप् का सर्वापहार लोप करने पर 'प्राच्छ्' इस स्थिति में **ग्रहिज्यावयि०** (६३४) द्वारा प्राप्त सम्प्रसारण का भी अभाव हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४३) च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।६।४।१९।।

सतुँक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्, ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौति—आयतस्तूः। कटं प्रवते—कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिम्—श्रीः।।

अर्थः—अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो या क्विँ परे हो अथवा झलादि कित् ङित् परे हो तो तुँक्सहित-छकार के स्थान पर श् आदेश तथा वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—च्छ्वोः ।६।२। शूड् ।१।१। अनुनासिके ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। क्विँ-झलोः ।७।२। क्ङिति ।७।१। (**अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति** से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। च्छ् च व् च च्छ्वौ, तयोः—च्छ्वोः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'च्छ्' यह 'तुँक्+छ्' का बोधक है। तुँक् के तकार को यहां श्चुत्व हुआ समझना चाहिये। श् च ऊठ् च तयोः समाहारः शूड्, समाहारद्वन्द्वः। 'अङ्गस्य' अधिकार के कारण 'प्रत्यये' पद आक्षिप्त किया जाता है। 'अनुनासिके' यह 'प्रत्यये' का विशेषण है। अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** से तदादिविधि हो कर 'अनुनासिकादौ प्रत्यये' बन जाता है। क्विँश्च झल् च क्विँझलौ, तयोः—क्विँझलोः, इतरेतरद्वन्द्वः। इस में 'झलि' अंश 'क्ङिति' के साथ सम्बद्ध हो कर तदादिविधि करने से 'झलादौ क्ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अनुनासिके=अनुनासिकादौ प्रत्यये) अनुनासिक वर्ण जिस के आदि में है ऐसे प्रत्यय के परे होने पर या (क्विँझलोः क्ङिति—क्वौ झलादौ क्ङिति च) 'क्विँ' परे होने पर अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर (च्छ्वोः) च्छ् और व् के स्थान पर क्रमशः (श्-ऊठ्) 'श्' और 'ऊठ्' आदेश हो जाते हैं।

यह सूत्र तुक्सहित छकार (च्छ्) को 'श्' आदेश तथा केवल व् को ऊठ्[1] आदेश विधान करता है यदि निम्नस्थ तीन शर्तों में से कोई एक शर्त पूरी हो तो—

(१) अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो।
(२) क्विँ (क्विँप्, क्विँन्) प्रत्यय परे हो।
(३) झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो।

इस सूत्र के कुछ उदाहरण यथा—

विश्नः। यहां विच्छ् और प्रच्छ् धातुओं से **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०) सूत्र से नङ् (न) प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः अनुनासिकादि प्रत्यय है अतः तुक्+छ् (च्छ्) को 'श्' आदेश हो कर 'विश्नः, प्रश्नः' रूप सिद्ध होते हैं।

सिव् धातु से बाहुलकात् औणादिक (३.६) 'न' प्रत्यय करने पर 'सिव्+न'। यहां अनुनासिकादि प्रत्यय परे है अतः धातु के व् को ऊठ् (ऊ) आदेश कर यण् करने से 'स्यू+न'। अब आर्धधातुकगुण हो कर 'स्योनः' रूप सिद्ध होता है। स्योन= कोमल, मृदु, सुखकर (आसनादि)। कोषकार इसे प्रसेव (थैला) अर्थ में भी पढ़ते हैं।

खव् (समय के बाद पैदा होना) धातु क्र्यादिगण के परस्मैपद में पढ़ा गया है अतः लँट्-तिप् और श्ना विकरण करने पर 'खव्+ना+ति' इस अवस्था में 'ना' यह अनुनासिकादि प्रत्यय परे है अतः धातु के वकार को ऊठ् हो कर **एत्येधत्यूठ्सु** (३४) से वृद्धि एकादेश करने से 'खौनाति' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रच्छ् धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'प्रच्छ्+त'। **ग्रहिज्या०** (६३४) से सम्प्रसारण तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप हो कर—पृच्छ्+त। यहां झलादि कित् प्रत्यय परे है अतः तुक्+छ् (च्छ्) को श् आदेश हो कर—पृश्+त। अब **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) से श् को षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से तकार को टकार करने पर 'पृष्टः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—पृष्टवान्, पृष्ट्वा आदि।

दिव् और सिव् धातुओं से क्त प्रत्यय करने पर—दिव्+त; सिव्+त। यहां 'त' यह झलादि कित् प्रत्यय परे है अतः धातु के व् को ऊठ् (ऊ) आदेश कर इकार को यण् करने से—'द्यूतः, स्यूतः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

क्विँ परे होने का उदाहरण प्रकृत में यथा—

'प्राच्छ्' यहां क्विँ प्रत्यय का सर्वापहारलोप हो चुका है परन्तु प्रत्ययलक्षण से उसे अब भी माना जा सकता है। इस प्रकार क्विँ परे होने पर प्रकृतसूत्रद्वारा च्छ् (तुक्+छ्) को श् आदेश हो जाता है—प्राश्। अब प्रथमैकवचन में सुँ लाने पर हल्ङ्यादिलोप **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से

---

१. ऊठ् में ठकार अनुबन्ध **एत्येधत्यूठ्सु** (३४) में पहचान के लिये जोड़ा गया है। इस से 'खव्' धातु के 'खौनाति' आदि रूपों में ऊठ् हो कर वृद्धि सिद्ध हो जाती है।

प्रून् (करण-अर्थ में)

षकार को जश्त्व = डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व = टकार करने पर —'प्राट्, प्राड्'[1] रूप सिद्ध होते हैं। प्राट्-ड्, प्राशौ, प्राशः इत्यादि।

पूर्ववार्त्तिक के अवशिष्ट उदाहरण यथा—

(३) आयतं सविस्तरं स्तौति तच्छील इति आयतस्तूः (विस्तार से स्तुति करने के स्वभाव वाला, चारण या भाट)। यहां 'आयत' कर्मपूर्वक स्तु (स्तुति करना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विँप्, धातु को दीर्घ, प्रत्यय का सर्वापहारलोप तथा वार्त्तिकोक्तसामर्थ्य से समास कर—'आयतस्तू'[2]। प्रथमैकवचन में सुँ को रुँत्व-विसर्ग हो कर 'आयतस्तूः'। आयतस्तूः, आयतस्तुवौ, आयतस्तुवः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी।

(४) कटं श्मशानं प्रवते = गच्छति = रिङ्गति तच्छील इति कटप्रूः (श्मशान में रहने के स्वभाव वाला -शिव)। अथवा—कटं नलाख्यं तृणं प्रवते तच्छील इति कटप्रूः (कीटविशेष)। यहां 'कट' कर्मपूर्वक प्रु (गमन करना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप, धातु को दीर्घ तथा वार्त्तिकसामर्थ्य से समास कर 'कटप्रू'। क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है तथा दीर्घ हो जाने से तुँक् का आगम नहीं होता। कटप्रूः, कटप्रुवौ, कटप्रुवः आदि।

(५) 'जूः' की सिद्धि पीछे (८४२) सूत्र पर कर चुके हैं। यहां वार्त्तिककार ने इस का उल्लेख दीर्घ के प्रसङ्ग के कारण कर दिया है।

(६) श्रयति हरिं तच्छीलेति श्रीः (हरि का आश्रय करना जिस का स्वभाव है -लक्ष्मी)। यहां 'श्रिञ् सेवायाम्' धातु से प्रकृतवार्त्तिकद्वारा क्विँप्, दीर्घ तथा प्रत्यय का सर्वापहारलोप करने पर—श्रीः। सुँ में -श्रीः, श्रियौ, श्रियः। इस की रूपमाला और सिद्धि पीछे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें।

यहां ताच्छीलिक प्रत्ययों का प्रकरण समाप्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४४) दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे।३।२।१८२॥

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात् करणेऽर्थे। दात्यनेन—दात्रम्। नेत्रम्॥

अर्थः— दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् और नह्—इन तेरह धातुओं से परे करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हो।

व्याख्या—दाम्-नी—नहः।५।१। करणे।७।१। ष्ट्रन्।१।१। (**धः कर्मणि ष्ट्रन्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। दाप् च नीश्च शसश्च युश्च युजश्च स्तुश्च तुदश्च सिश्च सिचश्च मिहश्च पतश्च दशश्च नह् च एषां समाहारः, तस्मात् = दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः। समाहारद्वन्द्वसमासः। शस,

---

१. प्राट् का प्रयोग 'प्राड्विवाक' शब्द में प्रसिद्ध है (देखें मनु० ८.७९)।

२. ध्यान रहे कि यहां '**ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्**' (७७७) से तुँक् नहीं होता कारण कि धातु को दीर्घ विधान कर दिया गया है। किञ्च क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का भी निषेध हो जाता है।

युज, तुद, सिच, मिह, पत, दश—इन में अकार उच्चारणार्थ है[1]। 'दाप्+नी' में पकार को जश्त्व-बकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से अनुनासिक मकार हो गया है। अर्थः—(दाम्नी—नहः) दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् और नह्—इन तेरह (धातोः) धातुओं से (परः) परे (ष्ट्रन्) ष्ट्रन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (करणे) करण कारक में। क्रियासिद्धि में जो कारक अतीव उपकारक होता है उसे करण कहते हैं—इस का विवेचन कारकप्रकरण में (८६४) सूत्र पर देखें। ष्ट्रन् प्रत्यय का अन्त्य नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा आदि षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३९) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। षकार के चले जाने पर उस के कारण उत्पन्न टकार को भी **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार तकार हो जाता है। इस प्रकार ष्ट्रन् का 'त्र' मात्र शेष रहता है। ष्ट्रन् में नकार आद्युदात्त स्वर के लिये तथा षकार **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। इस सूत्र के उदाहरण यथा—

(१) दाप् लवने (काटना; अदा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण कारक की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर धातु के पकार और प्रत्यय के नकार अनुबन्ध का लोप हो—दा+ष्ट्र। **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से ष्ट्रन् के आदि षकार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप करने पर ष्ट्रन् के टकार को भी तकार करने से—दा+त्र=दात्र। धातु के अनिट् होने से इट् का आगम यहां निषिद्ध हो जाता है। अब 'दात्र' की कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'दात्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। दाति (लुनाति) अनेन इति दात्रम्। जिस से काटते हैं उसे 'दात्र' कहते हैं। यह खेत काटने वाली दरांती आदि का वाचक है।

(२) णीञ् प्रापणे (ले जाना, पहुँचाना आदि; भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक मे प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा धातु के

---

१. दंश् के अनुनासिक का यहां सूत्र में लोप किया गया है। परन्तु ष्ट्रन् के योग में इस की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि यहां अजादिगण में पाठवशात् 'दंष्ट्रा' ही बनता है अनुनासिक का लोप नहीं होता। इस निर्देश से कुछ वैयाकरण यह ज्ञापक मानते हैं कि क्वचित् कित्-ङित् प्रत्यय परे न होने पर भी दंश् धातु के अनुनासिक (न्) का लोप हो जाता है। यथा—दश्यते एभिरिति दशनाः (दान्त)। **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) द्वारा करण में ल्युट् किया गया है। परन्तु अन्य वैयाकरण सूत्र में शपा निर्देश मानते हुए **दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि** (६.४.२५) से अनुनासिक का लोप हुआ स्वीकार करते हैं। इन के मतानुसार 'दशनाः' में अनुनासिक का लोप पृषोदरादित्वात् या 'दंश दशने' इस धातुपाठ के निर्देश से किया गया समझना चाहिये।

णकार को नकार (४५८) करने से—नी+त्र। अब धातु के अनुदात्त होने से इण्निषेध तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण करने पर विभक्ति लाने से 'नेत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नीयतेऽनेनेति नेत्रम्। जिस के द्वारा ले जाया जाता है अर्थात् 'आंख'। वैसे यह शब्द 'आंख, मथने की रस्सी[1], रथ, वस्तियन्त्र के अगले सिरे का भाग, द्वित्वसंख्या' आदि अर्थों में रूढ है।

(३) शसुँ हिंसायाम् (हिंसा करना; अंग अंग काटना, भ्वा० परस्मै० सेट्[2]) धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय हो कर—शस्+त्र=शस्त्र। विभक्ति लाने से 'शस्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। शसति (हिनस्ति) अनेनेति शस्त्रम्। जिस से हिंसा करते हैं अर्थात् हथियार।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'शस्+त्र' में शस् धातु के सेट् होने से 'त्र' आर्धधातुक को **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम क्यों नहीं किया गया? इस के समाधानार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—**(८४५) ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च ।७।२।९।।**

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।।

अर्थः—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स—इन दस कृत्प्रत्ययों का अवयव इट् आगम नहीं होता।

व्याख्या—ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम्। कृत्सु ।७।३। (**नेड् वशि कृति** से वचनविपरिणाम कर के)। न इत्यव्ययपदम्। इट् ।१।१। (**नेड् वशि कृति** से)। तिश्च तुश्च त्रश्च तश्च थश्च सिश्च सुश्च सरश्च कश्च सश्च ऐषामितरेतरद्वन्द्वः। ततः सप्तमी। अर्थः—(ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु) ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स—इन दस (कृत्सु) कृत् प्रत्ययों के परे होने पर (च) भी (इट्) इट् आगम (न) नहीं होता। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व **नेड् वशि कृति** (८००) सूत्रद्वारा वशादि कृत् प्रत्ययों को इट् का निषेध कहा गया था अब इन ति आदि दस कृत् प्रत्ययों में भी (जो वशादि नहीं) इण्निषेध किया जा रहा है। इन प्रत्ययों को **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् प्राप्त था जो अब इस सूत्र से निषिद्ध किया गया है। उदाहरण यथा—

'शस्+त्र' यहां 'त्र' को इट् प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं हुआ—शस्त्रम्।

इस सूत्र के क्रमशः उदाहरण यथा—

---

१. **मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।**
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्॥ (महाभारत १.१८.१३)

२. शसतिः प्रायो विपूर्वः प्रयुज्यते।

ति (क्तिच् और क्तिन् का सामान्यतः ग्रहण) तन्तिः। यहां तन् धातु से **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (३.३.१७४) सूत्र द्वारा क्तिच् (ति) प्रत्यय हुआ है। **अनुदात्तोपदेश०** (५५६) द्वारा अनुनासिकलोप तथा **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से दीर्घ प्राप्त था। दोनों का **न क्तिचि दीर्घश्च** (६.४.३९) से निषेध हो जाता है।

दीप्तिः। यहां दीप् धातु से **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् (ति) प्रत्यय किया गया है।

तु—सक्तुः। यहां सच् धातु से **सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्** (उणा० १.६९) सूत्रद्वारा तुन् (तु) प्रत्यय हो कर **चोः कुः** (३०६) से कुत्व हो जाता है।

त्र—शस्त्रम् आदि उदाहरण प्रकृत में आ चुके हैं।

त—हस्तः, लोतः, पोतः। यहां हस्, लू और पू धातुओं से **हसि-मृ-ग्रिण्-वाऽमि-दमि-लू-पू-धुर्विभ्यस्तन्** (उणा० ३.८६) सूत्रद्वारा तन् (त) प्रत्यय किया गया है। लू और पू में आर्धधातुकगुण भी हो जाता है। ध्यान रहे कि अष्टाध्यायीस्थ क्त (त) प्रत्यय का यहां ग्रहण अभीष्ट नहीं। 'हसितम्' आदि में इट् होगा ही।

थ—काष्ठम्। कुष्ठम्। यहां काश् और कुष् धातुओं से **हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्यः क्थन्** (उणा० २.२)सूत्रद्वारा क्थन् (थ) प्रत्यय हो जाता है। 'काश्+थ' में **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षत्व हो कर ष्टुत्व हो जाता है। 'कुष्+थ' में केवल ष्टुत्व।

सि—कुक्षिः। यहां कुष् धातु से **प्लुषि-कुषि-शुषिभ्यः क्सिः** (उणा० ३.१५५) सूत्रद्वारा क्सि (सि) प्रत्यय किया गया है। प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता। 'कुष्+सि' में **षढोः कः सि** (५४८) से कुत्व होकर षत्व हो जाता है।

सु—इक्षुः। यहां इष् धातु से **इषेः क्सुः** (उणा० ३.१५७) द्वारा क्सु (सु) प्रत्यय किया गया है। कत्व-षत्व पूर्ववत् जानें।

सर—अक्षरम्। यहां अश् धातु से **अशेः सरन्** (उणा०३.७०) द्वारा सरन् (सर) प्रत्यय होकर पूर्ववत् षत्व-कत्व-षत्व हो जाते हैं।

क—शल्कः (छिलका)। यहां शल् धातु से **इण्-भी-का-पा-शल्यति-मर्चिभ्यः कन्** (उणा० ३.४३) द्वारा कन् (क) प्रत्यय किया गया है।

स—वत्सः। यहां 'वद्' धातु से **वृ-तॄ-वदि-हनि-कमि-कशिभ्यः सः** (उणा० ३.६२) सूत्रद्वारा 'स' प्रत्यय होकर चर्त्व हो जाता है।

ति, तु, त्र आदि कृत्प्रत्यय ही होने चाहियें। अन्यथा इट् का निषेध न होगा। यथा—'रोदिति, स्वपिति' में 'ति' के कृत् न होने से इट् का निषेध नहीं होता। यहां **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७.२.७६) से इट् होता है।

अब पूर्वसूत्रोक्त प्रकृत ष्ट्रन् प्रत्यय के अन्य उदाहरण यथा—

(४) यु मिश्रणे (मिलाना; अदा० परस्मै० सेट्) धातु से करण कारक में **दाम्नीशस०** (८४४) सूत्रद्वारा ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर धातु के सेट् होने से प्राप्त

इट् आगम का **ति-तु-त्र०** (८४५) से निषेध हो जाता है। अब आर्धधातुकगुण कर विभक्ति लाने से 'योत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। युवन्त्यनेन इति योत्रम्। जिस के द्वारा बांधते हैं। जोत-रस्सी, जिससे बैल आदि को गाड़ी या हल में बांधा जाता है।

(५) युज् (युजिर् योगे; जोड़ना, रुधा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर धातु के अनिट् होने से इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** ((४७५) से निषेध हो जाता है। अब 'युज्+त्र' इस स्थिति में लघूपधगुण, **चोः कुः** (३०६) द्वारा कुत्वेन जकार को गकार और **खरि च** (७४) से चर्त्वेन गकार को ककार करने पर विभक्ति लाने से 'योक्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। युञ्जन्त्यनेनेति योक्त्रम्। जिस के द्वारा बांधते हैं। जोत-रस्सी, जिस से बैल आदि को गाड़ी या हल में बांधा जाता है।

(६) स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ; स्तुति करना, अदा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में **दाम्नीशस०** (८४४) से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय कर आर्धधातुकगुण करने से—स्तो+त्र='स्तोत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां **एकाच उपदेशे०** (४७५) से इट् का निषेध समझना चाहिये। स्तुवन्त्यनेनेति स्तोत्रम्। जिस के द्वारा स्तुति करते हैं। स्तोत्र या मन्त्र आदि।

(७) तुद् (दुःख देना, चुभोना; तुदा० उभय० अनिट्) धातु से पूर्ववत् करण-कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय करने पर लघूपधगुण और चर्त्वेन दकार को तकार करने से तोत्+त्र='तोत्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। यहां पर भी इट् का निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से ही समझना चाहिये। तुदन्त्यनेनेति तोत्त्रम्। जिस से घोड़े आदि को पीटते हैं— चाबुक, डण्डा, छड़ी, अंकुश आदि। **तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः** (रामायण २.४०.४१)।

(८) सि (षिञ् बन्धने; बांधना, स्वा० या क्र्या० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर गुण करने से 'सेत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इट्-निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से हो जाता है। सिन्वन्त्यनेनेति सेत्रम्। जिस से बान्धते हैं – बेड़ी, हथकड़ी, हड्डियों को बांधने का तागा आदि।

(९) सिच् (षिचँ क्षरणे, सींचना; तुदा० उभय० अनिट्) धातु से पूर्ववत् करण में ष्ट्रन् (त्र) हो कर लघूपधगुण तथा **चोः कुः** (३०६) से कुत्व करने पर 'सेक्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इट्-निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से होता है। सिञ्चन्त्यनेनेति सेक्त्रम्। जिस से सींचते हैं—सींचने का पात्र आदि।

(१०) मिह् सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय करने पर—'मिह्+त्र' अब क्रमशः लघूपधगुण, **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तकार को धकार, **ष्टुना ष्टुः** (६४) से

---

1. ध्यान रहे कि यहां **झरो झरि सवर्णे** (७३) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, सवर्ण झर् परे नहीं है अतः 'तोत्रम्' लिखना अशुद्ध है।

धकार को ढकार तथा **ढो ढे लोपः** (५५०) से पूर्व ढकार का लोप करने पर 'मेढ्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां पर **एकाच उपदेशे०** (४७५) से इट्-निषेध हुआ है । मेहन्त्यनेनेति मेढ्रम् । जिस से मूत्र करते है—मूत्रेन्द्रिय ।

(११) पत् (पत्लृ गतौ; जाना, उड़ना, गिरना आदि; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से करण-कारक में पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) हो कर—पत्+त्र । धातु के सेट् होने से इट् प्राप्त होता है उस का पुनः **ति-तु-त्र०** (८४५) से निषेध हो जाता है—पत्+त्र=पत्त्रम् । पतन्ति (गच्छन्ति) अनेनेति—पत्त्रम् । जिस के द्वारा गमन करते हैं अर्थात् रथ आदि वाहन । अथवा 'पत्' धातु यहां उड़ना अर्थ में प्रयुक्त है । पतन्ति (उत्पतन्ति) अनेनेति पत्त्रम् । जिस के द्वारा पक्षी आदि उड़ते हैं अर्थात् पर या पंख[1] । यहां पर भी 'पत्रम्' लिखने वाले सावधान रहें, हल्परता न होने से झरो-झरि-लोप नहीं हो सकता ।

(१२) दंश दशने (डसना-काटना; भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण-कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय करने पर -दंश्+त्र । **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) से षत्व और **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व करने पर दंष्+ट्र=दंष्ट्र । ष्टन् प्रत्यय के षित्त्व के कारण स्त्रीत्व में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से ङीष् प्राप्त होता है परन्तु अजादि-गण (४.१.४) में पाठ के कारण **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) हो कर सवर्ण-दीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'दंष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध होता है । दशन्त्यनयेति दंष्ट्रा । जिस से काटते हैं—दाढ़, बड़ा दांत ।

(१३) नह् (णहँ बन्धने, बान्धना; दिवा० उभय० अनिट्) धातु से करण-कारक मे पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर—नह्+त्र । अब ढत्व का बाध कर **नहो धः** (३५६) से हकार को धकार, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४६) से त्र के तकार को भी धकार आदेश तथा **झलां जश् झशि** (१६) से पूर्व धकार को दकार कर—नद्ध्र । यहां इट् का **एकाच उपदेशे०** (४७५) से निषेध हो जाता है । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से ङीष् (ई) प्रत्यय हो कर **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नद्ध्री' प्रयोग सिद्ध होता है । नह्यतेऽनयेति नद्ध्री । जिससे बान्धा जाता है—चमड़े की रस्सी या तस्मा ।

ति-तु-त्र० (८४५) द्वारा कृत्संज्ञक 'त्र' के परे होने पर आचार्य ने इट् का निषेध कहा है। परन्तु कुछ स्थानों पर इकार का होना आवश्यक है । यथा --अरित्रम्,

---

१. पर्ण (वृक्ष का पत्ता) अर्थ में भी 'पत्त्र' शब्द का बहुधा प्रयोग होता है । वहां पर प्रकृतसूत्र से करण में ष्ट्रन् नही होता अपितु **सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्** (उणा०४. १६०) इस औणादिकसूत्र से कर्ता अर्थ में ष्ट्रन् समझना चाहिये । पतति वृक्षा-दिति पत्त्रम् । **पत्त्र-पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्** इत्यमरः । सामान्यतः पत्त्र शब्द के विषय में मेदिनीकोष का यह प्रमाण बहुत प्रसिद्ध है **पत्त्रं तु वाहने पर्णे स्यात् पक्षे शरपक्षिणोः ।**

इत्र (करणार्थे)

लवित्रम्, धुवित्रम्, खनित्रम् आदि । अतः आचार्य परम नैपुण्य का आश्रय कर इन स्थानों के लिये 'त्र' की बजाय 'इत्र' प्रत्यय का विधान कर देते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (८४६) **अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः** ।३।२।१८४।।

अरित्रम् । लवित्रम् । धुवित्रम्[1] । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।।

अर्थः—ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर्—इन सात धातुओं से परे करण में इत्र प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चरः ।५।१। इत्रः ।१।१। करणे ।७।१। (दाम्नी-शस० से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । अर्तिश्च लूश्च धूश्च सूश्च खनश्च सहश्च चर् च—एषां समाहारद्वन्द्वः । ततः पञ्चमी । 'अर्ति' में ऋ धातु का श्तिप्द्वारा निर्देश किया गया है । खन और सह में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है । अर्थः—(अर्त्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चरः) ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर् इन (धातोः) धातुओं से (परः) परे (इत्रः) इत्र (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (करणे) करण अर्थ में । उदाहरण यथा—

ऋ (ऋ गतिप्रापणयोः—जाना, ले जाना, भ्वा० परस्मै० अनिट्; ऋ गतौ—जाना, जुहो० परस्मै० अनिट्) धातु से करण-कारक में प्रकृतसूत्र से 'इत्र' प्रत्यय हो कर —ऋ+इत्र । अब सार्वधातुकार्धधातुकयोः (३८८) द्वारा ऋ को गुण (अर्) करने से नपुंसकलिङ्ग में 'अरित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । ऋच्छति इयर्ति वाऽनेनेति अरित्रम् । जिस के द्वारा नौका आदि चलती या आगे बढ़ती है, नौका चलाने में सहायक दण्ड-विशेष—चप्पू ।

लू (लूञ् छेदने—काटना, क्र्या० उभय० सेट्) धातु से करण-कारक में प्रकृत सूत्र से इत्र प्रत्यय हो कर आर्धधातुकगुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से ओकार को अवादेश करने से—'लवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । लुनात्यनेनेति लवित्रम् । जिस के द्वारा काटते हैं—दात्र । वयं शत्रु-लवित्रेषोर्भूता रामस्य भूपतेः (भट्टि० ७.८७) । शत्रुलवित्रा इषवो बाणा यस्येति बहु० । रिपु-लवित्रो बाणः (भाषावृत्ति) ।

सूत्र में 'धू' निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य परिभाषा से 'धूञ् कम्पने' का ग्रहण न हो कर 'धू विधूनने' (हिलाना-कंपाना, तुदा० परस्मै० सेट् कुटादि) का ही ग्रहण होता है । धू धातु से करण-कारक में इत्र प्रत्यय हो कर आर्धधातुकगुण प्राप्त होता है परन्तु धातु के कुटादि होने के कारण गाङ्कुटा-दिभ्योऽञ्णिन्ङित् (५८७) सूत्र से प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से उस का निषेध हो अचि श्नुधातु० (१९९) से ऊकार को उवँङ् (उव्) आदेश हो जाता है—धू+इत्र =धुवित्र । विभक्ति लाने से 'धुवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । धुवति अनेनाग्निमिति

---

1. धवित्रम् इति क्वचित् पाठः ।

धुवित्रम् । जिस से अग्नि को भड़काते या हवा कर प्रज्वलित करते हैं—मृगचर्म से निर्मित पंखाविशेष जो यज्ञों में अग्निप्रज्वलित करने के काम आता था । **धुवित्रं व्यजनं तद्यद् रचितं मृगचर्मणा** इत्यमरः । कुछ वैयाकरण कुटादित्वेन ङिद्वद्भाव को अनित्य मान कर यहां गुण-अवादेश कर 'धवित्रम्' प्रयोग सिद्ध करते हैं ।[1] लघुकौमुदी तथा सिद्धान्तकौमुदी में दोनों प्रकार के पाठ पाये जाते हैं ।

धू की तरह 'सू' भी यहां निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः षूङ् का ग्रहण न हो कर 'षू प्रेरणे' (प्रेरणा देना, तुदा० परस्मै० सेट्) धातु का ही ग्रहण होता है । षू धातु के षकार को सकार आदेश कर इत्र प्रत्यय के लाने से गुण-अवादेश हो कर 'सवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । सुवति (प्रेरयति) अनेनेति सवित्रम् । जिस के द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है—प्रेरणा का साधन । इस शब्द के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं ।

खन् (खनुँ अवदारणे, खोदना, भ्वा० उभय० सेट्) धातु से करण-कारक में प्रकृत-सूत्र से इत्र प्रत्यय हो कर कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर प्रथमैकवचन में सुँ को अम्-आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'खनित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । खनत्यनेनेति खनित्रम् । जिस से खोदते हैं – कस्सी, फावड़ा, कुद्दाल आदि । इस का प्रयोग यथा—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ (मनु० २.२१८)

सह् (षहँ मर्षणे, सहन करना; भ्वा० आत्म० सेट्) धातु से पूर्ववत् इत्र प्रत्यय करने पर 'सहित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । जिस से सहन करते हैं—सहतेऽनेनेति सहित्रम् । सहनशक्ति आदि । इस के प्रयोग हमें नहीं मिले ।

चर् (चर गतिभक्षणयोः, गमन करना या खाना; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से पूर्ववत् करण-कारक में इत्र प्रत्यय हो कर विभक्ति लाने से 'चरित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । चरत्यनेनेति चरित्रम् । जिस के द्वारा मनुष्य गमन या विचरण करता है—स्वभाव, आचरण, रहन-सहन आदि[2] । इस का प्रयोग यथा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २.२०)

अब एक अन्य सूत्रद्वारा इत्र प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४७) पुवः संज्ञायाम् ।३।२।१८५॥

पवित्रम् ॥

अर्थः—यदि प्रकृति-प्रत्ययसमुदाय से संज्ञा गम्य हो तो पू धातु से करण अर्थ में इत्र प्रत्यय होता है ।

---

१. **शङ्का-धवित्र-वचनं प्रत्यूचुर्वानराः खगम्** (भट्टि० ७.८७) ।

२. चरति (गच्छति) अनेनेति चरित्रः पादः । प्रयोगो यथा—
चरित्रांस्ते शुन्धामि (यजु० ६.१४) [देखें व्या० च० २ य खण्ड पृ० १३०] ।

व्याख्या—पुवः ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। इत्रः ।१।१। (**अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः** से) । करणे ।७।१। (**दाम्नीशस०** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं । अर्थः—(संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य होने पर (पुवः) पू (धातोः) धातु से (परः) परे (इत्रः) इत्र (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (करणे) करण अर्थ में ।

सूत्र में 'पू' यह निरनुबन्ध पढ़ा गया है परन्तु धातुपाठ में कहीं निरनुबन्ध नहीं अतः सानुबन्ध का ही ग्रहण होगा । 'पूङ् पवने' (पवित्र करना, भ्वा० आत्मने० सेट्) और 'पूञ् पवने' (क्र्या० उभय० सेट्) दो प्रकार की सानुबन्ध धातुएं पाई जाती हैं, दोनों का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है ।

'संज्ञायाम्' का अभिप्राय यह है कि पू धातु से इत्र करने पर जो शब्द बने उस से किसी की संज्ञा का बोध होना चाहिये ।

पूङ् या पूञ् धातु से करण-कारक में प्रकृतसूत्र से इत्र प्रत्यय हो आर्धधातुक-गुण और ओकार को अवादेश करने से 'पवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । पवते पुनाति वाऽनेनेति पवित्रम् । जिस से पवित्र या शुद्ध करता है । यह शब्द वैदिकसाहित्य में दर्भ, जल, वायु, अग्नि, प्राणापान आदि की संज्ञा है ।[१]

अभ्यास (७)

(१) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता का क्या अभिप्राय है ? इन में 'तद्' शब्द किस का बोधक है ? प्रत्येक के दो दो उदाहरण दे कर अपनी बात को स्पष्ट करें ।

(२) चार ताच्छीलिक प्रत्ययों का उल्लेख कर प्रत्येक के तीन तीन उदाहरण दें ।

(३) सहेतुक शुद्ध रूप निर्दिष्ट करें
वराका-वराकी । स्तोतृत्रम्-स्तोत्रम् । तोत्त्रम्-तोत्रम् । धुवित्रम्-धवित्रम् । दंष्ट्रा-दंष्ट्री । पूरयिता वंशीम् -वादयिता वंशीम् ।

(४) क्विँप् प्रत्यय का जब सर्वापहार लोप ही करना है तो पुनः उसे लाने का क्या प्रयोजन ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(५) षाकन् प्रत्यय में षकार अनुबन्ध किस लिये जोड़ा गया है ? यदि इसे आदि में न जोड़ कर अन्त में जोड़ देते तो क्या अन्तर पड़ता ?

---

१. **पवित्रं वै दर्भाः** (शतपथ० ३.१.३.१८.); (तै० १.३.७.१) ।
पवित्रं वा आपः (शतपथ० ३.१.२.१०) ।
अग्निर्वाव पवित्रम् (तै० ३.३.७.१०) ।
पवित्रं वै वायुः (तै० ३.२.५.११) ।
प्राणापानौ पवित्रे (तै० ३.३.४.४) ।
प्राणोदानौ पवित्रे (शतपथ० १.८.१.४४) ।

(६) खनित्रम्-चरित्रम् आदि में इट् कैसे हो जाता है ? तितुत्र० से निषेध क्यों नहीं होता ? विचारपूर्ण स्पष्टीकरण कीजिये ।
(७) तृन्नन्त और तृजन्त प्रयोगों में मुख्य अन्तर क्या क्या होता है ?
(८) 'सनाशंसभिक्ष उः' में 'सन्' से धातु का ग्रहण क्यों नहीं ?
(९) प्राश्, जू, श्री और वाच् शब्दों की निष्पत्ति दिखा कर रूपमाला लिखें।
(१०) ससूत्र सिद्धि करें—
धूः, प्राट्, मेढ्रम्, पवित्रम्, जल्पाकः, चिकीर्षुः, भाः, जूः, वाक्, अरित्रम्।
(११) निम्नस्थ शब्दों का विग्रह दर्शाते हुए प्रकृति, प्रत्यय और विधायकसूत्र लिखें—
भिक्षाकः, दंष्ट्रा, नेत्रम्, विद्युत्, धुवित्रम्, श्रीः, कटप्रूः, आशंसुः, ऊर्क् ।
(१२) व्याख्या करें
दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । राल्लोपः । ति-तु-त्र० । क्विंब्वचि० । तृन् । अर्त्तिलूधू० । भ्राज-भास० ।
(१३) लुण्टाक, नद्ध्र, कर्तृ और वराक शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप होगा ?
(१४) क्विंब्वचि० वार्तिक क्या पाणिन्यनुमत है ? सप्रमाण लिखें ।
(१५) ताच्छीलिकप्रकरण में अधिकतर शब्द योगरूढ हैं—इस पर टिप्पणी कीजिये ।

इति पूर्वकृदन्तम्

(यहां पर पूर्वकृदन्तप्रकरण समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथोणादयः

अब उण् आदि प्रत्यय कहे जाते हैं ।

व्याख्या—उण् आदि प्रत्ययों का विधान पञ्चपादी (पांच पादों वाले) उणादिसूत्रपाठ में किया गया है ।[1] इन पांच पादों में लगभग साढ़े सात सौ सूत्रों द्वारा

1. पञ्चपादी उणादिसूत्रपाठ की तरह दशपादी (दस पादों वाला) सूत्रपाठ भी पाणिनीयसम्प्रदाय में बहुत आदृत है । परन्तु समीक्षकों के अनुसार उस का आधार पञ्चपादीसूत्रपाठ ही है । अतः पाणिनीय वैयाकरणों के द्वारा प्रायः पञ्चपादी को ही उद्धृत तथा व्याख्यात किया जाता है । इस के अतिरिक्त एक बात और भी यहां ध्यान देने योग्य है । इन सूत्रों का 'उणादि' यह नाम वैयाकरणनिकाय में अतिप्राचीनकाल से प्रसिद्ध चला आ रहा है । दशपादी के आरम्भ में पहला प्रत्यय 'उण्' न होकर 'अनि' है । परन्तु पञ्चपादी में पहला प्रत्यय 'उण्' है । अतः उणादि से पञ्चपादी का ही ग्रहण युक्त प्रतीत होता है दशपादी का नहीं ।

सवा तीन सौ के करीब प्रत्ययों का प्रतिपादन है[1]। परम्परा के अनुसार इन सूत्रों को शाकटायनमुनिप्रणीत माना जाता है। कुछ लोग इन को पाणिनिप्रणीत भी मानते हैं।[2] ये सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी से बहिर्भूत होते हुए भी अथवा अन्यप्रणीत माने जाते हुए भी पाणिनीयव्याकरण के अङ्ग माने जाते हैं। आचार्य पाणिनि **उणादयो बहुलम्** (३.३.१), **भूतेऽपि दृश्यन्ते** (३.३.२), **भविष्यति गम्यादयः** (३.३.३), **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३.४.७३), **भीमादयोऽपादाने** (३.४.७४), **ताभ्यामन्यत्रोणादयः** (३.४.७५) आदि सूत्रों द्वारा इन की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। इस से इन का पाणिनि-सम्मतत्व स्पष्ट विदित होता है।

यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि इन औणादिक (उणादिप्रत्ययान्त) शब्दों को कुछ आचार्य व्युत्पन्न (धातुज) और कुछ आचार्य अव्युत्पन्न (रूढ) मानते हैं। प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न शब्द व्युत्पन्न तथा बिना उनके लोक-प्रचलित शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं। कहते हैं कि पाणिनि आचार्य के मत में औणादिक शब्द अव्युत्पन्न हैं —**उणादयो ह्यव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि**। परन्तु पाणिनि दूसरे शाकटायन आदि आचार्यों के मत का आदर करते हुए **उणादयो बहुलम्** (८४८) आदि सूत्रों द्वारा इन के व्युत्पत्तिपक्ष की भी स्वीकृति देते हैं। इन औणादिक शब्दों में कुछ शब्द निस्सन्देह यौगिक प्रतीत होते हैं। यथा—करोतीति कारुः, वातीति वायुः, बिभेत्यस्मादिति भीमः, शतधा द्रवतीति शतद्रुः, दीर्यत इति दारु। पर अन्य अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिन को यौगिक मानने पर अर्थ का अन्वय कुछ भी प्रतीत नहीं होता। यथा—हस् (हंसना) धातु से तन् प्रत्यय कर 'हस्त' शब्द की सिद्धि की गई है। 'हस्त' में हंसना क्रिया की संगति नहीं। इसी प्रकार त्यद्, तद्, यद् शब्दों को त्यज् तन् और यज् धातुओं से 'अदि' प्रत्यय लगा कर बनाया गया है। यह कोरी कल्पनामात्र है। इस का कारण सम्भवतः यह है कि निरुक्तसम्प्रदाय में तथा शाकटायन आदि कुछ वैयाकरणों के मत में सब शब्दों को धातुज माना जाता है —**नाम च धातुजमाह निरुक्ते। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** (महाभाष्य ३.३.१)। उसी के आधार पर कहीं कहीं अनर्गल

---

१. **उणादिप्रत्ययाः सन्ति पादोत्तरशतत्रयम्**—तत्त्वबोधिनी।

२. इन सूत्रों में पाणिनीयतन्त्रवत् अनुबन्धों, अनुबन्धकार्यों तथा सार्वधातुक-आर्धधातुक-सेट्-अनिट् आदि की व्यवस्था को देखते हुए—यही पक्ष उचित प्रतीत होता है। किञ्च **पञ्चाङ्गं व्याकरणम्** इस आभाणक के अनुसार प्रत्येक व्याकरण के पांच अङ्ग हुआ करते हैं—(१) **सूत्रपाठ**; (२) **धातुपाठ**; (३) **गणपाठ**; (४) **उणादि**; (५) **लिङ्गानुशासन**। इसे ध्यान में रखते हुए इस बात की पूर्ण सम्भावना प्रतीत होती है कि आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण की पूर्णता के लिये उणादिसूत्रों का भी अवश्य निर्माण किया होगा। अथवा —पाणिनि ने शाकटायन आदि किसी पूर्वाचार्य के सूत्रों में ही स्वशास्त्रानुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर उसे स्वीकार कर लिया होगा।

इक्-स्त्रियौ धातुनिर्देशे

कल्पना भी की गई है ।[1] इतने पर भी उणादिप्रकरण विशेष उपादेय है । इस में सैंकड़ों वैदिक एवं लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है जो अष्टाध्यायी में नहीं पाया जाता । उदाहरणार्थ 'गो' शब्द को ही ले लीजिये । यह लोक-वेद दोनों में बहुत प्रसिद्ध है पर पाणिनीय अष्टाध्यायी से इस की सिद्धि नहीं होती । इस के लिये गमेर्डोः (उणा० २.६८) इस औणादिक सूत्र की ही शरण लेनी पड़ती है । दूसरे शब्दों में उणादिप्रकरण अष्टाध्यायी का पूरक है ।

यहां लघुसिद्धान्तकौमुदी में इन सूत्रों की केवल एक झलक मात्र देने के लिये वरदराज इन में प्रथमसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] उणादिसूत्रम्—(१) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूँभ्य उण् ।१।१।। (इक्, स्त्रिय)

करोतीति—कारुः । वातीति—वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । आशु शीघ्रम् ।।

अर्थः—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अशूँ—इन धातुओं से परे उण् प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—उणादि प्रत्ययों की अनुमति स्वयं पाणिनि ने **उणादयो बहुलम्** (३.३.१) सूत्रद्वारा दी है । वह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीयाध्यायस्थ तृतीयपाद का प्रथमसूत्र है । अतः **प्रत्ययः** (३.१.१), **परश्च** (३.१.२), **धातोः** (३.१.९१), **कृदतिङ्** (३.१.९३) आदि अधिकारों के अन्तर्गत पठित होने से इन उणादियों की भी प्रत्यय-संज्ञा, प्रकृति से परत्व, कृत्संज्ञा तथा पाणिनीयशास्त्रानुसार इत्संज्ञा, लोप, अङ्गसंज्ञा, सार्वधातुक-आर्धधातुकसंज्ञा, गुण, वृद्धि, इट्, इण्निषेध आदि कार्य हो जाते हैं । **उणादयो बहुलम्** (८४८) सूत्र में आचार्य के 'बहुलम्' ग्रहण के कारण इन में कहीं कहीं शास्त्रोक्त कार्यों का व्यतिक्रमण भी देखा जाता है—यह सब अग्रिमसूत्र पर स्पष्ट किया जायेगा ।

कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूँभ्यः ।५।३। उण् ।१।१। **प्रत्ययः** (१२०), **परश्च** (१२१) और **धातोः** (७६६) ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूँभ्यः) कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अशूँ (धातुभ्यः) धातुओं से (परः) परे (उण्) उण् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । **कृदतिङ्** (३०२) अधिकार

---

१. अत एव नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में यहां अतीव उपयुक्त कहा है—

क्वचित्सुयोजा धात्वर्थाः, क्वाप्ययोज्या उणादिषु ।
क्वचित्कथंचिद् योज्याः स्युर्वक्ष्यन्ते तत्र तत्र हि ।।
अर्थं विनापि धातूक्तिर्व्युत्पत्त्यावश्यकात् कृता ।
अस्माद्धातोरियं सञ्ज्ञा साध्येति मुनिशासने ।।
किं कुर्मोऽर्थान्वयः कश्चिद् लब्धश्चेत् कृतिनो वयम् ।
सदसद्वापि यत्किञ्चिदुक्त्वा व्युत्पाद्यमित्यदः ।।

के कारण उण् प्रत्यय कृत्संज्ञक है अतः **कर्तरि कृत्** (७६६) से यह कर्त्ता अर्थ में विधान किया जाता है। उदाहरण यथा—

कृ—करोतीति कारुः। यहां 'डुकृञ् करणे' (करना; तना० उभय०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर धातु के 'डु' और 'ञ्' अनुबन्धों का लोप करने पर—कृ+उण्। **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा प्रत्यय का अन्त्य णकार भी इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—कृ+उ। पुनः प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि और रपर करने से—कार्+उ= 'कारु' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब कृदन्तत्वात् इस की प्रातिपदिकसंज्ञा करने से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'सुँ' विभक्ति लाने पर रुँत्व-विसर्ग हो कर 'कारुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो करता है वह 'कारु' कहाता है। शिल्पी और विश्वकर्मा को भी 'कारु' कहते हैं। **विश्वकर्मणि ना कारुस्त्रिषु कारकशिल्पिनोः** इति मेदिनीकोशः। 'कारु' जब असंज्ञा अर्थ में यौगिक होगा तो कृद्योग के कर्म में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६६) से निषेध हो जायेगा तब **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीयाविभक्ति ही होगी। यथा —**राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुंगवः। सर्ववानरसेनानामाश्वागमनमादिशत्** (भट्टि० ७.२८)। शिल्पी अर्थ में प्रयोग यथा —**इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते** (नैषध १.३८)।

वा—वातीति वायुः। यहां 'वा गतिगन्धनयोः' (गति और सूचन आदि; अदा० परस्मै०) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप करने से—वा+उ। अब णित् कृत् के परे होने से **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) सूत्र द्वारा आदन्त अङ्ग को युँक् का आगम हो कर उँक् अनुबन्ध के चले जाने पर विभक्ति लाने से 'वायुः' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1]

पा—पिबत्यनेनेति पायुः। यहां 'पा पाने' (पीना; भ्वा० परस्मै०) धातु से **उणादयो बहुलम्** (८४८) में बहुलग्रहण करने के कारण करणकारक में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप तथा **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् आगम करने पर 'पायुः' प्रयोग सिद्ध होता है। बस्तियन्त्र (एँनीमा) द्वारा जिस इन्द्रिय से लोग जलादि को पीते अर्थात् ऊपर चढ़ाते हैं उसे 'पायु' कहते हैं। यह गुदा (मलनिष्क्रमणस्थान) का नाम है। अथवा—'पा रक्षणे' (रक्षा करना; अदा० परस्मै०) धातु से कर्त्ता अर्थ में उण् प्रत्यय करने पर भी यह सिद्ध हो जाता है—पाति मलादिनिष्कासनेन शरीरं रक्षतीति पायुः (पुं०)। मल आदि के निष्कासन से यह शरीर की रक्षा करता है अतः गुदस्थान को 'पायु' कहते हैं।

---

१. **तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः।**
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति॥ (सुभाषित)

वायुरेव महाभूतं वदन्तु निखिला जनाः।
आयुरेवैष भूतानामिति मन्यामहे वयम्॥ (सुभाषित)

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥

(मनु० २.६०-६१)

जि—जयति (अभिभवति) रोगान् इति जायुः। 'जि अभिभवे' (जीतना, दबाना; भ्वा० परस्मै०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर—जि+उण्=जि+उ। प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से इकार को ऐकार वृद्धि तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने पर विभक्ति लाने से 'जायुः' (पुं०) प्रयोग सिद्ध होता है। जो रोगों को जीतता अर्थात् अभिभूत करता है उसे 'जायु' कहते हैं। औषध का नाम 'जायु' है। **भेषजौषधभैषज्यान्यगदो जायुरित्यपि** इत्यमरः। वैद्य को भी उज्ज्वलदत्त तथा स्वामिदयानन्द ने जायु कहा है।

मि—मिनोति प्रक्षिपति देह ऊष्माणमिति मायुः। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' (फेंकना; स्वा० उभय०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से उण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **अचो ञ्णिति** (१८२) से प्राप्त वृद्धि का बाध कर **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च** (३३८) द्वारा 'मि' के इकार को आकारादेश हो कर **आतो युक्**० (७५७) से युँक् का आगम करने से 'मायुः' (पुं०) प्रयोग सिद्ध होता है। जो शरीर में गरमी को फेंकता है उसे मायु कहते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोषसिद्धान्त में प्रसिद्ध पित्त का नाम मायु है। **मायुः पित्तं कफः श्लेष्मा** इत्यमरः।

स्वद्[1]—स्वदते=रोचत इति स्वादुः। 'ष्वदँ आस्वादने' (पसन्द आना, अच्छा लगना, भाना आदि; भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृत औणादिक सूत्र द्वारा उण् प्रत्यय हो कर **धात्वादेः षः सः** (२५५) से धातु के आदि षकार को सकार आदेश हो जाता है—स्वद्+उ। अब प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उधावृद्धि हो कर विभक्ति लाने से 'स्वादुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो

---

१. औणादिक सूत्र में 'स्वदि' में इकार धातुनिर्देश में समझना चाहिये। स्वद् धातु के दो अर्थ हैं। (१) अनुभव करना, (२) भाना-पसंद आना। पहले अर्थ में यह सकर्मक है, यथा—स्वदस्व हव्यानि (हव्यों को चखो)। दूसरे अर्थ में अकर्मक है, यथा—देवदत्ताय स्वदतेऽपूपः। दूसरे अर्थ में **रुच्यर्थानां प्रीयमाणः** (१.४.३३) द्वारा तृप्त होने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होकर **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८६७) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। स्वद् धातु की रूपमाला यथा—लँट्—स्वदते। लिँट्—सस्वदे। लुँट्—स्वदिता। लृँट्—स्वदिष्यते। लोँट्—स्वदताम्। लँङ्—अस्वदत। वि० लिँङ्—स्वदेत। आ० लिँङ्—स्वदिषीष्ट। लुँङ्—अस्वदिष्ट। लृँङ्—अस्वदिष्यत। प्रक्रिया 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु की तरह प्रायः समझनी चाहिये।

पसन्द आता या भाता है उसे 'स्वादु' कहते हैं। यह विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करता है। यथा—स्वादुः पदार्थः। स्वादु फलम्। स्वादुः स्वाद्वी वा कथा [**वोतो गुणवचनात्** (१२५५) से स्त्रीत्व में वैकल्पिक ङीप् हो जाता है]। **अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा** (नैषध० ३.९३)।

साध्[1]—साध्नोति परकार्यमिति साधुः। 'साध संसिद्धौ' (सिद्ध करना; स्वा० परस्मै०अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय करने से 'साधुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो दूसरे के कार्य को सिद्ध करता है उसे 'साधु' कहते हैं। यह सज्जन का नाम है। **न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति** (सुभाषित)। **उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते** (पञ्च० १.२७०)।

अशूँ (अश्)[2]—अश्नुते व्याप्नोतीति आशु। 'अशूँङ् व्याप्तौ संघाते च' (व्याप्त करना, इकट्ठा करना; स्वा० आत्मने० वेट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि हो कर नपुंसक के एकवचन में सुँ का लुक् करने से 'आशु' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—शीघ्र। **सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च** इत्यमरः। धान्यविशेष अर्थ में इस का पुं० में प्रयोग होता है—आशुर्व्रीहिः। क्रियाविशेषण के रूपमें इस का बहुत प्रयोग होता है—**प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्** (मेघदूत २४); **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः** (मनु० २.१६८)।

अब इन उणादि प्रत्ययों को पाणिन्यनुसृत तथा अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत सिद्ध करने के लिये वरदराज पाणिनीयसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४८) उणादयो बहुलम् ।३।३।१॥

एते वर्त्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

अर्थः—वर्त्तमानकाल में सञ्ज्ञा के वाच्य होने पर ये उण् आदि प्रत्यय बहुल से होते हैं।

केचिद्—इन में विधान न किये हुए भी कई एक प्रत्यय स्वयं कल्पित कर लेने चाहियें। कल्पना का प्रकार यथा—

संज्ञासु—संज्ञाओं में धातुओं तथा उन से परे प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये।

---

१. सूत्रगत 'साधि' में इकार धातुनिर्देश में प्रयुक्त है। अथवा णिजन्त साध् धातु मानने से भी कोई दोष नहीं आता। साधयति परकार्यमिति साधुः। 'साधि' के इकार का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है।

२. 'अशूँ' इस प्रकार ऊँकारान्त निर्देश के कारण 'अश भोजने' (खाना; क्र्या० परस्मै०) धातु का यहां ग्रहण नहीं होता।

पुनः जिस प्रकार का कार्य दिखाई दे तदनुसार प्रत्ययों के साथ वैसे अनुबन्धों को भी जोड़ लेना चाहिये । संक्षेप में उणादियों में यही कुछ शासनीय होता है ।

व्याख्या—उणादयः ।१।३। बहुलम् ।१।१। वर्त्तमाने ।७।१। (वर्त्तमाने लट् से) । संज्ञायाम् ।७।१। (पुवः संज्ञायाम् से) । धातोः, प्रत्ययः, परश्च ये तीनों अधिकृत हैं । उण् आदिर्येषां ते=उणादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(धातोः) धातु से (परे) परे (उणादयः) उण् आदि प्रत्यय (वर्त्तमाने) वर्त्तमान काल में (संज्ञायाम्) संज्ञा के वाच्य होने पर (बहुलम्) बहुल से होते हैं । 'बहुल' शब्द की चार प्रकार से व्याख्या की जाती है—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

इस का विवेचन पीछे (१३-१४) पृष्ठ पर कर चुके हैं । ये उण् आदि प्रत्यय भी बहुल से होते हैं अतः जिन धातुओं से कहे गये हैं उन के अतिरिक्त अन्य धातुओं से भी हो जाते हैं[1] । वर्त्तमान काल में कहे गये हैं परन्तु अन्य कालों में भी हो जाते हैं[2] । कर्त्तरि कृत् (७६६) द्वारा कर्तृकारक में विधान किये गये हैं लेकिन अन्य कारकों में भी देखे जाते हैं[3] । संज्ञा में कहे गये हैं पर क्वचित् संज्ञा न होने पर भी इन की प्रवृत्ति हो जाती है[4] । इन में क्वचित् प्राप्त शास्त्रीय कार्य भी नहीं होता[5] ।

---

१. यथा—**कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण्** (उणा० १.१) सूत्रद्वारा कृ आदि आठ धातुओं से उण् प्रत्यय का विधान किया गया है परन्तु कई अन्य धातुओं से भी उण् देखा जाता है । यथा—रह् धातु से उण् हो कर 'राहुः', वस् धातु से उण् हो कर 'वासुः' (वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः), स्ना धातु से उण् हो कर 'स्नायुः', कक् धातु से उण् हो कर 'काकुः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

२. इस का निर्देश पाणिनि ने स्वयं किया है -
भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥३.३.२॥ (भूतकाल में भी उणादि देखे जाते हैं) ।
भविष्यति गम्यादयः ॥३.३.३॥ (गमि आदि शब्द भविष्यत्काल में भी देखे जाते हैं) ।

३. यथा—दीर्यत इति दारु, यहां दृ धातु से औणादिक ञुण् (१.३) प्रत्यय कर्म में; तरन्त्यनयेति तरणिः (नौका), यहां तॄ धातु से औणादिक अनि (२.१०४) प्रत्यय करण में; बिभेत्यस्मादिति भीमः, यहां 'भी' धातु से औणादिक मक् (१.१४८) प्रत्यय अपादान में; ध्रियन्ते प्राणिनोऽस्यामिति धरणिः (पृथ्वी), यहां धृ धातु स औणादिक अनि (२.१०२) प्रत्यय अधिकरण में होता है । **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३.४.७३) द्वारा दाश और गोघ्न शब्दों का सम्प्रदानकारक में भी वर्णन आया है ।

४. यथा—करोतीति कारुः (करने वाला) । स्वदत इति स्वादुः । सामान्य अर्थ के भी ये वाचक हैं । इसी प्रकार—गुरु, पृथु, मृदु, लघु, बहु, सुष्ठु, पटु आदि औणादिक शब्दों के विषय में भी जानना चाहिये ।

५. यथा—षण्डः (नपुंसक व्यक्ति) में षण् धातु से 'ड' (१.११४) प्रत्यय करने पर

किञ्च अष्टाध्यायी द्वारा सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के शब्द संगृहीत नहीं होते । अष्टाध्यायी से छूटे हुए बहुत से शब्दों का संग्रह उणादिसूत्रों द्वारा हो जाता है । पर इस से भी शब्दों का सम्पूर्ण संग्रह नहीं हो पाता । अन्य भी अनेक शब्द ऐसे रह जाते हैं जिन का अष्टाध्यायी और उणादि में कहीं भी उल्लेख नहीं आता । अतः आचार्य पाणिनि उन सब का संग्रह भी **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' के ग्रहण से कर लेते हैं । उन का अभिप्राय यह है कि—**केचिद् अविहिता अप्यूह्याः** । अर्थात् यदि किसी शब्द (संज्ञा) में प्रत्यय का विधान करने वाला कोई सूत्र न मिले तो स्वयं प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना कर लेनी चाहिये । जैसा कि महाभाष्य में कहा गया है—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्[1] विद्यादनूबन्धं[2] शास्त्रमेतदुणादिषु ॥

संज्ञा शब्दों में पूर्वभाग में प्रकृति (धातु) और पर भाग में प्रत्यय की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये । पुनः उस प्रत्यय में भी शब्दानुरूप कार्य की आवश्यकता को देखते हुए अनुबन्धों को जोड़ लेना चाहिये । जैसे यदि गुण या वृद्धि का अभाव करना हो तो प्रत्यय को कित् या ङित्, यदि वृद्धि करनी हो तो प्रत्यय को ञित् वा णित् करना चाहिये । इसी प्रकार सम्प्रसारण टिलोप आदि अन्य कार्यों के लिये भी प्रत्यय में अनुबन्धों की व्यवस्था कर लेनी चाहिये । उदाहरणार्थ 'ऋफिड' और 'ऋफिड्ड' संज्ञा शब्दों को लीजिये । इन में 'ऋ गतौ' (भ्वा० परस्मै०) धातु से परे 'फिड' और 'फिड्ड' प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये । ऋ को गुण से बचाने के लिये प्रत्ययों को कित् भी कहना चाहिये । इसी प्रकार अन्य संज्ञाशब्दों में भी समझना चाहिये ।[3]

विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धनार्थ यहां उणादिप्रत्ययान्त शब्दों का अर्थ सहित एक

न तो **धात्वादेः षः सः** (२५५) की प्रवृत्ति होती है और न ही **चुटू** (१२६) की । इसी प्रकार दस्यु, मन्यु आदि शब्दों में युच् (३.२०) प्रत्यय के यु को **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश नहीं होता ।

१. कार्यादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । कार्यं विचार्येत्यर्थः ।

२. अनूबन्धम्=अनुबन्धम् । छन्दोऽनुरोधाद् दीर्घः । स च **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.४.१२१) इति सिध्यति । उणादिषु एतत् शास्त्रम्=शासनीयमिति भावः ।

३. कई जगह धातु+प्रत्ययों की कल्पना कर लेने पर अनुबन्धों से भी काम नहीं चलता । वहां 'बहुलम्' का आश्रय कर काम निकालना चाहिये । जैसे 'लाङ्गूल' (पूंछ) शब्द में लगिँ (लङ्ग्) धातु से ऊलच् प्रत्यय की कल्पना कर लेने पर भी धातु के आदि अच् को वृद्धि करने के लिये किसी अनुबन्ध की व्यवस्था नहीं हो सकती । इस के लिये 'बहुलम्' का आश्रयण करना चाहिये । इसी प्रकार यथोचित आगम, आदेश, लोप, द्वित्व, वर्णविपर्यय आदि का भी यथास्थान आश्रय करना उचित है ।

शतक नीचे दिया जा रहा है। इस में आगे दी गई संख्याएं उणादिसूत्रपाठ (उज्ज्वलदत्त-वृत्ति) के पाद और सूत्रों की समझनी चाहियें—

(१) अंस (पुं०); कन्धा [अम्+सन्]। (५.२१)
(२) अंहस् (न०); पाप [अम्+असुन्, 'हुंक्' आगम]। (४.२१२)
(३) अक्षर (न०); वर्ण, नष्ट न होने वाला [अश्+सरन्]। (३.७०)
(४) अक्षि (न०); आंख [अश्+क्सि]। (३.१५६)
(५) अग्नि (पुं०); आग [अङ्ग्+नि, उपधानकारलोप]। (४.५०)
(६) अङ्कुश (पुं०); अंकुश [अङ्क्+उशच्]। (४.१०७)
(७) अङ्गार (पुं० न०); अंगारा [अङ्ग्+आरन्]। (३.१३४)
(८) अङ्गुलि (स्त्री०); अंगुल [अङ्ग्+उलि]। (४.२)
(९) अजिन (न०); चमड़ी, त्वचा [अज्+इनच्]। (२.४८)
(१०) अञ्जलि (पुं०); जुड़े दोनों हाथ (करपुट) [अञ्ज्+अलिच्]। (४.२)
(११) अणु (पुं०); अणु, सूक्ष्म [अण्+उ]। (१.८)
(१२) अतिथि (पुं०); मेहमान [अत्+इथिन्]। (४.२)
(१३) अद्रि (पुं०); पर्वत [अद्+क्रिन्]। (४.६५)
(१४) अध्वन् (पुं०); मार्ग [अद्+क्वनिँप्, दकारस्य धकारः]। (४.११५)
(१५) अनिल (पुं०); वायु, पवन [अन्+इलच्]। (१.५५)
(१६) अरि (पुं०); शत्रु, दुश्मन [ऋ+इ]। (४.१३८)
(१७) अर्क (पुं०); सूर्य [अर्च्+क]। (३.४०)
(१८) अवनि (स्त्री०); पृथ्वी [अव्+अनि]। (२.१०३)
(१९) अश्मन् (पुं०); पत्थर [अश्+मनिन्]। (४.१४६)
(२०) अश्रु (न०); आंसू [अश्+क्रुन्, 'रुट्' आगम]। (५.२९)
(२१) असि (पुं०); तलवार [अस्+इ]। (४.१३९)
(२२) अस्थि (न०); हड्डी [अस्+क्थिन्]। (३.१५४)
(२३) आखु (पुं०); चूहा [आ+खन्+कु, प्रत्ययस्य डित्त्वम्]। (१.३४)
(२४) आतुर (पुं०); रोगी [अत्+उरच्,[1] धातोरादौ दीर्घः]। (१.४२)
(२५) इक्षु (पुं०); गन्ना [इष्+क्सु]। (३.१५७)
(२६) इन्दु (पुं०); चन्द्र [उन्द्+उ, धातोरादेरिच्च]। (१.१३)
(२७) इन (पुं०); स्वामी, सूर्य [इ+नक्]। (३.२)
(२८) इन्द्र (पुं०); इन्द्र, आत्मा, सूर्य [इन्द्+रन्]। (२.२९)
(२९) इभ (पुं०); हाथी [इ+भन्, प्रत्ययस्य कित्त्वम्]। (३.१५३)

१. अतति— निरन्तरं भ्रमति रोगविमुक्तये वैद्याद् वैद्यान्तरमिति आतुरः। यद्वा— आङ्पूर्वात् 'तुर त्वरणे' (जुहो० प०) इति छान्दसाद्व्युत्पाद्योऽयम्। लोके छान्दसा अपि क्वचिदुपयुज्यन्ते।

(३०) इषु (पुं०); तीर [ईष्+उ, धातोरादेरित्त्वं च] । (१.१४)
(३१) उक्षन् (पुं०); बैल [उक्ष्+कनिँन्] । (१.१५८)
(३२) उदर (न०); पेट [उद्+दृ+अल्, उदो दस्य लोपः] । (५.१६)
(३३) उरस् (न०); छाती [ऋ+असुँन्, धातोरुत्त्वं च] । (४.१६४)
(३४) उष्ट्र (पुं०); ऊँट [उष्+ष्ट्रन्, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (४.१६१)
(३५) ऋतु (पुं०); मौसम [ऋ+तु, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (१.७२)
(३६) ऋषि (पुं०); ऋषि [ऋष्+इन्, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (४.११६)
(३७) एक (त्रि०); एक [इ+कन्, कस्य नेत्त्वम्] । (३.४३)
(३८) एनस् (न०); पाप [इ+असुँन्, नुँडागमः] । (४.१६७)
(३९) ओतु (पुं० स्त्री०); बिलाव [अव्+तुन्, अव्स्थाने ऊठ्] । (१.७०)
(४०) ओम् (अ०); प्रणव [अव्+मन्, प्रत्ययस्य टिलोपः, अव्स्थाने ऊठ्, गुणः] । (१.१४१)
(४१) ओष्ठ (पुं०); होंठ [उष्+थन्] । (२.४)
(४२) कठिन (त्रि०); कठोर [कठ्+इनच्] । (२.४६)
(४३) कठोर (त्रि०); कठिन [कठ्+ओरन्] । (१.६५)
(४४) कन्या (स्त्री०); लड़की [कम्+यक्, मकारस्य नकारः] । (४.१११)
(४५) कपि (पुं०); वानर [कम्प्+इ, कम्पेर्नलोपः] । (४.१४३)
(४६) कमठ (पुं०); कछुआ [कम्+अठ] । (१.१०२)
(४७) कर्पास (पुं०); कपास [कृ+पास] । (५.४५)
(४८) कर्मन् (न०); कर्म [कृ+मनिँन्] । (४.१४४)
(४९) कवि (पुं०); कवि [कु+इ] । (४.१३८)
(५०) काष्ठ (न०); लकड़ी [काश्+क्थन्] । (२.२)
(५१) क्षुद्र (त्रि०); नीच [क्षुद्+रक्] । (२.१३)
(५२) गगन (न०); आकाश [गम्+युच्, धातोर्मस्य गकारः] । (२.७७)
(५३) गन्तु (पुं०); पथिक [गम्+तुन्] । (१.७०)
(५४) गिरि (पुं०); पर्वत [गॄ+इ] । (४.१४२)
(५५) गृध्र (पुं०); गीध [गृध्+क्रन्] । (२.२४)
(५६) गो (पुं० स्त्री०); बैल, गाय [गम्+डो] । (२.६७)
(५७) ग्लौ (पुं०); चन्द्र [ग्लै+डौ] । (२.६४)
(५८) चक्षुस् (न०); आंख [चक्ष्+उसिँ, ख्याञादेशाभावः] । (२.१२०)
(५९) चतुर (त्रि०); चालाक [चत्+उरच्] । (१.३९)
(६०) चन्द्र (पुं०); चांद [चन्द्+रक्] । (२.१३)
(६१) छत्त्र (न०); छाता [छादि+ष्ट्रन्, णेर्लोपे 'इस्मन्०' इति ह्रस्वः] । (४.१५८)
(६२) छिद्र (न०); छेद [छिद्+रक्] । (२.१३)

(६३) जनुस् (न०); जन्म [जन्+उसिँ]। (२.११६)
(६४) जन्मन् (न०); उत्पत्ति [जन्+मनिँन्]। (४.१४४)
(६५) तन्तु (पुं०); तागा [तन्+तुन्]। (१.७०)
(६६) तमस् (न०); अन्धकार [तम्+असुँन्]। (४.१८८)
(६७) तरङ्ग (पुं०); लहर [तॄ+अङ्गच्]। (१.११९)
(६८) तरी (स्त्री०); नौका [तॄ+ई]। (३.१५८)
(६९) तरु (पुं०); वृक्ष [तॄ+उ]। (१.७)
(७०) तिमिर (न०); अन्धेरा [तिम्+किरच्]। (१.५२)
(७१) तुषार (पुं०); कोहरा, ओस [तुष्+आरन्]। (३.१३९)
(७२) त्रपु (न०); सीसा [त्रप्+उ]। (१.१०)
(७३) दंष्ट्रा (स्त्री०); दाढ़-दांत [दंश्+ष्ट्रन्]। (४.१५८)
(७४) दण्ड (पुं०); दण्ड, डण्डा [दम्+ड]। (१.११३)
(७५) दन्त (पुं०); दांत [दम्+तन्]। (३.८६)
(७६) दस्यु (पुं०); चोर-डाकू [दस्+युच्, योरनादेशो न]। (३.२०)
(७७) दारु (न०); लकड़ी [दॄ+ञुण्]। (१.३)
(७८) दुहितृ (स्त्री०); लड़की [दुह्+तृच्]। (२.९६)
(७९) देवृ (पुं०); देवर [दिव्+ऋ]। (२.१००)
(८०) धातु (पुं०); धातु [धा+तुन्]। (१.७०)
(८१) ध्वनि (पुं०); आवाज़ [ध्वन्+इ]। (४.१३९)
(८२) निद्रा (स्त्री०); नींद [निन्द्+रक्, निन्देर्नलोपः]। (२.१७)
(८३) निधन (न०); मृत्यु [नि+धा+क्यु, आतो लोपः]। (२.८२)
(८४) नीर (न०); जल [नी+रक्]। (२.१३)
(८५) पति (पुं०); मालिक [पा+डति]। (४.५७)
(८६) पितृ (पुं०), पिता [पा+तृच्, आकारस्येत्त्वम्]। (२.९६)
(८७) भवत् (त्रि०); आप [भा+डवतुँ, डित्त्वाट्टिलोपः]। (१.६४)
(८८) भानु (पुं०); सूर्य [भा+नु]। (३.३२)
(८९) भूमि (स्त्री०); पृथ्वी [भू+मि, प्रत्ययस्य कित्वम्]। (४.४५)
(९०) मीन (पुं०), मत्स्य [मी+नक्]। (३.३)
(९१) रै (पुं०); धन [रा+डै, डित्त्वाट्टिलोपः]। (२.६७)
(९२) लक्ष्मी (स्त्री०); धन [लक्ष्+मुँट्+ई]। (३.१६०)
(९३) वधू (स्त्री०); वहू [वह्+ऊ, हस्य धत्वम्]। (१.८५)
(९४) विधु (पुं०); चन्द्र [व्यध्+कु]। (१.२४)
(९५) वेधस् (पुं०); ब्रह्मा [वि+धा+असिँ, सोपसर्गधातोर्वेधादेशः]। (४.२२४)
(९६) श्रोत्र (न०); कान [श्रु+त्रन्]। (४.१६७)

(९७) स्त्री (स्त्री०); औरत [स्त्यै+ड्रट्+ई]। (४.१६५)
(९८) हंस (पुं०); हंसपक्षी [हन्[1]+स]। (३.६२)
(९९) हस्त (पुं०); हाथ [हस्+तन्, तितुत्र० इतीण्निषेधः]। (३.८६)
(१००) हृदय (न०); हृदय [हृ+कयन्, दुँगागमः]। (४.१००)

अभ्यास (८)

(१) 'उणादि' से पञ्चपादी या दशपादी किस का ग्रहण अभीष्ट है ? सहेतुक लिखें।
(२) उणादिसूत्रों के निर्माता पर जानकारीपूर्ण एक टिप्पण लिखें।
(३) किस आधार पर उणादिसूत्रों को पाणिनिसम्मत सिद्ध किया जाता है।
(४) व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न पक्ष का क्या अभिप्राय है ? उणादियों में कौन सा पक्ष अभिमत है ?
(५) उणादियों की उपयोगिता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
(६) **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण की सोदाहरण व्याख्या करें।
(७) **संज्ञासु धातुरूपाणि**—कारिका की सोदाहरण व्याख्या करते हुए इस कारिका की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालें।
(८) रूप सिद्धि करें -
मायुः, कारुः, वायुः, पायुः, स्वाद्वी, आशु, साधुः।
(९) क्या 'कारु' शब्द कृदन्त है ? यदि है तो कृद्योग में कर्मणिषष्ठी क्यों नहीं होती—कार्यं कारुः।
(१०) 'मायुः' की सिद्धि में क्या अजन्तलक्षणा वृद्धि होती है ? सहेतुक लिखें।
(११) निम्नस्थ शब्दों में धातु प्रत्यय तथा अन्य कार्यों की स्वयं कल्पना करें—
दन्त, नीर, पितृ, हृदय, हंस, भूमि, ऋतु, कपि, गो, तमस्, तरङ्ग, दण्ड, तन्तु, स्त्री, वेधस्।

इत्युणादयः

(यहां पर उणादिप्रकरण समाप्त होता है।)

——:o:——

अथोत्तरकृदन्तम्

अर्थः—अब उत्तरकृदन्तों का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

व्याख्या—पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त के विषय में पीछे (३५-३६) पृष्ठ पर व्याख्या की जा चुकी है। **उणादयो बहुलम्** (८४८) आदि कुछ सूत्र यद्यपि उत्तर-

१. हन् यहां गत्यर्थक है।

कृदन्त विषयक ही हैं तथापि वैशिष्ट्य के कारण उणादियों का पृथक् परिगणन करने से उन सूत्रों को वरदराज ने उणादिप्रकरण मे ही गिन लिया है।

अब उत्तरकृदन्तप्रकरण में सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध प्रत्यय तुमुँन् का वर्णन करते हैं –

[लघु०] विधि-सूत्रम् -(८४६) तुमुँण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ।३।३।१०॥

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति॥

अर्थः -क्रियार्था क्रिया के उपपद अर्थात् समीप उच्चरित होने पर भविष्यत्काल में धातु से परे तुमुँन् और ण्वुल् प्रत्यय हों। **मान्तत्वाद्**—तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय मकारान्त है अतः तदन्त शब्द की **कृन्मेजन्तः** (३६६) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—तुमुँण्-ण्वुलौ ।१।२। क्रियायाम् ।७।१। क्रियार्थायाम् ।७।१। **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। भविष्यति ।७।१। (**भविष्यति गम्यादयः** से)। तुमुँन् च ण्वुल् च तुमुँण्वुलौ, ष्टुत्वम् (६४), इतरेतरद्वन्द्वः। क्रिया अर्थः (प्रयोजनम्) यस्याः सा क्रियार्था, तस्याम् = क्रियार्थायाम्, बहुव्रीहिसमासः। किसी क्रिया की सिद्धि के लिये जब दूसरी क्रिया की जाती है तो वह दूसरी क्रिया पहली क्रिया की क्रियार्था क्रिया कहलाती है। यथा—भोक्तुं व्रजति (खाने के लिये जाता है)। यहां 'खाना' क्रिया के लिये दूसरी गमन क्रिया की जा रही है तो यह दूसरी गमनक्रिया 'खाना' क्रिया की क्रियार्था क्रिया है। इसीप्रकार 'धनमर्जयितुं गच्छति' में गमनक्रिया, 'मित्रं द्रष्टुं याति' में यानक्रिया, 'अध्येतुं गुरुमुपसरति' में उपसरण क्रिया क्रियार्था क्रिया है। अर्थः –(क्रियार्थायां क्रियायाम्) क्रियार्था क्रिया के उपपद या निकट स्थित होने पर[1] (धातोः) धातु से (परौ) परे (तुमुँण्वुलौ) तुमुँन् और ण्वुल् (प्रत्ययौ) प्रत्यय हो जाते हैं (भविष्यति) भविष्यत्काल में।

तुमुँन् प्रत्यय में नकार इत्संज्ञक[2] तथा उकार उच्चारणार्थक है—'तुम्' मात्र शेष रहता है[3]। ण्वुल् प्रत्यय में **चुटू** (१२६) द्वारा णकार तथा **हलन्त्यम्** (१) द्वारा लकार की इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है – 'वु' मात्र शेष रहता है[4]। इन में से तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय मकारान्त कृत् है अतः **कृन्मेजन्तः** (३६६) से तुमुँन्नन्त शब्द की

---

१. **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के कारण यहां सप्तम्यन्त को उपपद समझ कर ऐसा अर्थ किया जाता है। उप (समीपे) उच्चारितं पदम् ='उपपदम्' ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये।

२. तुमुँन् को नित् करने का प्रयोजन **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा तुमुँन्नन्त शब्द को आद्युदात्त करना है।

३. उच्चारणार्थकों की भी इत्संज्ञा भूलनी नहीं चाहिये।

४. ण्वुल् में णकार अनुबन्ध वृद्धि के लिये तथा लकार **लिति** (६.१.१८७) द्वारा प्रत्यय से पूर्व उदात्त स्वर करने के लिये जोड़ा गया है।

अव्ययसंज्ञा हो जाती है। **अव्ययकृतो भावे** (अव्ययसंज्ञक कृत्प्रत्यय भाव में होते हैं) इस भाष्यवचन (३.४.९) के अनुसार तुमुँन् प्रत्यय भाव में होता है। यहां भाव अद्रव्यावस्था में माना जाता है अतः इस के साथ लिङ्ग, कारक और संख्या का योग नहीं होता, केवल औत्सर्गिक प्रथमा का एकवचन सुँ प्रत्यय ही किया जा सकता है[1]। ण्वुल् प्रत्यय **कर्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में ही होता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिये जाता है)। यहां 'दर्शन' क्रिया के लिये यान अर्थात् गमनक्रिया की जा रही है। अतः गमनक्रिया दर्शनक्रिया की क्रियार्था क्रिया है। इस क्रियार्था क्रिया के निकट रहते प्रकृतसूत्रद्वारा 'दृशिँर् प्रेक्षणे' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से भविष्यत्काल में भाव में तुमुँन् प्रत्यय हो कर धातु के इर् तथा प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप करने पर—दृश्+तुम्। धातु के अनुदात्त होने से **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है। अब झलादि अकित् तुमुँन् प्रत्यय के परे रहते **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) से दृश् को अम् का आगम होता है। **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) परिभाषा के अनुसार यह अम् आगम धातु के अन्त्य अच् से परे होता है। अम् के मकार अनुबन्ध का लोप हो—दृ अ श्+तुम्। **इको यणचि** (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर—द्रश्+तुम्। अब **व्रश्चभ्रस्जसृज०** (३०७) सूत्र से शकार को षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्र से तुम् के तकार को टकार हो कर 'द्रष्टुम्'। भाववाचक होने से औत्सर्गिक प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय लाने पर **कृन्मेजन्तः** (३६९) से अव्ययसंज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् हो जाता है —द्रष्टुम्[2]। कृष्णकर्मक-भाविदर्शनक्रिया के लिये गमन करता है—ऐसा यहां अर्थ समझना चाहिये।

इसी प्रकार—भोक्तुं व्रजति, रक्षितुं धावति, अध्येतुं निवसति, हन्तुं नयति आदि समझने चाहियें। इस के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

(क) **पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थवर्त्मना।** (रघु० ४.६०)।

(ख) **स्वेदसलिलस्नाताऽपि पुनः स्नातुमवातरम्।** (कादम्बरी पृ० १४७)।

(ग) **तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत।** (भट्टि० ६.४१)।

(घ) **नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति।**

(स्वप्न० १.५)।

नोट—भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक वैयाकरणों का कथन है कि यहां तुमुँन् के

---

१. अत एव नारायणभट्ट प्रक्रियासर्वस्व में लिखते हैं—

तुमुन्क्त्वाप्रत्ययादीनां सत्त्वभूतार्थवर्जनात्।
सामान्योक्तः सुरेव स्यादिति न्यासादिषु स्थितम्॥

२. ध्यान रहे कि यहां 'द्रष्टुम्' कृदन्त का 'कृष्ण' कर्म है। कर्म में यहां **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठी प्राप्त थी। उस का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर पुनः **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

विधान में अनुक्त होने पर भी समानकर्तृकता की शर्त अनिवार्य है। अर्थात् तुमुँल्नन्त धातु का कर्त्ता तथा क्रियार्था क्रिया का कर्त्ता यदि एक होगा तभी तुमुँन् का विधान होगा। कर्तृभिन्नता में तुमुँन् न होगा। 'कृष्णं द्रष्टुं याति' में दर्शनक्रिया और यानक्रिया एक ही कर्ता द्वारा की जा रही हैं अतः तुमुँन् हुआ है। 'अनुजानीहि मां गन्तुम्' यहां गमन-क्रिया का कर्त्ता 'अस्मद्' तथा 'अनुजानीहि' क्रिया का कर्त्ता 'युष्मद्' है अतः भिन्न-कर्तृकता के कारण ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिये। इस के स्थान पर 'अनुजानीहि मां गमनाय' होना चाहिये।[1]

---

१. परन्तु कुछ अन्य वैयाकरणों का कथन है कि सूत्र (८४९) में समानकर्तृकत्व का कोई उल्लेख नहीं किया गया अतः भिन्नकर्तृकत्व में भी इस की प्रवृत्ति हो सकती है। तुमुँन्नन्त के प्रयोगों में कई स्थानों पर भिन्नकर्तृकता देखी भी जाती है। कुछ उदाहरण यथा—

(१) **न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम्।** (महाभारत १.३४.९)
गरुड़ कह रहे हैं कि मैं किसी को भी सोम पीने नहीं दूंगा। यहां 'समादातुम्' का कर्त्ता कोई अन्य है तथा 'दास्यामि' का कर्त्ता अस्मद् है अतः भिन्न-कर्तृकता स्पष्ट है।

(२) **मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत्।** (भट्टि० ५.५३)
राम को कष्ट में फंसा जान कर सीता ने लक्ष्मण को जाने की प्रेरणा की। यहां तुमुँन्नन्त का कर्ता लक्ष्मण है तथा प्रेरणा की कर्त्री सीता है अतः भिन्न-कर्तृकता स्पष्ट है।

(३) **बाष्पश्च न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि।** (शाकुन्तल० ६.२२)
अश्रु चित्रगत प्रिया को भी मुझे देखने नहीं देती—यह दुष्यन्त की उक्ति है। यहां तुमुँन्नन्त का कर्ता दुष्यन्त है तथा 'ददाति' क्रिया का कर्ता बाष्प है अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(४) **न मृष्यति मां जीवितुं वसन्तबन्धुः।** (दशकुमार० उ० २, पृष्ठ १५१)
वसन्तबन्धु (कामदेव) मुझे जीने नहीं देता। यहां 'जीवितुम्' का कर्त्ता अस्मद् तथा 'मृष्यति' का कर्ता वसन्तबन्धु है अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(५) **रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः।** (रघु० ६.४३)
रेवा नदी को यदि तुम देखना चाहती हो। यहां तुमुँन्नन्त क्रिया का कर्ता युष्मद् तथा 'अस्ति' क्रिया का कर्त्ता 'कामः' है अतः भिन्नकर्तृकता सुतरां सिद्ध है।

(६) **लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।**
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता॥ (रघु० १९.३)
सुदर्शन के पुत्र अग्निमित्र को पिता से प्राप्त भूमि के पालन में कुछ भी कठिनाई न हुई, क्योंकि उस के पिता ने शत्रुओं को पहले ही हरा दिया था अतः उसे पृथ्वी भोगने के लिये ही दी थी अरिशोधनार्थ नहीं। यहां

ण्वुल् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

कृष्णं दर्शको याति । यहां पर भी भविष्यत्कालिक दर्शनक्रिया के लिये यान (गमन) क्रिया की जा रही है अतः यानक्रिया दर्शनक्रिया की क्रियार्था क्रिया है । इस क्रियार्था क्रिया के निकट रहते प्रकृतसूत्र से 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा० परस्मै०) धातु से भविष्यत्काल में कर्ता की वाच्यता में ण्वुल् प्रत्यय हो कर धातु के इर् तथा प्रत्यय के णकार-लकार अनुबन्धों का लोप करने पर —दृश्+वु । अब **ण्वुलतृचौ** (७८४) से वु को अक आदेश हो कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण करने से—दर्श्+अक =दर्शक । पुनः कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर कर्ता के अनुसार प्रथमा के एकवचन सुँ प्रत्यय के लाने पर 'दर्शकः' प्रयोग सिद्ध होता है । 'कृष्णं दर्शको याति'—कृष्ण को देखने के लिये जाता है । अथवा —कृष्णकर्मकभविष्यत्कालिकदर्शनक्रिया का कर्त्ता जाता है । ध्यान रहे कि यहां कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा अनुक्त कर्म 'कृष्ण' में षष्ठी प्राप्त थी परन्तु **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः** (२.३.७०) सूत्र से उस का निषेध हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया ही हो जाती है । पूर्वोक्त **ण्वुलतृचौ** (७८४) वाले ण्वुल् और इस ण्वुल् में यह अन्तर रहता है कि जहां

'भोक्तुम्' और 'प्रसाधयितुम्' क्रियाओं का कर्ता अग्निमित्र है परन्तु उधर 'कल्पिता' का कर्ता सुदर्शन है अतः भिन्नकर्तृकता में कुछ भी सन्देह नहीं रहता ।

(७) **न कोऽपि निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते ।** (मुद्राराक्षस अङ्क ५)
किसी को भी निकलने या घुसने की अनुमति नहीं दी जा रही । यहां निकलने या घुसने का कर्त्ता 'कोऽपि' है । अनुमति देने का कर्त्ता अधिकारिवर्ग है । अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है ।

(८) **स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ।** (किरात० ५.२८)
पूर्वोक्त प्रदीप, शय्या तथा वात आदि अप्सराओं को स्वर्ग की याद भी भुला देती हैं । यहां 'स्मर्तुम्' का कर्त्ता 'सुरसुन्दर्यः' तथा 'दिशन्ति' का कर्त्ता प्रदीप आदि हैं । अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है ।

(९) **यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान् प्राणान् मया धारयितुं चिरं वः** (रघु० १४.४२)
श्रीरामचन्द्र अपने भाइयों से कह रहे हैं- यदि आप लोगों की इच्छा मुझे चिर तक निष्कलङ्क प्राण धारण कराने की है तो आप मेरी बात (सीता-निर्वासन) का विरोध न करें । यहां तुमुँन्नन्त का कर्त्ता राम तथा अध्याहार-लब्ध 'अस्ति' क्रिया का कर्ता 'अर्थिता' (इच्छा) है, अतः कर्तृभेद स्पष्ट है । इसी प्रकार—

(१०) **गृहं सुतेन भोक्तुं मांसं क्रीणाति ।** (भाषावृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर) ।

(११) **चर्मकारिणो वस्तुं कुटीं रचयति ।** (भाषावृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर) ।

(१२) **ब्रह्मकर्म कर्तुम्भवन्तमहं वृणे ।** (अनिरुद्धभट्ट) ।

(१३) **कर्तुं वा कञ्चिदन्तर्ह्यर्पयति वसुमती दक्षिणं सप्ततन्तुम् ।** (कातन्त्रव्याख्या) ।

उस के योग में कर्म में षष्ठी होती है वहां इस के योग में कर्मणि द्वितीया होती है। कृष्णस्य दर्शकः—यहां पूर्वोक्त ण्वुल् है। कृष्णं दर्शकः (याति)—यह इस ण्वुल् का उदाहरण है। किञ्च इस ण्वुल् में क्रियार्था क्रिया का निकट रहना और भविष्यत्काल का होना भी जरूरी है। इस के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(क) **आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।**
अनेन कारणेनाहम् इह वासं न रोचये ॥
(रामायण २.५४.२५)

(ख) **सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः।**
(रामायण १.७१.१६)

(ग) **वयमद्यैव गच्छामो रामं द्रष्टुं त्वरान्विताः।**
कारका मित्रकार्याणि सीतालाभाय सोऽब्रवीत् ॥ (भट्टि० ७.२६)

(घ) **व्याकरणमध्यायका गुरुचरणानुपसीदामः।**
(व्या० च० प्रथम० पृ० ३०)

अब तुमुँन् प्रत्यय के विधायक एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५०) काल-समय-वेलासु तुमुँन् ।३।३।१६७॥

कालार्थेषूपपदेषु तुमुँन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्॥

अर्थः—काल, समय, वेला आदि कालपर्यायवाचक शब्दों के उपपद रहते धातु से परे तुमुँन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—काल-समय-वेलासु ।७।३। तुमुँन् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। कालश्च समयश्च वेला च कालसमयवेलाः, तासु—काल-समय-वेलासु। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। काल, समय, वेला—इन तीन पर्यायों का उल्लेख कालवाचक शब्दों के उपलक्षणार्थ किया गया है अतः अवसर, अनेहस् आदि अन्य कालवाची शब्दों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। अर्थः—(काल-समय-वेलासु) काल, समय, वेला आदि समयवाचक शब्दों के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (तुमुँन्) तुमुँन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। तुमुँन् प्रत्यय पूर्ववत् **अव्ययकृतो भावे** के अनुसार भाव में ही होता है। यह भाव अद्रव्य माना जाता है अतः तुमुँन्नन्त से परे केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन सुँ का ही प्रयोग हो कर **कृन्मेजन्तः** (३६९) द्वारा अव्ययसंज्ञा किये जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

कालो भोक्तुम्, समयो भोक्तुम्, वेला भोक्तुम्। यहां पर कालवाचक शब्दों के उपपद रहते 'भुज पालनाऽभ्यवहारयोः' (रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृत-सूत्रद्वारा भाव में तुमुँन् प्रत्यय आकर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध, लघूपधगुण तथा **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार और **खरि च** (७४)

से गकार को ककार करने पर—भोक्तुम् । अब यहां अव्ययसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक सुँ का लुक् हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां न तो भविष्यत्काल है और न ही क्रियार्था क्रिया अतः पूर्वसूत्र से तुमुँन् प्राप्त न था ।

इसी प्रकार—अनेहाऽयं भोक्तुम्, दिष्टोऽयमुत्थातुम्, अवसरोऽयमात्मानं प्रकटयितुम्, **नायं क्लीबयितुं कालः संयोद्धुं काल एव नः** (महाभारत ६.५.२७), **समयः खलु स्नानभोजने सेवितुम्** (विक्रमो० २), **कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते** (रघु० ५.१०), **समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम्** (स्वप्न० १) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं । वाऽसरूपविधि से ऐसे स्थानों पर ल्युट् का भी प्रयोग हुआ करता है । यथा—कालोऽयम्भोजनस्य ।

नोट—यहां यह बात ध्यातव्य है कि इस सूत्र मे **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (३.३.१६३) सूत्र से 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु' की अनुवृत्ति आती है अतः प्रैष आदियों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । **भूतानि कालः पचतीति वार्ता** (महाभारत वन० ३१३.१८) इत्यादि स्थानों पर प्रैष आदि अर्थों के न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नही होती । प्रैष आदि का विवेचन पीछे (७७०) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें ।

तुमुँन् प्रत्यय लौकिक संस्कृत में अत्यन्त प्रसिद्ध है । उपर्युक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्रों से भी इस प्रत्यय का विधान किया जाता है । विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी होने से हम उन सूत्रों का यहां संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

(१) **समानकर्तृकेषु तुमुँन्** (३.३.१५८)।

इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुँन् प्रत्यय हो जाता है यदि दोनों धातुओं का कर्त्ता समान हो तो । यथा—इच्छति भोक्तुम् । कामयते भोक्तुम् । वष्टि भोक्तुम् । वाञ्छति भोक्तुम् । अभिलषति भोक्तुम् । यहां इच्छार्थक धातु का जो कर्त्ता है वही भुज् धातु का भी है, अतः तुमुँन् हुआ है भिन्नकर्तृकता में नही होता । देवदत्तं भुञ्जानम् इच्छति यज्ञदत्तः । यहां भोजनक्रिया का कर्त्ता देवदत्त है और इच्छाक्रिया का यज्ञदत्त, अतः तुमुँन् नहीं हुआ । इसी प्रकार 'त्वां गन्तुमहमिच्छामि' यह अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'तव गमनमहम् इच्छामि' होना चाहिये ।

इस तुमुँन् के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(क) **पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ।** (कुमार० ५.५३) ।

(ख) **अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्त्तः फणी ।** (पञ्च० १.१७०)।

(ग) **सकृद्दुष्टं च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।**
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ (पञ्च० ४.१५)।

(घ) **पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने ।**
यदि दास्यसि[1] नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥ (सुभाषित)।

---

१. 'दासी+असि' इत्येवमत्र सन्धिच्छेदो बोध्यः ।

(ङ) को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् । (मुद्रा० १) ।
(च) एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । (गीता १.३५)।
(छ) यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव[1] ।
(पञ्च० १.३४५)

(२) शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुँन् (३.४.६५) ।

शक् (सकना), धृष् (साहस करना), ज्ञा (जानना), ग्लै (ऊबना), घट् (चेष्टा करना), रभ् (आरम्भ करना), लभ् (पाना), क्रम् (यत्न करना), सह् (सहना), अर्ह् (योग्य होना) तथा अस्त्यर्थक [भू, अस्, विद् आदि] धातुओं के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुँन् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

शक्—न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः (गीता १.३०) ।
धृष्—धृष्णोति सत्यं वक्तुम् (सत्य बोलने का साहस करता है) ।
ज्ञा—जानासि वत्स दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम् (उत्तर० १) ।
ग्लै—ग्लायत्यध्येतुम् (पढ़ने से ऊबता है) ।
घट्—घटतेऽनुपकरणोऽपि देवान् यष्टुम् (व्या. च. २ य० पृ० १३२)
(साधनहीन होता हुआ भी यज्ञ करने की चेष्टा करता है) ।
रभ्—पुनर्गन्तुमारेभिरे (फिर चलने लगे) ।
लभ्—अनारतमुद्युञ्जानोऽपि पर्याप्तं भोक्तुं न लभते (व्या० च०)
(निरन्तर उद्यम करता हुआ भी पर्याप्त भोजन नहीं पाता) ।
क्रम्—भोक्तुं प्रक्रमते (खाना प्रारम्भ करता है) ।
सह्—न विषहे विपत्तिमवलोकयितुम् (वेणी० ३) । मैं विपत्ति देख नहीं सकता । गन्तुं नोत्सहन्ते (चल नहीं सकते) ।
अर्ह्—तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः (रघु० १.१०)।
छिद्राण्यह्नान्यर्हसि सोढुमर्हन् (रघु० ५.२५) ।
न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति (शाकुन्तल ४) ।
अस्त्यर्थक—अस्ति भोक्तुमन्नम् । विद्यते भोक्तुमन्नम् । भवति भोक्तुमन्नम् ।
(खाने के लिये अन्न है)[2] ।

---

१. तर्तुमित्यनुपपन्नम् । तरितुं तरीतुमिति वा युज्यते । मन्ये छन्दोभङ्गभयादित्थम्प्रयुक्तं भवेदिति ।

२. वामन शिवराम आप्टे अपने Students Guide नामक ग्रन्थ में इस सूत्रगत 'अर्थ' शब्द का शक् आदि समस्त धातुओं के साथ सम्बन्ध मानते हैं केवल अस् धातु के साथ नहीं । अतः शक् आदि समस्त धातुओं के समानार्थकों के योग में भी उन के मतानुसार तुमुँन् प्रत्यय हो जाता है । साहित्य में यत्र-तत्र इस के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं । यथा—'ज्ञा' के समानार्थक 'विद्' के योग में—घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् । पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् । (पञ्च०

(३) **पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु** (३.४.६८) :

'पूर्णतया समर्थ' अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि शब्दों के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुँन् प्रत्यय होता है। यथा—अलं भोक्तुम्, पर्याप्तो भोक्तुम्, समर्थो भोक्तुम्, (खाने में पूर्णतया समर्थ है) : इसी प्रकार—

(क) **लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितु कः समर्थः**—(हितोप० १)।

(ख)—**लोकानलं दग्धु हि तत्पः**—(कुमार० २.५६)

(ग) **अस्ति मे विभवः सर्वं परिज्ञातुम्** (विक्रमो० २)।

(मैं सब कुछ जानने की शक्ति रखता हूं)

(घ) **कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभविष्यति**—(शाकुन्तल ४)।

(अग्नि को छोड़ कर दूसरा कौन जलाने में समर्थ होगा)।

(ङ) अलमयं वीरः शत्रून् काण्डानीव लवितुम्—(व्या० च०)

(ज) कुशलोऽयं देवदत्तः शास्त्रार्थं सुग्रहीतुम्—(व्या० च०)।

प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में तुमुँन् का विधान नहीं है पर कवि लोग क्वचित् प्रयोग करते ही हैं—**अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्** (मृच्छकटिक ३), **अलमात्मानं खेदयितुम्** (वेणी २.३)।[1]

१.४१३)। **नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः**। (रघु० ६.३०)। अर्ह् के समानार्थकों के योग में—**युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको वामपादेन ताडयितुम्** (मालविका०३)। **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** (कुमार० २.५५)। असाम्प्रतम्—नार्हम्—अयुक्तमित्यर्थः। **गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके** (गीता २.५)। श्रेयः—उचितमित्यर्थः। शक् के समानार्थक पारय् के योग में—**न पारयामः निवेदयितुम्** (शाकुन्तल ४)। न पारयामः—न शक्नुमः। **अगृहीतहेतिष्वशिक्षितो मे भुजः प्रहर्त्तुम्**—(श्रीहर्षचरिते)। अशिक्षितः—असमर्थ इति भावः। हैमव्याकरण (५.४.९०) में यही पक्ष स्वीकृत किया गया है। पुरुषोत्तमदेव ने भी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर ऐसा ही अर्थ लिखा है।

१ वामन शिवराम आप्टे का कथन है कि तुमुँन् प्रत्यय यद्यपि भाव में होता है तथापि घञन्त या ल्युडन्त की तरह तुमुँन्नन्त का कर्तृतया प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे 'सवेरे उठना स्वास्थ्यकर है' इस का संस्कृतानुवाद 'प्रातरुत्थानम् आरोग्यावहम्' होना चाहिये न कि 'प्रातरुत्थातुम् आरोग्यावहम्'। परन्तु (श्रीचारुदेव शास्त्री) आदि अन्य कई लोग इस विचार से सहमत नहीं हैं। क्योंकि संस्कृतवाङ्मय में तुमुँन्नन्तों के कर्तृतया प्रयोग भी कई स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। तद्यथा—

(क) **न नप्तारं स्वकं न्याय्यं शप्तुमेवं प्रजापते**—(रामा० युद्ध० ६१.२६)

(ख) **न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिप**—(महाभारत ९.६१.१९)

अब हम यहां अनुवाद आदि में अत्युपयोगी होने से तीन-सौ तुमुँन्नन्तों का अर्थसहित, सटिप्पण संग्रह दे रहे हैं। आशा है प्राथमकल्पिक विद्यार्थियों के लिये यह बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा—

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
१. (अट्)	अटितुम्	=घूमने के लिये
२. (अद्)	अत्तुम्	=खाने के लिये
३. (अय्)	पलायितुम्[1]	=भागने के लिये
४. (अर्च्)	अर्चितुम्	=पूजने के लिये
५. (अर्ज्)	अर्जितुम्	=कमाने के लिये
६. (अर्थ्)	प्रार्थयितुम्	=मांगने के लिये
७. (अव्)	अवितुम्	=बचाने के लिये
८. (अश्)	अशितुम्	=खाने के लिये
९. (अस्)	भवितुम्[2]	=होने के लिये
१०. (अस्)	निरसितुम्	=फेंकने के लिये
११. (आप्)	प्राप्तुम्	=पाने के लिये
१२. (आस्)	आसितुम्	=बैठने के लिये
१३. (इङ्)	अध्येतुम्	—पढ़ने के लिये
१४. (इण्)	एतुम्	=जाने के लिये
१५. (इष्)	एषितुम्, एष्टुम्[3]	=चाहने के लिये
१६. (ईक्ष्)	निरीक्षितुम्	=निरीक्षण करने के लिये
	परीक्षितुम्	=परीक्षा के०
१७. (ईह्)	ईहितुम्	=चेष्टा करने के०
१८. (उज्झ्)	प्रोज्झितुम्	—छोड़ने के लिये
१९. (ऊह्)	ऊहितुम्	=अनुमान करने०
२०. (एध्)	एधितुम्	=बढ़ने के लिये
२१. (कथ्)	कथयितुम्	=कहने के लिये
२२. (कम्)	कामयितुम्, कमितुम्[4]	=चाहने के लिये
२३. (कम्प्)	कम्पितुम्	=कांपने के लिये
२४. (कर्ण्)	आकर्णयितुम्	=सुनने के०
२५. (काङ्क्ष्)	काङ्क्षितुम्	=चाहने के०
२६. (काश्)	प्रकाशितुम्	=प्रकट होने०
२७. (कुप्)	कोपितुम्	=क्रुद्ध होने के लिये
२८. (कूज्)	कूजितुम्	=कूकने के लिये
२९. (कृ)	कर्तुम्	=करने के लिये
३०. (कृत्)	कर्तितुम्	=कतरने के लिये
३१. (कृप्)	कल्पितुम्, कल्प्तुम्[5]	=कल्पना करने के लिये
३२. (कृष्)	आक्रष्टुम्, आकर्ष्टुम्[6]	=खींचने के लिये
३३. (कॄत्)	कीर्तयितुम्[7]	=कीर्तन करने०
३४. (क्रन्द्)	क्रन्दितुम्	=चिल्लाने के लिये

(ग) न युक्तमात्मना वक्तुमेवं गर्वोद्धतं वचः—(महाभारत ९.३२.७०)।
(घ) न शक्यमपतः स्थातुं शक्रेणापि धनञ्जय—(महाभारत ९.५८.१६)।

१. अनिर्दिष्टोऽप्युपसर्गयोगोऽत्र स्थाने स्थाने स्वयमूह्यः। **उपसर्गस्यायतौ** (५३५) इत्युपसर्गरेफस्य लत्वम्।

२. **अस्तेर्भूः** (५७६) इत्यस्तेर्भू इत्यादेशः।

३. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट्।

४. **कमेर्णिङ्** (५२५)। **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९)।

५. गुणे **कृपो रो लः** (८.२.१८) इति लत्वम्।

६. **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (६५३) इत्यङ्गस्य अमागमः, यण्। अमोऽभावे लघूपधगुणः। ष्टुत्वं तूभयत्र बोध्यम्।

७. **उपधायाश्च** (७.१.१०१) इति इत्वम्, रपरत्वम्, **उपधायाञ्च** (८.२.७८) इति दीर्घः।

धातु	तुमुन्नन्त	अर्थ
३५. (क्रम्)	आक्रमितुम्	=आक्रमण करने के लिये
३६. (क्री)	क्रेतुम्	=खरीदने के लिये
	विक्रेतुम्	=बेचने के लिये
३७. (क्रीड्)	क्रीडितुम्	= खेलने के लिये
३८. (क्रुध्)	क्रोद्धुम्[1]	=क्रोध करने के०
३९. (क्रुश्)	आक्रोष्टुम्[2]	=आक्रोश करने के लिये
४०. (क्वण्)	क्वणितुम्	=शब्द करने के०
४१. (क्षम्)	क्षमितुम्, क्षन्तुम्[3]	=सहने के लिये
४२. (क्षर्)	क्षरितुम्	=झरने के लिये
४३. (क्षल्)	क्षालयितुम्	=धोने के लिये
४४. (क्षि)	क्षेतुम्	=क्षीण होने के लिये
४५. (क्षिप्)	क्षेप्तुम्	=फेंकने के लिये
४६. (खण्ड्)	खण्डयितुम्	=खण्डित करने०
४७. (खन्)	खनितुम्	=खोदने के लिये
४८. (खाद्)	खादितुम्	=खाने के लिये
४९. (खेल्)	खेलितुम्	=खेलने के लिये
५०. (ख्या)	ख्यातुम्[4]	=कहने के लिये
	आख्यातुम्	=कहने के लिये
५१. (गण्)	गणयितुम्	=गिनने के लिये
५२. (गद्)	गदितुम्	=कहने के लिये
	निगदितुम्	=कहने के लिये
५३. (गम्)	गन्तुम्	=जाने के लिये
	आगन्तुम्	=आने के लिये
	अधिगन्तुम्	=पाने के लिये
५४. (गर्ज्)	गर्जितुम्	=गरजने के लिये
५५. (गर्ह्)	गर्हितुम्	=निन्दा करने के०
५६. (गवेष्)	गवेषयितुम्	=ढूंढने के लिये
५७. (गाह्)	गाहितुम्, गाढुम्[5]	=आलोडन करने के लिये
५८. (गुञ्ज्)	गुञ्जितुम्	=गूंजने के लिये
५९. (गुप्)	गोपायितुम्[6], गोपितुम्, गोप्तुम्	=रक्षा करने के लिये
६०. (गुम्फ्)	गुम्फितुम्	=गूंथने के लिये
६१. (गुह्)	गूहितुम्[7], गोढुम्	=छुपाने के लिये
६२. (गृध्)	गर्धितुम्	=ललचाने के लिये
६३. (गॄ)	निगरितुम्[8], निगरीतुम्, निगलितुम्, निगलीतुम्	=निगलने के लिये

---

१. लघूपधगुणे झषस्तथोर्धोऽधः (५४९) इति प्रत्ययतकारस्य धकारे झलां जश् झशि (१९) इति धातोर्धकारस्य जश्त्वेन दकारः।

२. व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति शकारस्य षकारे ष्टुना ष्टुः (६४) इति ष्टुत्वम्।

३. धातोरूदित्त्वेन स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (४७६) इति वेट्।

४. अत्र चक्षिङः ख्याञ् (२.४.५४) इति ख्याञादेशे रूपं बोध्यम्। सार्वधातुकमात्र-विषयत्वात् 'ख्या प्रकथने' (अदा० पर०) इत्यस्य नायं प्रयोगः।

५. ऊदित्वाद्वेट्। इटोऽभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

६. गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः (४६७), आयादय आर्धधातुके वा (४६९)। आयाभावे—स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (४७६) इतीड्विकल्पः। लघूपधगुण-स्तूभयत्र बोध्यः।

७. धातोरूदित्त्वेन इड्विकल्पः। इट्पक्षे—ऊदुपधाया गोहः (६.४.८९) इत्युपधाया उकारस्य ऊकारः। इटोऽभावे लघूपधगुणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः।

८. इटि, गुणे रपरत्वे अचि विभाषा (६६३) इति रेफस्य वा लत्वम्। वॄतो वा (६१५) इति इटो वा दीर्घः।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ	धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
६४. (गै)	गातुम्[1]	=गाने के लिये	८९. (जागृ)	जागरितुम्	=जागने के लिये
६५. (ग्रस्)	ग्रसितुम्	=खाने के लिये	९०. (जि)	जेतुम्	=जीतने के लिये
६६. (ग्रह्)	ग्रहीतुम्[2]	=ग्रहण करने के०	९१. (जीव्)	जीवितुम्	=जीने के लिये
६७. (ग्लै)	ग्लातुम्	=क्षीण होने के लिये	९२. (जृम्भ्)	जृम्भितुम्	=जम्भाई लेने०
६८. (घट्)	घटितुम्	=चेष्टा करने के०	९३. (ज्ञा)	ज्ञातुम्	=जानने के लिये
६९. (घृष्)	घर्षितुम्	=रगड़ने के लिये	९४. (ज्वल्)	ज्वलितुम्	=जलने के लिये
७०. (घ्रा)	घ्रातुम्	=सूंघने के लिये	९५. (डीं)	उड्डयितुम्	=उड़ने के लिये
७१. (चकास्)	चकासितुम्	=चमकने०	९६. (तड्)	ताडयितुम्	=पीटने के लिये
७२. (चम्)	आचमितुम्	=आचमन करने के लिये	९७. (तन्)	तनितुम्	=विस्तार करने के०
७३. (चर्)	चरितुम्	=घूमने के लिये	९८. (तप्)	तप्तुम्	=तपाने के लिये
	आचरितुम्	=करने के लिये	९९. (तर्क्)	तर्कयितुम्	=विचारने के०
७४. (चर्व्)	चर्वितुम्	=चबाने के लिये	१००. (तुद्)	तोत्तुम्	=दुःख देने के लिये
७५. (चल्)	चलितुम्	=चलने के लिये	१०१. (तुल्)	तोलयितुम्	=तोलने के०
७६. (चि)	चेतुम्	=चुनने के लिये	१०२. (तुष्)	तोष्टुम्	=प्रसन्न होने के०
७७. (चित्)	चेतितुम्	=चेतने के लिये	१०३. (तृप्)	तर्पितुम्[3], त्रप्तुम्, तर्प्तुम्	=तृप्त होने या करने के लिये
७८. (चिन्त्)	चिन्तयितुम्	=सोचने के०	१०४. (तॄ)	तरितुम्[4], तरीतुम्	=पार करने के लिये
७९. (चुम्ब्)	चुम्बितुम्	=चूमने के लिये	१०५. (त्यज्)	त्यक्तुम्[5]	=छोड़ने के लिये
८०. (चुर्)	चोरयितुम्	=चुराने के लिये	१०६. (त्रस्)	त्रसितुम्	=डरने के लिये
८१. (चूर्ण्)	चूर्णयितुम्	=पीसने के लिये	१०७. (त्रै)	त्रातुम्	=बचाने के लिये
८२. (चेष्ट्)	चेष्टितुम्	=चेष्टा करने०	१०८. (त्वर्)	त्वरितुम्	=जल्दी करने०
८३. (च्युत्)	च्योतितुम्	=गीला करने०	१०९. (दण्ड्)	दण्डयितुम्	=दण्ड देने के०
८४. (छद्)	आच्छादयितुम्	=ढांपने के०	११०. (दद्)	ददितुम्	=देने के लिये
८५. (छिद्)	छेत्तुम्	=काटने के लिये	१११. (दध्)	दधितुम्	=धारण करने०
८६. (जन्)	जनितुम्	=पैदा होने के०	११२. (दंश्)	दंष्टुम्[6]	=डसने के लिये
८७. (जप्)	जपितुम्	=जपने के लिये			
८८. (जल्प्)	जल्पितुम्	=कहने के लिये			

१. आदेच उपदेशेऽशिति (४९३) इत्यात्वम् ।

२. ग्रहोऽलिटि दीर्घः (६६३) इति इटो दीर्घः ।

३. रधादिभ्यश्च (६३५) इति इड्विकल्पः । इटोऽभावे अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६५३) इति अमागमविकल्पः । अमागमे यण् तदभावे लघूपधगुणः ।

४. वॄतो वा (११५) इति इटो वा दीर्घः ।

५. चोः कुः (३०६) इति कुत्वम् ।

६. व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् (६४) ।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
११३. (दल्)	दलितुम्	=दलने के लिये
११४. (दह्)	दग्धुम्[1]	=जलाने के लिये
११५. (दा)	दातुम्	=देने के लिये
	आदातुम्	=लेने के लिये
११६. (दिव्)	देवितुम्	=खेलने के लिये
११७. (दिश्)	आदेष्टुम्	=आदेश देने०
	उपदेष्टुम्	=उपदेश देने०
११८. (दिह्)	देग्धुम्	=लेप करने के०
११९. (दीक्ष्)	दीक्षितुम्	=दीक्षित करने०
१२०. (दीप्)	दीपितुम्	=चमकने के लिये
१२१. (दुल्)	दोलयितुम्	=झुलाने के०
१२२. (दुह्)	दोग्धुम्	=दोहने के लिये
१२३. (दृ)	आदर्तुम्	=आदर देने के०
१२४. (दृश्)	द्रष्टुम्[2]	=देखने के लिये
१२५. (दो)	अवदातुम्[3]	=काटने के०
१२६. (द्युत्)	द्योतितुम्	=चमकने के०
१२७. (द्रुह्)	द्रोहितुम्[4], द्रोग्धुम्, द्रोढुम्	=द्रोह करने के लिये
१२८. (द्विष्)	द्वेष्टुम्	=द्वेष करने के०
१२९. (धा)	धातुम्	=धारण करने के०
	विधातुम्	=करने के लिये
१३०. (धाव्)	धावितुम्	=दौड़ने के०
१३१. (धू)	धवितुम्[5], धोतुम्	=कम्पाने के लिये
१३२. (धृ)	धर्तुम्	=धारण करने के लिये
१३३. (ध्मा)	ध्मातुम्	=फूंकने के लिये
१३४. (ध्यै)	ध्यातुम्	=ध्यान करने के०
१३५. (ध्वंस्)	ध्वंसितुम्	=नष्ट करने०
१३६. (नद्)	नदितुम्	=गरजने के लिये
१३७. (नन्द्)	नन्दितुम्	=खुश होने के०
१३८. (नम्)	नन्तुम्	=झुकने के लिये
१३९. (नर्द्)	नर्दितुम्	=गरजने के लिये
१४०. (नश्)	नशितुम्[6], नंष्टुम्	=नष्ट होने के लिये
१४१. (नह्)	नद्धुम्[7]	=बांधने के लिये
१४२. (नाथ्)	नाथितुम्	=मांगने के लिये
१४३. (निन्द्)	निन्दितुम्	=निन्दा करने०
१४४. (नी)	नेतुम्	=ले जाने के लिये
	आनेतुम्	=लानेके लिये
१४५. (नुद्)	नोत्तुम्	=प्रेरित करने के०
१४६. (नृत्)	नर्तितुम्	=नाचने के लिये
१४७. (पच्)	पक्तुम्	=पकाने के लिये
१४८. (पञ्च्)	प्रपञ्चयितुम्	=विस्तार करने के लिए

१. **दादेर्धातोर्घः** (२५२) इति हकारस्य घत्वे **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति तुमुँनस्तकारस्य धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वेन घकारस्य गकारः । एवम् देग्धुम्, दोग्धुम् इत्यादिष्वपि बोध्यम् ।

२. **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) इत्यमागमे यणि षत्वे ष्टुत्वे च रूपम् ।

३ **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वम् ।

४. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पः । इट्पक्षे लघूपधगुणे—द्रोहितुम् इति । इटोऽभावे **वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्** (२५४) इति हकारस्य वा घत्वे धत्वजश्त्वयोः च कृतयोः द्रोग्धुमिति । घत्वाभावे **हो ढः** (२५१) इति हस्य ढत्वे धत्वे ष्टुत्वे ढो ढे लोपः ।

५. **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इति वेट् ।

६. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इति वेट् । इटोऽभावे **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमि अनुस्वारे षत्वष्टुत्वे ।

७. **नहो धः** (३५९) इति धातोर्हकारस्य धत्वे, धत्व-जश्त्वयोश्च रूपम् ।

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

१४९. (पठ्) पठितुम् = पढ़ने के लिये
१५०. (पत्) पतितुम् = गिरने के लिये
१५१. (पद्) प्रतिपत्तुम् = स्वीकार करने०
१५२. (पा) पातुम् = पीने के लिये
१५३. (पा) पातुम् = रक्षा करने के लिये
१५४. (पार्) पारयितुम् = समाप्त करने०
१५५. (पाल्) पालयितुम् = पालने के०
१५६. (पिष्) पेष्टुम् = पीसने के लिये
१५७. (पीड्) पीडयितुम् = पीडित करने०
१५८. (पुष्) पोष्टुम् = पुष्ट करने के०
१५९. (पू) पवितुम् = पवित्र करने के०
१६०. (पूज्) पूजयितुम् = पूजने के लिये
१६१. (पूर्) पूरयितुम् = पूर्ण करने के०
१६२. (प्रच्छ्) प्रष्टुम् = पूछने के लिये
१६३. (प्रथ्) प्रथितुम् = प्रसिद्ध होने के०
१६४. (फल्) फलितुम् = फलने के लिये
१६५. (फुल्ल्) प्रफुल्लितुम् = विकसित होने के लिए
१६६. (बन्ध्) बन्द्धुम्[1] = बांधने के लिये
१६७. (बाध्) बाधितुम् = रोकने के लिये
१६८. (बुध्) बोधितुम्[2] = जानने के०
१६९. (बुध्) बोद्धुम् = जानने के लिये
१७०. (ब्रू) वक्तुम्[3] = कहने के लिये
१७१. (भक्ष्) भक्षयितुम् = खाने के लिये
१७२. (भज्) विभक्तुम् = बांटने के०

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

१७३. (भञ्ज्) भङ्क्तुम् = तोड़ने के०
१७४. (भण्) भणितुम् = कहने के लिये
१७५. (भर्त्स्) भर्त्सयितुम् = झिड़कने०
१७६. (भा) भातुम् = चमकने के लिये
१७७. (भाष्) भाषितुम् = बोलने के०
१७८. (भास्) भासितुम् = चमकने के०
१७९. (भिक्ष्) भिक्षितुम् = मांगने के०
१८०. (भिद्) भेत्तुम् = तोड़ने के लिये
१८१. (भी) भेतुम् = डरने के लिये
१८२. (भुज्) भोक्तुम् = खाने के लिये
१८३. (भू) भवितुम् = होने के लिये
१८४. (भूष्) भूषयितुम् = सजाने के०
१८५. (भृ) भर्तुम् = धारण करने के०
१८६. (भृज्) भर्जितुम् = भूनने के लिये
१८७. (भ्रंश्) भ्रंशितुम् = गिरने के०
१८८. (भ्रम्) भ्रमितुम् = घूमने के लिये
१८९. (भ्रस्ज्) भर्ष्टुम्[4] / भ्रष्टुम् = भूनने के लिये
१९०. (भ्राज्) भ्राजितुम् = चमकने के०
१९१. (मण्ड्) मण्डयितुम् = सजाने के०
१९२. (मद्) प्रमदितुम् = प्रमाद करने०
१९३. (मन्) मन्तुम् = मानने के लिये
१९४. (मन्त्र्) मन्त्रयितुम् = सलाह करने के लिये
१९५. (मन्थ्) मन्थितुम् = मथने के लिये

---

१. धत्व-जश्त्वयो रूपम् । एवम्—बोद्धुम्, रोद्धुम्, लब्धुम्, आरब्धुम् इत्यादिषु बोध्यम् ।

२. भौवादिकोऽयं सेड् धातुः । अपरस्तु दैवादिकोऽनिड् बोध्यः ।

३. **ब्रुवो वचिः** (५९६) इति वच्यादेशः ।

४. **भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्** (६५२) इति रेफोपधानिवृत्तौ रमागमे च **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) इति जकारस्य षकारे ष्टुत्वे भर्ष्टुम् इति रूपम् । रमोऽभावपक्षे **स्कोः०** (३०९) इति सकारलोपे षत्वष्टुत्वयोश्च भ्रष्टुम् इति ।

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

१९६. (मस्ज्) मङ्क्तुम्[1]=गोता लगाने०
१९७. (मा) मातुम्=मापने के लिये
१९८. (मान्) मानयितुम्=पूजने के०
१९९. (मार्ग) मार्गयितुम्=ढूंढने के०
२००. (मिल्) मेलितुम्=मिलने के लिये
२०१. (मील्) मीलितुम्=नेत्र बन्द करने के लिये
उन्मीलितुम्=नेत्र खोलने के०
२०२. (मुच्) मोक्तुम्=छोड़ने के लिये
२०३. (मुद्) मोदितुम्=प्रसन्न होने के०
२०४. (मुर्च्छ्) मूर्च्छितुम्[2]=बेहोश होने०
२०५. (मुष्) मोषितुम्=चुराने के लिये
२०६. (मुह्) मोहितुम्[3] मोग्धुम् मोढुम् =मोहित होने के लिये
२०७. (मृ) मर्तुम्=मरने के लिये
२०८. (मृग्) मृगयितुम्=ढूंढने के लिये
२०९. (मृज्) मार्जितुम्[4] मार्ष्टुम् =शुद्ध करने के लिये
२१०. (मृद्) मर्दितुम्=पीसने के लिये
२११. (मृश्) म्रष्टुम्[5] मर्ष्टुम् =छूने के लिये

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

२१२. (मृष्) मर्षितुम्=सहने के लिये
२१३. (म्ना) म्नातुम्=अभ्यास करने०
२१४. (म्लै) म्लातुम्=मुरझाने के लिये
२१५. (यज्) यष्टुम्[6]=यज्ञ करने के०
२१६. (यन्त्र्) नियन्त्रयितुम्=काबू में करने के लिये
२१७. (यत्) यतितुम्=यत्न करने के०
२१८. (या) यातुम्=जाने के लिये
२१९. (याच्) याचितुम्=मांगने के०
२२०. (युज्) योक्तुम्=जोड़ने के लिये
२२१. (युध्) योद्धुम्=युद्ध करने के०
२२२. (रक्ष्) रक्षितुम्=रक्षा करने के०
२२३. (रच्) रचयितुम्=बनाने के लिये
२२४. (रभ्) आरब्धुम्=शुरू करने के०
२२५. (रम्) रन्तुम्[7]=रमण करने के०
२२६. (राज्) विराजितुम्=शोभा पाने०
२२७. (रुच्) रोचितुम्=भाने के लिये
२२८. (रुद्) रोदितुम्=रोने के लिये
२२९. (रुध्) रोद्धुम्=रोकने के लिये
२३०. (रुह्) आरोढुम्[8]=चढ़ने के लिये
२३१. (लक्ष्) लक्षयितुम्=दिखाने के०
२३२. (लङ्घ्) लङ्घितुम्=लांघने के०

---

१. मस्ज्+तुम् इति स्थिते **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुमागमः । स च **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) इति नियमं बाधित्वा **मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः** (वा० ४४) इति धातुजकारात् पूर्वं बोध्यः । तेन सकारस्य संयोगादिलोपे कुत्वे चेष्टरूपम् ।
२. **उपधायां च** (८.२.७८) इति दीर्घः ।
३. अत्र द्रोहितुम्-द्रोग्धुम्-द्रोढुम् इतिवत् पूर्वनिर्दिष्टा प्रक्रिया बोध्या ।
४. ऊदित्वाद् वेट् । **मृजेर्वृद्धिः** (७८२) ।
५. **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (६५३) इति वाऽमागमः । यणि षत्वष्टुत्वयोश्च म्रष्टुमिति । अमोऽभावे लघूपधगुणे षत्वष्टुत्वे ।
६. **व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् ।
७. **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) इत्यनुस्वारे **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) इति परसवर्णत्वम् ।
८. ढत्व-धत्व-ष्टुत्वढलोपेषु कृतेषु **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्युकारस्य ओकारः । एवम्—वोढुम् इत्यत्रापि बोध्यम् ।

धातु	तुमुन्नन्त	अर्थ
२३३. (लप्)	लपितुम्	बात करने के०
	प्रलपितुम्	प्रलाप करने०
	विलपितुम्	विलाप करने०
२३४. (लम्ब्)	आलम्बितुम्	आश्रय के०
२३५. (लभ्)	लब्धुम्	पाने के लिये
	आलब्धुम्[1]	छूने के लिये
२३६. (लष्)	अभिलषितुम्	चाहने के०
२३७. (लस्ज्)	लज्जितुम्[2]	शर्माने के०
२३८. (लिख्)	लेखितुम्	लिखने के लिये
२३९. (लिह्)	लेढुम्[3]	चाटने के लिये
२४०. (लू)	लवितुम्	काटने के लिये
२४१. (लोक्)	विलोकितुम्	देखने के०
२४२. (लोच्)	आलोचितुम्	आलोचना करने के लिए
२४३. (वच्)	वक्तुम्	कहने के लिये
२४४. (वञ्च्)	प्रवञ्चितुम्	जाने के०
	वञ्चयितुम्	ठगने के०
२४५. (वद्)	वदितुम्	कहने के लिये
२४६. (वन्द्)	वन्दितुम्	नमस्कार करने के लिये
२४७. (वप्)	वप्तुम्	काटने के लिये या बोने के लिये
२४८. (वम्)	वमितुम्	वमन करने के०
२४९. (वर्ण्)	वर्णयितुम्	वर्णन करने०
२५०. (वस्)	वस्तुम्	रहने के लिये
२५१. (वस्)	वसितुम्	ढांपने के लिये
२५२. (वह्)	वोढुम्	ले जाने के लिये
२५३. (वाञ्छ्)	वाञ्छितुम्	चाहने के०
२५४. (विद्)	वेदितुम्	जानने के लिये
२५५. (विद्)	वेत्तुम्	होने के लिये
२५६. (विद्)	वेत्तुम्[4] / वेदितुम्	पाने के लिये
२५७. (विश्)	प्रवेष्टुम्	प्रवेश करने०
२५८. (वृत्)	वर्तितुम्	होने के लिये
२५९. (वृध्)	वर्धितुम्	बढ़ने के लिये
२६०. (वेष्ट्)	वेष्टितुम्	लपेटने के०
२६१. (व्रज्)	व्रजितुम्	जाने के लिये
२६२. (शक्)	शक्तुम्	सकने के लिये
२६३. (शङ्क्)	शङ्कितुम्	शंका करने०
२६४. (शंस्)	प्रशंसितुम्	प्रशंसा करने०
२६५. (शप्)	शप्तुम्	शाप देने के०
२६६. (शम्)	शमितुम्	शान्त होने के०
२६७. (शास्)	शासितुम्	शिक्षा देने०
२६८. (शिक्ष्)	शिक्षितुम्	सीखने के०
२६९. (शी)	शयितुम्	सोने के लिये
२७०. (शुच्)	शोचितुम्	शोक करने०
२७१. (शुध्)	शोद्धुम्	शुद्ध होने के लिये
२७२. (शुभ्)	शोभितुम्	शोभा पाने के०
२७३. (श्रि)	आश्रयितुम्	आश्रय करने०
२७४. (श्रु)	श्रोतुम्	सुनने के लिये
२७५. (श्लिष्)	श्लेष्टुम्	चिपटने के०
२७६. (श्वस्)	श्वसितुम्	सांस लेने के०
२७७. (सह्)	सहितुम्[5] / सोढुम्	सहने के लिये
२७८. (सान्त्व्)	सान्त्वयितुम्	सांत्वना देने के लिए
२७९. (सिच्)	सेक्तुम्	सींचने के लिये
२८०. (सिव्)	सेवितुम्	सीने के लिये
२८१. (सूच्)	सूचयितुम्	सूचना देने०

१. आङ्पूर्वो लभिर्हिंसायां स्पर्शने च वर्तते ।

२. श्चुत्वेन सकारस्य शकारे झलां जश्झशि (१९) इति जश्त्वेन शकारस्य जकारः ।

३. लघूपधगुणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः ।

४. विद्लृ लाभे (तुदा० उ० अनिट्)। व्याघ्रभूतिमते सेडयं धातुस्तेन वेदितुम् इत्यपि ।

५. तीषसहलुभरुषरिषः (६५७) इति वेट् । अनिट्पक्षे 'आरोढुम्' इतिवत्प्रक्रिया बोध्या ।

धातु	तुमुन्नन्त	अर्थ
२८२. (सृ)	सर्तुम्	= सरकने के लिये
	अपसर्तुम्	= हटने के लिये
२८३. (सृज्)	स्रष्टुम्	= पैदा करने के०
	उत्स्रष्टुम्[1]	= छोड़ने के०
२८४. (सेव्)	सेवितुम्	= सेवा करने के०
२८५. (स्खल्)	स्खलितुम्	= फिसलने के०
२८६. (स्तु)	स्तोतुम्	= स्तुति करने के०
२८७. (स्था)	स्थातुम्	= ठहरने के लिये
२८८. (स्ना)	स्नातुम्	= नहाने के लिये
२८९. (स्पन्द्)	स्पन्दितुम्	= फड़कने के०
२९०. (स्पर्ध्)	स्पर्धितुम्	= स्पर्धा करने०
२९१. (स्पृश्)	स्प्रष्टुम्[2], स्पर्ष्टुम्	= छूने के लिये
२९२. (स्पृह्)	स्पृहयितुम्	= चाहने के०
२९३. (स्मृ)	स्मर्तुम्	= याद करने के०
२९४. (स्वप्)	स्वप्तुम्	= सोने के लिये
२९५. (हन्)	हन्तुम्	= मारने के लिये
२९६. (हस्)	हसितुम्	= हंसने के लिये
२९७. (हा)	हातुम्	= छोड़ने के लिये
२९८. (हिंस्)	हिंसितुम्	= मारने के लिये
२९९. (हु)	होतुम्	= होम करने के लिये
३००. (हृ)	हर्तुम्	= हरने के लिये
	प्रहर्तुम्	= चोट करने के०
	विहर्तुम्	= घूमने के लिये
३०१. (ह्वे)	आह्वातुम्	= बुलाने के लिये

ध्यान रहे कि तुमुँन् प्रत्यय हेतुमण्णिजन्त आदि धातुओं से भी हो जाता है। निदर्शनार्थ उदाहरण यथा—

१. अध्यापयितुम् — पढ़ाने के लिये
२. दर्शयितुम् = दिखाने के लिये
३. श्रावयितुम् = सुनाने के लिये
४. घातयितुम् = मरवाने के लिये
५. द्योतयितुम् = जतलाने के लिये
६. जनयितुम् = पैदा करने के लिये
७. तोषयितुम् = खुश करने के लिये
८. ग्राहयितुम् = ग्रहण कराने के लिये
९. प्रसादयितुम् = प्रसन्न करने के लिये
१०. कारयितुम् = करवाने के लिये

अभ्यास (९)

(१) 'कृष्णं दर्शको याति' यहां पर किस सूत्र से किस अर्थ में ण्वुल् हुआ है? पूरी तरह घटा कर समझाएं। यह भी लिखें कि यहां कृद्योग में षष्ठी क्यों नहीं हुई? क्या 'कृष्णस्य दर्शको याति' प्रयोग अशुद्ध है?

(२) क्रियार्था क्रिया को स्पष्ट करते हुए तुमुँन्विधायक-सूत्र की व्याख्या करें।

(३) तुमुँन्विधायक चारों सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें।

(४) तुमुँण्वुलौ० में समानकर्तृकता की शर्त अनेक वैयाकरण मानते हैं उन के अभिप्राय को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए तीन-चार विपरीत उदाहरण भी प्रदर्शित कीजिये।

---

१. सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६४४) इत्यमागमे यणि व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

२. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्याऽन्यतरस्याम् (६५३) इति वाऽमागमः। यणि षत्वष्टुत्वयोश्च स्प्रष्टुमिति। अमोऽभावे लघूपधगुणे षत्वष्टुत्वे।

(५) प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में क्या कहीं तुमुँन् का प्रयोग देखा जाता है ? पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से विचार व्यक्त करें।
(६) कालवाचक शब्दों के उपपद रहते तुमुँन् का विधान किया गया है तो पुनः 'भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता' में तुमुँन् क्यों नहीं हुआ ? सप्रमाण समझा कर लिखें।
(७) तुमुँन् और ण्वुल् एक ही सूत्र से विहित हो रहे हैं पुनः इन के अर्थों में भेद कैसा ? सप्रमाण विवेचन करें।
(८) क्या तुमुँन्नन्त का कर्तृतया प्रयोग हो सकता है ? इस विषय में आप्टे की मान्यता का उल्लेख करते हुए सोदाहरण विवेचन करें।
(९) निम्नस्थ धातुओं के तुमुँन्नन्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—
लिह्, सृज्, परा √अय्, क्रुध्, कृत्, क्षम्, ग्रह्, कृ, तॄ, त्यज्, नश्, दह्, ब्रू, अस्, यज्, आ √रभ्, आ √रुह्, लू, वह्, स्पृश्, दण्ड्, छिद्, ग्लै, नह्, प्रच्छ्।
(१०) किस से तुमुँन् हुआ है ? विधायक-सूत्र लिखें—
समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम्; पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति; तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति; अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्; लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः; द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्; न च शक्नोम्य-वस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः; न कोऽपि निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते; वयमद्यैव यास्यामो रामं द्रष्टुं त्वरान्विताः; नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।

——:०:——

अब कृदन्तप्रकरण के सुप्रसिद्ध प्रत्यय घञ् का विधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५१) भावे ।३।३।१८॥

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः ॥

अर्थः—जब धात्वर्थ सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ हो तो उसके वाच्य होने पर धातु से परे घञ् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भावे ।७।१। घञ् ।१।१। (**पद-रुज-विश-स्पृशो घञ्** से)। **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(भावे) भाव के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। धातु के अर्थ (क्रिया) को ही भाव कहते हैं। वह धात्वर्थ दो प्रकार का होता है—(१) साध्यावस्था-पन्न, (२) सिद्धावस्थापन्न। भवति, पठति, पचति आदि तिङन्तों में धात्वर्थ साध्या-वस्थापन्न होता है। पाकः, त्यागः, पठनम्, गमनम्, हसितम् आदि कृदन्तों में सिद्धा-वस्थापन्न। जब धात्वर्थ सिद्धावस्था में होता है तब वह द्रव्य की तरह भासता है

(**कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते**—महाभाष्य) अतः उस के साथ लिङ्ग और संख्या का योग हो सकता है। प्रकृतसूत्र से इसी सिद्धावस्थापन्न भाव के वाच्य होने पर धातु से घञ् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है।

घञ् प्रत्यय के घकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा ञकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है। इत्संज्ञकों का लोप हो कर 'अ' मात्र शेष रहता है। घकार अनुबन्ध **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) आदि घित्कार्यों के लिये तथा ञकार अनुबन्ध वृद्धि (१८२, ४५५) तथा स्वरप्रक्रिया के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—डुपचँष् पाके (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से सिद्धावस्थापन्न भाव के वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय हो गया तो—डुपचँष्+घञ्। प्रकृति और प्रत्यय दोनों के अनुबन्धों का लोप हुआ तो - पच्+अ। घञ् के ञित् होने के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने पर—पाच्+अ। घित् प्रत्यय के परे होने पर **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से धातु के चकार को कुत्व-ककार किया तो पाक्+अ='पाक' प्रातिपदिक बना। अब इस से परे प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय लाने पर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'पाकः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'पाकः' का अर्थ है—पचनं पाकः, अर्थात् 'पकाना'।

घञन्त शब्द लिङ्गानुशासन के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं[1]। पाकः, पाकौ, पाकाः।

कुछ अन्य उदाहरण यथा—

त्यज्- त्यागः[2] [छोड़ना]। पत्—पातः, विनिपातः[3] [गिरना]। नश्—नाशः, प्रणाशः,[4] विनाशः [नष्ट होना]। दह्—दाहः [जलाना]। रम्—रामः, विरामः [ठहरना, रुकना]। नम्—नामः, प्रणामः [झुकना]। भज्—भागः, विभागः [बांटना]। पठ्—पाठः [पढ़ना] इत्यादि।

अब घञ्प्रत्यय के विधायक एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५२) अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् ।३।३।१९॥

कर्त्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ॥

---

१. **घञबन्तः** (लिङ्गानु० २.२)। घञ्प्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। घञ्प्रत्ययान्त यथा—पाकः, त्यागः, पातः, नाशः। अप्प्रत्ययान्त यथा—करः, गरः, स्तवः, पवः (८५६)।

२. **त्यागाय सम्भृतार्थानाम्** (रघु० १.७)।

३. **विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः** (भर्तृ० नीतिशतक ६)।

४. **भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः।**
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्यः॥
(हितोप० २.१७७)

अर्थः—कर्तृभिन्न कारक में धातु से परे घञ् प्रत्यय हो संज्ञा के विषय में।

व्याख्या—अकर्तरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । कारके ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। घञ् ।१।१। (**पदरुजविशस्पृशो घञ्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। न कर्तरि—अकर्तरि। नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अकर्तरि) कर्त्ता से भिन्न अर्थात् कर्म करण आदि कारक के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में।

संज्ञा का अभिप्राय रूढि से है, ऐसे शब्द यौगिकार्थ रखते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ होने चाहियें। उदाहरण यथा—

रज्यतेऽनेनेति रागः। जिस से रंगा जाए अर्थात् रंग आदि रञ्जनद्रव्य। यहां करण कारक की विवक्षा में 'रञ्जँ रागे' (रंगना, अनुरक्त होना, प्रेम करना; भ्वा० उभय० अनिट्, दिवा० उभय० अनिट्) धातु से घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'रञ्ज्+अ' हुआ। अब यहां धातु के नकार का लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८५३) **घञि च भावकरणयोः** ।६।४।२७।।

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।।

अर्थः—भाव या करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय के परे होने पर भी रञ्ज् (रन्ज्) धातु के नकार का लोप हो।

व्याख्या—घञि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। भावकरणयोः ।७।२। रञ्जेः ।६।१। (**रञ्जेश्च** सूत्र से)। नलोपः ।१।१। (**श्नान्नलोपः** से)। भावश्च करणञ्च भावकरणे, तयोः=भावकरणयोः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। नस्य लोपः—नलोपः। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(भावकरणयोः) भाव और करण अर्थों में (घञि) घञ् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (रञ्जेः) रञ्ज् के (नलोपः) नकार का लोप हो जाता है।[1]

रञ्ज् धातु में ञकार का मूल नकार ही है। इसे **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) द्वारा अनुस्वार हो कर परसवर्ण ञकार हुआ है[2]। उस नकार का यहां लोप विधान किया जा रहा है।

'रञ्ज्+अ' यहां घञ् प्रत्यय करणकारक में किया गया है अतः इस के परे रहते रन्ज् के नकार का लोप हो कर **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि तथा **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्व गकार करने पर 'राग' प्रातिपदिक बनता है। इस से प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाने पर 'रागः' प्रयोग सिद्ध होता है। रागो रञ्जनद्रव्यम्। अत्रार्थे आचार्यप्रयोगः—**तेन रक्तं रागात्** (१०३०) इति।

---

१. इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **रञ्जेश्च** (३.३.१८) सूत्रद्वारा शप् के परे होने पर रञ्ज् के नकार का लोप विधान किया जा चुका है -रजति, रजतः, रजन्ति। यहां पुनः अन्यत्र नकारलोप का विधान कर रहे हैं अतः सूत्र में 'च' का ग्रहण किया है।

२. **नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु** (देखें भैमीव्याख्या, भ्वा० पृ० २५०)।

इसी प्रकार भाव में भी इसी धातु से **भावे** (८५१) सूत्रद्वारा घञ् हो कर 'रागः' प्रयोग सिद्ध होगा। रञ्जनं रागः (रंगना या प्रेम रखना)।

रञ्ज् के नकार का लोप भाव या करणवाचक घञ् के परे होने पर ही होगा अन्य अर्थों में नहीं। यथा—रज्यति[1] अस्मिन् इति रङ्गः (जिस में मनुष्य अनुरक्त होता है अर्थात् नाटचशाला)। यहां पर **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) द्वारा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय किया गया है अतः नकार का लोप नहीं होता। रन्ज् +अ (घञ्) इस अवस्था में जकार को कुत्व—गकार हो कर अपदान्त नकार को **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अनुस्वार तथा अनुस्वार को **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से परसवर्ण ङकार हो जाता है—रङ्गः।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

प्रास्यन्ति तम्—प्रासः। जिस को फेंकते हैं उसे 'प्रास' (भाला) कहते हैं। यहां प्रपूर्वक 'असुँ क्षेपणे' (दिवा० प०) धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय हो कर उपधावृद्धि करने से—प्र+आस='प्रासः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आहरन्ति रसं यस्माद् इत्याहारः। जिस से प्राणी रस को प्राप्त करते हैं उसे 'आहार' (भोजन) कहते हैं। यहां आङ्पूर्वक 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उ०) धातु से अपादान कारक में घञ् प्रत्यय हो कर **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि करने पर —आ+हार='आहारः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रसीव्यन्ति तम् इति प्रसेवः। जिसे सीते हैं अर्थात् थैला। यहां प्रपूर्वक 'षिवुँ तन्तुसन्ताने' (दिवा० प०) धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय हो कर लघूपधगुण करने से 'प्रसेवः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रपतन्ति अस्माद् इति प्रपातः। जिस से गिरते हैं अर्थात् सीधी खड़ी चट्टान। यहां प्रपूर्वक 'पत्लृँ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से अपादान कारक में घञ् प्रत्यय होकर उपधावृद्धि हो जाती है। **प्रपातस्त्वतटो भृगुरित्यमरः।**

सूत्र में 'अकर्तरि' कहा गया है अतः कर्तृकारक में यह नहीं होता। यथा— बिभर्ति असाविति भर्ता। यहां कर्तृकारक में 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उ०) धातु से घञ् न हो कर **ण्वुल्तृचौ** (७८४) से तृच् करने पर आर्धधातुकगुण हो गया है।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) में यद्यपि 'संज्ञायाम्' कहा गया है तथापि सूत्र में 'च' ग्रहण के कारण कहीं कहीं सञ्ज्ञा के विना भी घञ् की प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—को भवता लाभो लब्धः (आप से क्या प्राप्ति की गई है?); को भवता दायो दत्तः (आप से क्या दातव्य दिया गया है?)। यहां 'लाभः' और 'दायः' में केवल कर्म में घञ् प्रत्यय किया गया है संज्ञा कोई नहीं है।

---

१. रज्यतीति दैवादिकरञ्ज्धातोर्लटि श्यनि **अनिदितां हल०** (३३४) इति नलोपे रूपम्। अथवा—कर्मकर्तरि प्रयोगः, **कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च** (३.१.९०) इति श्यन् परस्मैपदं च।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि घञ् प्रत्यय दो प्रकार का विधान किया गया है । एक भावघञ् जो **भावे** (८५१) सूत्र से विधान किया जाता है और दूसरा कारकघञ् जो **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) से । आगे के सूत्रों में इन दोनों **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति होगी । जहां जो सम्भव होगा वही लगेगा । अब 'चिञ् चयने' (स्वा० उ० अनिट्) धातु से चार विशेष अर्थों में घञ् का विधान बतलाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्-(८५४) निवास-चिति-शरीरोपसमाधाने-ष्वादेश्च कः ।३।३।४१॥

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानम्=राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

अर्थः—निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान—इन चार अर्थों में चिञ् धातु से परे घञ् प्रत्यय हो जाता है तथा धातु के आदि वर्ण के स्थान पर 'क्' आदेश भी हो जाता है, कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो ।

व्याख्या—निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु ।७।३। आदेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । कः ।१।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः) । चेः ।६।१। (**हस्तादाने चेरस्तेये** से) । घञ् ।१।१। (**पद-रुज-विश-स्पृशो घञ्** से) । **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । निवासश्च चितिश्च शरीरं च उपसमाधानञ्च निवासचितिशरीरोपसमाधानानि, तेषु=निवास-चिति-शरीरोप-समाधानेषु । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान—इन चार अर्थों में (चेः, धातोः) चिञ् धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (च) तथा (आदेः) धातु के आदि वर्ण के स्थान पर (कः) क् आदेश भी हो जाता है (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो ।

(१) निवास (निवसन्त्यत्रेति निवासः, अधिकरणे घञ्) । जहां रहते हैं उसे निवास कहते हैं । निवास अर्थ में उदाहरण यथा— निकायः (रहने का स्थान अर्थात् घर, ग्राम, नगर आदि) । यहां निपूर्वक 'चिञ् चयने' (स्वा० उ०) धातु से अनुबन्ध-लोप कर अधिकरण कारक में निवासस्थान वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि चकार को ककार आदेश हो कर—नि+कि+घञ् =नि+कि +अ । पुनः घञ् प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र से धातु के इकार को वृद्धि-ऐकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने से निकाय- - निकायः' प्रयोग सिद्ध होता है । निचीयन्ते संगृह्यन्ते धनधान्यादि अस्मि-न्निति निकायः । जिस में धन धान्य आदि वस्तुएं संगृहीत की जाती हैं उसे 'निकाय' कहते हैं । यह घर अर्थ में रूढ है—**गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय-निलयाऽऽलयाः** इत्यमरः ।[1]

---

१. **देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चाऽमितौजसः**—(मनु० १.३६) ।

(२) चिति। चीयत इति चितिः, कर्मणि क्तिन्। जिस का चयन किया जाता है अर्थात् यज्ञाग्निविशेष या उस का स्थानविशेष। चिति अर्थ में उदाहरण यथा—**आकायम् अग्निं चिन्वीत** (आकाय नामक अग्नि का चयन करे, अथवा—यज्ञाग्नि-विशेष के लिये आकाय नामक कुण्ड का चयन करे)। यहां आङ्पूर्वक चिञ् धातु से कर्म कारक या अधिकरण कारक की विवक्षा में चिति अर्थ में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि चकार को ककार हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आयादेश करने से द्वितीया के एकवचन में 'आकायम्' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1]

(३) शरीर अर्थ में उदाहरण यथा—कायः। चीयतेऽस्मिन् अस्थ्यादिकम् इति कायः, अथवा—चीयतेऽन्नादिभक्षितेनेति कायः। यहां पर चिञ् धातु से अधिकरण या कर्म कारक में शरीर वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् तथा धातु के आदि वर्ण चकार को ककार आदेश हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आय् आदेश करने से 'कायः' प्रयोग सिद्ध होता है। **अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः** —(हितोप० २.१३२)।

(४) उपसमाधान (ढेर लगाना, एकत्र करना, इकट्ठा करना) अर्थ में उदाहरण यथा—गोमयनिकायः (गोबर का ढेर)। यहां पर निपूर्वक चिञ् धातु से कर्म कारक में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि वर्ण चकार को ककार आदेश हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आय् आदेश करने से 'निकायः' (ढेर) प्रयोग सिद्ध होता है। निचीयते=राशीक्रियत इति निकायः। गोमयानां निकायः—गोमयनिकायः, षष्ठी-तत्पुरुषः (इसी प्रकार काष्ठनिकायः आदि[2])।

---

१. **आकायमग्निं चिन्वीत** इस वचन का मूल उपलब्ध नहीं है। यह किसी श्रौतसूत्र का वचन प्रतीत होता है। भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा नागेशभट्ट आदियों ने इसे श्रुतिवचन कहा है। प्राचीन-नवीन सब वृत्तिकारों ने सूत्रगत 'चिति' का यही उदाहरण दर्शाया है, किसी को कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिला। पाणिनीतरव्याकरणों के व्याख्याकार भी इसी मूर्धाभिषिक्त उदाहरण का निर्देश करते हैं। मूलग्रन्थ के उपलब्ध न होने से इस वचन का ठीक-ठीक तात्पर्य समझा नहीं जा सकता। भट्टोजिदीक्षित के प्रौढमनोरमागत वचनों का अनुसरण करते हुए तत्त्व-बोधिनीकार इस का आशय इस प्रकार व्यक्त करते हैं आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इत्याकायम्, अधिकरणे घञ्। अग्निम्=अग्निस्थानविशेषं चिन्वीत चयेन निष्पादयेदिति श्रुत्यर्थः। परन्तु बालमनोरमाकार 'आकायम्' में 'कर्मणि घञ्' मानते हैं। इस पक्ष में यज्ञीय अग्निविशेष का नाम 'आकाय' पाना जाता है और तब वाक्य का अर्थ होता है—यज्ञियाग्निविशेषं चयेन सम्पादयेदिति। अर्थात् आकायनामक अग्निविशेष का चयन करे। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अनुशासन की बृहद्वृत्ति में दोनों अर्थ दर्शाए हैं।

२. नागेशभट्ट 'गोमयनिकायः' आदियों में भाव में घञ् मानते हैं—निचयनं निकायः। यह भी सम्भव है क्योंकि इन सूत्रों में भावे का भी यथासम्भव योग हो सकता है यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है।

अब घञ् के अपवाद अच् प्रत्यय का विधान करते हैं --

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५५) एरच् ।३।३।५६॥

इवर्णान्तादच् । चयः । जयः ॥

अर्थः—इवर्णान्त धातु से परे अच् प्रत्यय हो भाव में अथवा कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो।

व्याख्या—एः ।५।१। अच् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । भावे तथा अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् का पीछे से अनुवर्त्तन हो रहा है । 'एः' यह 'धातोः' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्ताद् धातोः' बन जाता है । अर्थः—(एः=इवर्णान्तात्) इवर्ण जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अच्) अच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव अर्थ में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो।

यह प्रत्यय भावे (८५१) तथा अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) सूत्रों द्वारा प्राप्त घञ् प्रत्यय का अपवाद है। अच् में अन्त्य चकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध इसी प्रत्यय को विशिष्ट करने के लिये जोड़ा गया है अन्यथा थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (६.२.१४४) आदि सूत्रों में अ प्रत्ययात् (८६७) द्वारा विहित 'अ' प्रत्यय का भी ग्रहण हो जाता। उदाहरण यथा—

चयः (चयनं चयः, चुनना, संग्रह करना, बटोरना) । 'चिञ् चयने' (स्वादि० उ०) धातु इवर्णान्त है । यहां भाव में भावे (८५१) सूत्र द्वारा घञ् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से अच् प्रत्यय हो जाता है—चि+अच्=चि+अ । अब अच् की आर्धधातुकसंज्ञा (४०४) हो कर सार्वधातुकार्धधातुकयोः (३८८) से इकार को एकार गुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से उसे अय् आदेश करने से —चय= 'चयः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं[1] ।

जयः (जयनं जयः, जीतना, जीत, विजय) । यहां 'जि जये' (भ्वा० प०)

ध्यान रहे कि ढेर प्रायः जड़ वस्तुओं का ही होता है अतः प्राणियों का ढेर (सङ्घ) यहां उदाहर्तव्य नहीं। प्राणियों के समूह अर्थ में सङ्घे चाऽनौत्तराधर्ये (३.३.४२) सूत्र से पृथक् घञ् तथा कुत्व विधान किया गया है—ब्राह्मणनिकायः, भिक्षुनिकायः, वैयाकरणनिकायः । औत्तराधर्य (ऊपर नीचे होना) में घञ् निषिद्ध है। यथा—शूकरनिचयः । माता का दूध पीते समय सूअर शिशु ऊपर नीचे अवस्थित हो कर प्रायः संघ बनाते हैं अतः यहां घञ् न हो कर (एरच् ८५५) से अच् प्रत्यय होता है।

1. घाजन्तश्च (लिङ्गानु० २.३) । घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। घ—दन्तच्छदः, आकरः (८७२) । अच्—चयः, जयः, क्रयः, क्षयः ।

धातु से भाव में अच् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् आर्धधातुकगुण तथा अयादेश कर विभक्ति लाने से 'जयः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'वि' उपसर्ग लगाने से 'विजयः'।

इसी प्रकार 'क्षि क्षये' (भ्वा० प०) धातु से भाव में अच् हो कर—क्षयः (नाश)। 'इण् गतौ' (अदा० प०) धातु से भाव में अच् हो कर—अयः (गमन), उदयः, अभ्युदयः (उन्नति)। आङ्पूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उ०) से भाव में अच् हो कर - आश्रयणम् आश्रयः। 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या० उ०) से भाव में अच् हो कर—क्रयणं क्रयः (खरीदना), विक्रयः (बेचना)। 'ली' से भाव में—लयः (लीन होना)।

कर्तृभिन्न कारकों में उदाहरण यथा— 'क्षि निवासगत्योः' (तुदा० प०) धातु से अधिकरण कारक में अच् हो कर —क्षियति निवसत्यस्मिन्निति क्षयः (गृह, घर)। 'जि जये' (भ्वा० प०) धातु से करण कारक में अच् हो कर—जयत्यनेन संसारम् इति जयः (महाभारत[1])। जय इत्यश्वस्यापि नामधेयम्। अत्रापि करणेऽच्। **जयः करणम्** (६.१.१९६) इति सूत्रमत्र मानम्। आङ्पूर्वक श्रि से कर्म में अच् हो कर—आश्री-यत इत्याश्रयः (आधार)। आश्रयम् (आधारं काष्ठम्) अश्नातीति आश्रयाशः (अग्नि), **कर्मण्यण्** (७९०) इत्यण्। उद्पूर्वक चि से कर्म में अच् हो कर—उच्चीयत इत्युच्चयः। शिलानामुच्चयोऽत्रेति शिलोच्चयः (पर्वत, पहाड़; **शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान्** इति हेमचन्द्रः)।

अब घञ् के दूसरे अपवाद अप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५६) **ऋदोरप्** ।३।३।५७॥

ऋदन्तादुवर्णान्तादप्। करः। गरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः॥

अर्थः—ऋदन्त तथा उवर्णान्त धातु से परे अप् प्रत्यय हो जाता है भाव में अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो।

व्याख्या—ऋदोः ।५।१। अप् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब सूत्र पीछे से अधिकृत हैं। ऋच्च उश्च ऋदु, तस्माद् ऋदोः[2]। समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रं पुंस्त्वम्। 'ऋदु' में तपर नहीं है उच्चारणार्थ दकार लगा हुआ है। अतः 'तात् परः=तपरः' के अनुसार 'उ' से केवल उदन्तों का ग्रहण न हो कर उवर्णान्त मात्रों का ग्रहण होगा[3]। अर्थः—(ऋदोः) ऋदन्त तथा उवर्णान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (अप्) अप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो।

घञबन्तः (लिङ्गानु० २.३ के अनुसार अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

१. **नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्**॥ (महाभारतादौ)

२. ऋदोरिति पञ्चम्यर्थे षष्ठीति व्याचक्षाणा बालमनोरमाकारा अत्र भ्रान्ताः।

३. इस से पू, लू आदि ऊदन्त धातुओं से भी अप् प्रत्यय हो कर पवः, लवः आदि सिद्ध हो जाते हैं।

अप् प्रत्यय का पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'अ' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) के अनुसार अनुदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

करणं करः (बखेरना, फैलाना)। कॄ विक्षेपे (तुदा० प०) धातु ॠदन्त है। इस से भाव में **भावे** (८५१) सूत्रद्वारा घञ् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृत-सूत्र से अप् प्रत्यय हो कर—कॄ+अप्=कॄ+अ। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से ॠकार को गुण-रपर अर् हो कर विभक्ति लाने से 'करः' प्रयोग सिद्ध होता है। कीर्यतेऽनेनेति करः —इस अर्थ में करण में अप् प्रत्यय हो जायेगा। जिस के द्वारा बीज आदि को बखेरते या फैलाते हैं अर्थात् हाथ; अथवा—हाथी जिस के द्वारा जल अपने ऊपर बखेरता या डालता है अर्थात् सूंड। कीर्यत इति करः (किरण, ओला, टैक्स)। कर्म में प्रत्यय मानने से ये सब सिद्ध होते हैं।

गरणं गरः (निगलना)। गॄ निगरणे (तुदा० प०) धातु ॠदन्त है। इस से भाव में प्रकृतसूत्रद्वारा अप् प्रत्यय हो कर गुण करने से 'गरः' प्रयोग सिद्ध होता है। गीर्यत इति गरः (विष)—इस अर्थ में कर्म में अप् जानना चाहिये[1]।

यवनं यवः (मिलाना या जुदा करना)। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (अदा० प०) धातु उवर्णान्त है। अतः इस से भाव में प्रकृतसूत्रद्वारा अप् प्रत्यय, आर्धधातुकगुण[2] तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अवादेश कर विभक्ति लाने से 'यवः' प्रयोग सिद्ध होता है। यूयते पृथक्क्रियते तुषेभ्य इति यवः (जौ)। इस अर्थ में कर्म में अप् प्रत्यय हो जाता है।

लवनं लवः (काटना, छेदन करना)। लूञ् छेदने (क्र्या० उ०) धातु उवर्णान्त है अतः इस से पूर्ववत् भाव में अप् प्रत्यय ला कर गुण और अवादेश करने पर 'लवः' प्रयोग सिद्ध होता है। लूयते छिद्यते समुदायाद् इति लवः (स्वल्पांश)—इस अर्थ में कर्म में अप् प्रत्यय जानना चाहिये।

स्तवनं स्तवः (स्तुति, तारीफ़)। 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा० उ०) धातु के आदि षकार को **धात्वादेः षः सः** (२५५) से सकार हो जाता है। **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार ष्टुत्व से टकार बने हुए तकार को भी पुनः तकार हो जाता है। इस प्रकार 'स्तु' यह धातु उवर्णान्त है। इस से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में अप् प्रत्यय कर

---

१. गरं (विषम्) ददातीति—गरदः। **आतोऽनुपसर्गे कः** (३.२.३) इति कः प्रत्ययः। **किं कुर्मः कं प्रति ब्रूमो गरदायां स्वमातरि** [उद्भट (आप्टेकोषे)]

२. यु+अ(अप्) इत्यादि स्थानों पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (७७७) से तुक् का आगम तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु **वार्णादाङ्गं बलीयः** (वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होता है) परिभाषा के अनुसार अङ्गकार्य गुण हो जाता है वर्णसम्बन्धी कार्य तुक् नहीं होता।

पूर्ववत् गुण और अवादेश करने से 'स्तवः' प्रयोग सिद्ध होता है। स्तूयतेऽनेनेति स्तवः (स्तोत्र)। इस अर्थ में करण में अप् प्रत्यय जानना चाहिये।

पवनं पवः (पवित्र करना)। पूञ् पवने (क्र्या० उ०) धातु उवर्णान्त है। अतः प्रकृतसूत्र से भाव में अप् हो कर पूर्ववत् गुण और ओकार को अवादेश करने से 'पवः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०) से करण में शृणाति शीर्यते वाऽनेनेति शरः (बाण); णु स्तुतौ (अदा० प०) से कर्म में--नूयते (स्तूयते) इति नवः (नवीन, नया); प्रपूर्वक इसी णु (नु) से करण में --प्रणूयते प्रकर्षेण स्तूयतेऽनेनेति प्रणवः(ओंकार); विपूर्वक स्तॄञ् आच्छादने(क्र्या० उ०) से कर्म में—विस्तीर्यते इति विष्टरः (आसन) [**वृक्षासनयोर्विष्टरः**(८.३.९३) इति षत्वम्]; तॄ प्लवनसन्तरणयोः (भ्वा० प०) से भाव में—तरणं तरः (पार करना); भू सत्तायाम् (भ्वा० प०) से भाव में- --भवनं भवः (होना) आदि अप्प्रत्ययान्त शब्द सिद्ध होते हैं।

अब अग्रिम वार्त्तिकद्वारा घञर्थक 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं --

[लघु०] वा०—(४९) घञर्थे कविधानम् ॥

प्रस्थः। विघ्नः॥

अर्थः—जिस अर्थ में घञ् का विधान है उस अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान कहना चाहिये।

व्याख्या— घञर्थे ।७।१। कविधानम् ।१।१। कस्य विधानम्—कविधानम्। घञोऽर्थः—घञर्थस्तस्मिन् घञर्थे। षष्ठीतत्पुरुष। यह वार्त्तिक **ग्रह-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च** (३.३.५८) सूत्र पर भाष्य में इस प्रकार पढ़ा गया है- **घञर्थे कविधानं स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि-युध्यर्थम्** अर्थात् घञ् के अर्थ में स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन् और युध् धातुओं से परे 'क' प्रत्यय का विधान करना चाहिये। घञ् प्रत्यय के पीछे दो अर्थ बताए गये हैं—भाव और संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक। इन अर्थों में स्था आदि धातुओं से परे प्रकृतवार्त्तिकद्वारा 'क' प्रत्यय विधान किया जाता है। 'क' प्रत्यय का आदि ककार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध **आतो लोप इटि च** (४८९) द्वारा आकारलोप तथा **गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि** (५०५) द्वारा उपधालोप करने के लिये जोडा गया है। व्यध् में सम्प्रसारणकार्य भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानि इति प्रस्थः। जिस में सब धान्य आदि प्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् एक मान विशेष।[1] यहां प्रपूर्वक 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा० प०) धातु

---

१. आयुर्वेद में प्रचलित मागधमान के अनुसार आधुनिक ६४ तोले परिमाण जितना एक प्रस्थ माना जाता है—**माष-टङ्काऽक्ष-बिल्वानि कुडवं प्रस्थम् आढकम्। राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणम्** (भावप्रकाश परिभाषा० १९)। ध्यान रहे कि मागध मान में छः रत्ती का एक माषा मान कर गणना की जाती है--- **षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ** (वही, परिभाषा० ६)।

से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर धातु के आदि षकार को सकार तथा ष्टुत्व से बने हुए ठकार को भी पुनः थकार करने से—प्र+स्था+अ। अब **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का लोप कर विभक्ति लाने पर 'प्रस्थः' प्रयोग सिद्ध होता है। पर्वत के ऊपर समतलभूमि को भी प्रस्थ कहते हैं—प्रतिष्ठन्ते चलन्ति गतागतं कुर्वन्त्यत्रेति प्रस्थः।

प्रस्नान्ति अस्मिन्निति प्रस्नः। जिस में स्नान करते हैं। पानी से भरा स्नानार्थ टब आदि। यहां पर प्रपूर्वक 'ष्णा शौचे' (अदा० प०) धातु से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर धातु के षकार को सकार तथा ष्टुत्व हुए णकार को भी पुनः नकार करने पर पूर्ववत् आकार का लोप हो जाता है—प्रस्न्+अ = प्रस्नः।

प्रपिबन्ति जलमस्याम् इति प्रपा। **प्रपा पानीयशालिका** इत्यमरः। जहां लोग जल पीते हैं अर्थात् प्याऊ। यहां प्रपूर्वक 'पा पाने' (भ्वा० प०) धातु से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में क प्रत्यय हो कर पूर्ववत् आकार का लोप हो जाता है—प्रप्+अ=प्रप। इस शब्द के स्त्रीलिङ्गी होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'प्रपा' प्रयोग सिद्ध होता है।

आविध्यन्त्यनेनेत्याविधः। जिस से बढ़ई आदि छेद करते हैं—बर्मा आदि। यहां आङ्पूर्वक 'व्यध ताडने' (दिवा० प०) धातु से संज्ञाविषयक करण में प्रकृतवार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर कित् के परे रहते **ग्रहिज्यावयिव्यधि०** (६३४) से यकार को सम्प्रसारण इकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप कर विभक्ति लाने से 'आविधः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विहन्यन्तेऽस्मिन्निति विघ्नः। जिस में कर्ता रुक जाते हैं अर्थात् रुकावट, अन्तराय या विघ्न। यहां विपूर्वक 'हन हिंसागत्योः' (अदा० प०) धातु से संज्ञा के विषय में अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से क प्रत्यय कर—विहन्+अ। अब कित् के परे रहते **गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि** (५०५) द्वारा उपधालोप तथा **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** (२८७) से हकार को कुत्वेन घकार कर विभक्ति लाने से 'विघ्नः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम्। जिस के द्वारा युद्ध करते हैं अर्थात् युद्ध का साधन, हथियार। यहां आङ्पूर्वक 'युधँ सम्प्रहारे' (दिवा० आ०) धातु से करण कारक में क प्रत्यय कर विभक्ति लाने से 'आयुधम्' प्रयोग सिद्ध होता है। आयुध शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

इन के अतिरिक्त भी कई स्थानों पर 'क' प्रत्यय देखा जाता है।[1] अतः वार्त्तिक-

१. यथा—उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यत इत्युपाख्यः (देखें काशिकापदमञ्जरी ६.३.८०), आध्यायन्ति तम् इत्याढ्यः, पृषोदरादित्वाद् धस्य ढः (देखें हैम० ५.३.८२) इत्यादि।

कार का स्था आदि धातुओं का निर्देश उपलक्षणार्थ माना जाता है। सम्भवतः कौमुदीकार ने यही समझते हुए वार्त्तिक में धातुओं का निर्देश नहीं किया।

अब भाव में क्त्रि प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(८५७) ड्वितः क्त्रिः ।३।३।८८॥**

अर्थः—जिस धातु का 'डु' इत् हो उस धातु से परे भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है।

व्याख्या—ड्वितः ।५।१। क्त्रिः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। पीछे से **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** आ रहे हैं परन्तु क्त्रिप्रत्ययान्त लोक में केवल भाव में ही देखे जाते है अतः यहां **भावे** ही सम्बद्ध होता है, **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** नहीं। डु इद् यस्य स ड्वित्, तस्मात् = ड्वितः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(ड्वितः) जिस का 'डु' इत् हो ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्रिः) क्त्रि (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में।

डुपचँष् पाके (भ्वा० उ०), डुवपँ बीजसन्ताने (भ्वा० उ०), डुकृञ् करणे (तना० उ०) आदि धातुओं के आदि डु की **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) से इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है अतः ये धातुएं ड्वित् कही जाती हैं।

क्त्रि प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक है अतः उस का लोप होकर 'त्रि' मात्र शेष रहता है। अन्त्य इकार अनुनासिक न होने से इत्संज्ञक नहीं होता। ककार अनुबन्ध गुणनिषेध तथा सम्प्रसारण आदि विविध कार्यों के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

डुपचँष् पाके (भ्वा० उ०)। पच् धातु का डु इत् होता है अतः इस धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से क्त्रि प्रत्यय हो कर ककार के चले जाने पर—पच्+त्रि। झल् परे होने के कारण **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा चकार को ककार आदेश हो कर पक्+त्रि = पक्त्रि (पकाना, पाक) बनता है। इस शब्द का प्रयोग स्वतन्त्रतया कहीं नहीं होता अपितु दूसरे शब्दों (मप्प्रत्ययान्तों) के बनाने में इस का उपयोग किया जाता है। इसी बात को व्यक्त करने के लिये अग्रिमसूत्रद्वारा तद्धित मप् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(८५८) क्त्रेर्मम् नित्यम्**[1] ।४।४।२०॥

क्त्रिप्रत्ययान्ताद् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तम्—पक्त्रिमम्। डुवपँ—उप्त्रिमम्॥

---

१. इस सूत्र का प्राचीन बहुप्रचलित पाठ **त्रेर्मम् नित्यम्** ही है। काशिकाकार, न्यासकार, पदमञ्जरीकार, भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रस्वामी, नागेशभट्ट आदि सब इसी पाठ के ही समर्थक हैं। लघुकौमुदीस्थ उपरिनिर्दिष्ट ककारयुक्त पाठ निर्भ्रामक और सरल होने से वरदराज द्वारा गृहीत प्रतीत होता है।

सूत्र में मप्+नित्यम् = मब्+नित्यम् मम्+नित्यम्—यहां पकार को जश्त्वेन बकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) के नियमानुसार अनुनासिक मकार हुआ है।

अर्थः क्त्रिप्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे शब्द से परे मप् प्रत्यय हो जाता है निर्वृत्त=सिद्ध—उत्पन्न हुए अर्थ में।

व्याख्या—क्त्रेः ।५।१। मप् ।१।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् । निर्वृत्ते ।७।१। (**निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः** से) । तेन ।३।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः**—आदि अधिकृत हैं। 'क्त्रेः' में क्त्रि प्रत्यय का ग्रहण है अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा के अनुसार क्त्रिप्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है। अर्थः—(क्त्रेः) क्त्रिप्रत्यय जिस के अन्त में है तत्प्रकृतिक (**तेन निर्वृत्तम्** इति विषये) तृतीयान्त समर्थ से परे 'सिद्ध हुआ =बना हुआ' अर्थ में (नित्यम्) नित्य (मप्) मप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है। मप् में पकार इत्संज्ञक है अतः 'म' ही शेष रहता है। पकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। 'नित्यम्' कहने से क्त्रिप्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग सदा मप्प्रत्यय लगा कर ही उपर्युक्त अर्थ मे किया जायेगा स्वतन्त्रतया नहीं[1]। अतः लौकिक विग्रहवाक्य में भी हम क्त्रिप्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं कर सकते, वहां पर भी किसी अन्य भावप्रत्ययान्त पर्याय से काम चलाना होगा।

'निर्वृत्त' का अर्थ है सिद्ध हुआ—उत्पन्न हुआ रचा गया—बनाया गया आदि। सूत्र के उदाहरण यथा—

पाकेन निर्वृत्तम्—पक्त्रिमम्। यहां पर अलौकिक विग्रह में तृतीयान्त 'पक्त्रि' शब्द से निर्वृत्त (निष्पन्न) अर्थ में प्रकृतसूत्र से मप् प्रत्यय हो कर—पक्त्रि टा+मप् ='पक्त्रि टा+म' हुआ। मप् प्रत्यय **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से 'पक्त्रि टा+म' इस सम्पूर्ण तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। पुनः **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् हो जाता है—पक्त्रिम। अब प्रातिपदिकत्वात् समुदाय से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ विभक्ति लाने पर नपुंसक की विवक्षा मे सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'पक्त्रिमम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—पाक से बना हुआ। 'पक्त्रिमम्' में 'पक्त्रि' इस पूर्वसाधित भावप्रत्ययान्त शब्द से मप् प्रत्यय किया गया है परन्तु लौकिकविग्रह में 'पक्त्रि' शब्द को न रख कर उस का पर्याय 'पाक' शब्द रखा गया है। यहां यह ध्यातव्य है कि इस प्रकार बने मप्प्रत्ययान्त शब्द विशेषण होते हैं और वे विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—पक्त्रिमं तैलम्, पक्त्रिमा यवागूः, पक्त्रिमो रसः।

इसी प्रकार 'डुवपँ बीजसन्ताने' (भ्वा० उ०; बोना, गर्भाधान करना, काटना)। यहां वप् धातु से भाव में **ड्वितः क्त्रिः** (८५७) सूत्र से क्त्रि प्रत्यय आ कर ककार अनुबन्ध के चले जाने पर **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** (५४७) सूत्रद्वारा धातु के

---

१. त्र्यन्तं मब्विषयमेव यथा स्यात् केवलस्य प्रयोगो मा भूत् —महाभाष्य।

वकार को सम्प्रसारण उकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'उप्त्रि' शब्द बनता है । अब अलौकिकविग्रह में तृतीयान्त इस 'उप्त्रि' शब्द से **तेन निर्वृत्तम्** के अर्थ में प्रकृतसूत्र से मप् प्रत्यय हो कर—'उप्त्रि टा+म' हुआ । पुनः पूर्ववत् तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने से 'उप्त्रिम'। विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर –उप्त्रिमः, उप्त्रिमा, उप्त्रिमम् आदि सिद्ध होते हैं । वपनेन निर्वृत्तम् उप्त्रिमम् (बोने या काटने से सिद्ध—उत्पन्न)[१] ।

इन सूत्रों के कुछ अन्य उदाहरण यथा -

(१) डुकृञ् करणे (तना० उ०)—कृत्रिमम् (कृत्या निर्वृत्तम्; बनावटी, कित्वाद् गुणाभावः) ।

(२) डुलभँष् प्राप्तौ (भ्वा० आ०) लब्ध्रिमम्[२] (लाभेन निर्वृत्तम्; प्राप्ति से उत्पन्न) ।

(३) डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या० उ०)—क्रीत्रिमम् (क्रयेण निर्वृत्तम्; खरीदने से उत्पन्न) ।

वि √ क्री -विक्रीत्रिमम् (विक्रयेण निर्वृत्तम्; बेचने से उत्पन्न) ।

(४) डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उ०)—भृत्रिमम् (भरणेन निर्वृत्तम्; धारण करने से उत्पन्न) ।

(५) डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)—मित्रिमम् (प्रक्षेपेण निर्वृत्तम्; फेंकने से सिद्ध) ।

(६) डुदाञ् दाने (जुहो० उ०) —दत्त्रिमम्[३] (दानेन निर्वृत्तम्; देने से उत्पन्न) ।

(७) डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उ०) –हित्रिमम्[४] (धारणेन निर्वृत्तम्; धारण करने से सिद्ध) ।

वि √ धा —विहित्रिमम् (विधानेन निर्वृत्तम्; विधान से उत्पन्न) ।

नोट—पाणिनीयधातुपाठ में केवल नौ धातु ही ड्वित् हैं —

ददातिश्च दधातिश्च मिनोतिर्लभिरित्यपि ।
क्रीणातिश्च करोतिश्च बिभर्त्यथ पचिर्वपिः ॥१॥

---

१. **असंस्कृत्रिमसंव्यानावनुप्त्रिमफलाशिनौ ।**
अभृत्रिमपरीवारौ पर्यभूतां तथापि माम् ॥ (भट्टि० ४.३७)

शूर्पणखा अपने भाई खर और दूषण से कह रही है—बुनने के बिना सिद्ध संव्यान उत्तरीय को धारण करने वाले, बिना जुताई से उत्पन्न फलों को खाने वाले, भरणसिद्ध परिवारों से हीन इन दो तपस्वियों (राम लक्ष्मण) ने मेरी यह दशा कर दी है ।

२. **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश्झशि** (१९) इति जश्त्वम् ।

३. **दो दद् घोः** (८२७) इति दद् आदेशः ।

४. **दधातेर्हिः** (८२६) इति दधातेर्हिरादेशः ।

अथुच्

पाणिनीये महातन्त्रे नवैते धातवो ट्वितः ।
प्रत्ययः स्त्रिर्भवेद्भावे निर्वृत्ते मप् ततः स्मृतः ॥२॥

अब भाव में अथुच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५९) ट्वितोऽथुच् ।३।३।८९॥

टुवेपृँ कम्पने वेपथुः ॥

अर्थः—जिस धातु का 'टु' इत् हो उस धातु से भाव में अथुच् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—ट्वितः ।५।१। अथुच् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। पीछे से **भावे** तथा **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** दोनों आ रहे हैं परन्तु लोक में अथुच्प्रत्ययान्तों का प्रयोग केवल भाव में ही देखा जाता है अतः यहां **भावे** ही सम्बद्ध होता है। टु इद् यस्य स ट्वित्, तस्मात् =ट्वितः, बहुव्रीहिसमासः। **अर्थः**—(ट्वितः) जिस का टु इत् है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अथुच्) **अथुच्** (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में। **अथुच्** का अन्त्य चकार इत् है अतः 'अथु' ही अवशिष्ट रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) स्वर के लिये जोड़ा गया है।

टुवेपृँ कम्पने (भ्वा० आ०), टुयाचृँ याच्ञायाम् (भ्वा० उ०), टुओँश्वि गतिवृद्धयोः (भ्वा० प०) आदि धातुओं के आदि में स्थित 'टु' की **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) से इत्संज्ञा होती है अतः ये धातु टु+इत्=**ट्वित्** कहलाते हैं।

उदाहरण यथा—टुवेपृँ कम्पने (भ्वा० प०) धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से अथुच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से—वेप्+अथु='वेपथुः' प्रयोग सिद्ध होता है। वेपनं वेपथुः (कांपना)[1]। ध्यातव्य है कि अथुच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। कुछ अन्य उदाहरण यथा —

(१) टुनदिँ समृद्धौ (भ्वा० प०) —नन्द्+अथुच्=नन्दथुः (प्रसन्नता, आनन्द)।

(२) टुदु उपतापे (स्वा० प०; सताना)—दु+अथुच्=दो+अथु=दवथुः (परिताप)।

(३) टुवमुँ उद्गिरणे (वमन करना; भ्वा० प०)—वम्+अथुच्=वमथुः (वमन)।

(४) टुभ्राजृँ दीप्तौ (चमकना; भ्वा० आ०)—भ्राज्+अथुच्=भ्राजथुः (शोभा)।

(५) टुमस्जोँ शुद्धौ (तुदा० प०) मस्ज्+अथुच्=मज्जथुः (स्नान)[2]।

(६) टुओँश्वि गतिवृद्धयोः (भ्वा० प०)—श्वि+अथुच्=श्वे+अथु=श्वयथुः (सूजन)।

---

१. **वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते** (गीता १.२९)।

२. यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के कारण मकार को शकार तथा **झलां जश्झशि** (१९) से शकार को जकार हो जाता है।

नङ्

(७) टुयाचृँ याच्ञायाम् (भ्वा० उ०)—याच्+अथुच् = याचथुः (मांगना)।

(८) टुओँस्फूर्जाँ वज्रनिर्घोषे (भ्वा० प०)—स्फूर्ज्+अथुच् = स्फूर्जथुः (वज्रनिर्घोष)।

प्रयोग यथा— **केचिद् वेपथुमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम् ।**

सरक्तं वमथुं केचिद् भ्राजथुं न च केचन ॥ (भट्टि० ४.४३)

[राम-लक्ष्मण को युद्ध में देखते हुए खर-दूषण की सेना में कई राक्षस तो कांपने लगे, कई महापरिताप को प्राप्त हो गये। कुछ सरक्त वमन करने लगे। शोभा तो किसी की भी न थी]।

अब नङ्प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६०) यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् ।३।३।९०॥

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ॥

अर्थः—यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातु से परे नङ् प्रत्यय होता है भाव में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में ।

व्याख्या—यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षः ।५।१। नङ् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। भावे और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। यजश्च याचश्च यतश्च विच्छश्च प्रच्छश्च रक्ष् चेति समाहारद्वन्द्वः । तस्मात् यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षः। यजादिष्वकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(यज—रक्षः) यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् (धातोः) धातु से (परः) परे (नङ्) नङ् प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) या संज्ञा का विषय होने पर कर्तृभिन्न कारक में ।

नङ् का अन्त्य ङकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'न' मात्र शेष रहता है। ङकार अनुबन्ध **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) आदि कार्यों तथा 'विश्नः' में लघूपधगुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है। 'याच्ञा' को छोड़ नङ्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते है जैसाकि लिङ्गानुशासन मे कहा गया है—**नङन्तः** (लिङ्गानु० ३९) नङन्त शब्द पुंलिङ्ग होता है। **याच्ञा स्त्रियाम्** (लिङ्गानु० ४०) याच्ञा शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

यज्ञः (यजन यज्ञः, देवपूजा, याग)। यजँ देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वा० उ०)। यज् धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर—यज्+न। धातु के अनिट् होने से इडागम नहीं होता। अब **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के कारण नकार को ञकार हो कर 'ज्+ञ' के स्थान पर लिपिज संकेत 'ज्ञ' लिखने से—यज्ञ। पुनः कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन की विवक्षा मे सुँ प्रत्यय आ कर रामशब्दवत् प्रक्रिया करने से 'यज्ञः' प्रयोग सिद्ध होता है। इज्यते इति यज्ञः, इस प्रकार कर्म मे भी क्वचित् नङ् प्रत्यय माना जाता है अत एव सूत्रार्थ में **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** का सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है।

याच्ञा (याचनं याच्ञा, मांगना)। **टुयाचृँ याच्ञायाम्** (भ्वा० उ०)। **याच्** धातु से पूर्ववत् भाव में नङ् प्रत्यय और श्चुत्व हो कर—याच्+ञ। स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप और सवर्णदीर्घ करने से—याच्ञा। अब प्रातिपदिक संज्ञा के कारण सुँ विभक्ति आ कर रमाशब्दवत् सुँलोप कर 'याच्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। ध्यान रहे कि याच् धातु सेट् है इस से परे नङ् को इट् का आगम प्राप्त था पर **नेड् वशि कृति** (८००) से उस का निषेध हो जाता है। इसी तरह आगे 'यत्नः' आदियों में भी यथासम्भव समझना चाहिये।

यत्नः (यतनं यत्नः, कोशिश)। यतीँ प्रयत्ने (भ्वा० आ०)। यत् धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से नङ् प्रत्यय हो कर विभक्ति कार्य करने से 'यत्नः' प्रयोग सिद्ध होता है। **यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः** (पञ्च० १.३६२)।

विश्नः (विच्छनं विश्नः, गति या चमक)। विच्छ गतौ (तुदा० प०)। **विच्छ्** धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर[2]—विच्छ्+न। विच्छ् धातु सेट् है, इस से परे इट् आगम प्राप्त होता है परन्तु **नेड् वशि कृति** (८००) से उस का निषेध हो जाता है। अब झलादि ङित् के परे रहते **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) से सतुँक् छकार (च्छ्) को शकार आदेश हो कर—विश्+न=विश्न। यहां पर प्राप्त लघूपधगुण का **क्क्ङिति च** (४३३) से तथा **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से प्राप्त श्चुत्व का **शात्** (६३) सूत्र से निषेध हो जाता है। अब प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति हो कर प्रथमैकवचन में 'विश्नः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

प्रश्नः (प्रच्छनं प्रश्नः, पूछना)। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तुदा० प०)। प्रच्छ् धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से नङ् प्रत्यय हो कर धातु के अनिट् होने से इट् आगम प्राप्त ही नहीं होता। अब **च्छ्वो शूडनुनासिके च** (८४३) से सतुँक् छकार (च्छ्) को शकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'प्रश्नः' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि नङ् के ङित्त्व के कारण यहां **ग्रहिज्यावयि०** (६३४) से सम्प्रसारण प्राप्त होता था परन्तु **प्रश्ने चासन्नकाले** (३.२.११७) आदि आचार्य के निर्देशों से वह नहीं होता। श्चुत्व का निषेध **शात्** (६३) सूत्रद्वारा पूर्ववत् समझना चाहिये।

रक्ष्णः (रक्षणं रक्ष्णः; रक्षा, बचाव)। रक्ष पालने (भ्वा० प०)। रक्ष् धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् इडागम का निषेध तथा नकार

---

१. **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा** —(मेघदूत ६)
[उच्च पुरुष के आगे की गई निष्फल हुई भी प्रार्थना अच्छी है परन्तु नीच व्यक्ति से की गई सफल प्रार्थना भी अच्छी नहीं]।

२. यद्यपि **आयादय आर्धधातुके वा** (४६६) के अनुसार आर्धधातुक की विवक्षा में **गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७) सूत्र द्वारा विच्छ् से परे 'आय' का वैकल्पिक विधान है तथापि यहां प्रकृत में आयप्रत्ययान्त विच्छ् से नङ् का विधान नहीं किया गया अपितु 'विच्छ्' से ही नङ् कहा गया है। अत. आयाभाव में ही विच्छ् से नङ् होगा 'विच्छाय' से नहीं।

के स्थान पर **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से णत्व करने पर विभक्ति लाने से 'रक्ष्णः' प्रयोग सिद्ध होता है। **रक्ष्णस्त्राणे**—इत्यमरः। **रक्ष्णं करोषि कस्मात्त्वम्** (भट्टि० ७.६६)।

अब 'स्वप्नः' की सिद्धि के लिये 'नन्' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६१) स्वपो नन् ।३।३।९१॥**

स्वप्नः ॥

अर्थः—स्वप् (सोना या शयन करना) धातु से परे भाव में तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में नन् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्वपः ।५।१। नन् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पूर्वतः अनुवृत्तिलब्ध हैं। अर्थः—(स्वपः) स्वप् (धातोः) धातु से (परः) परे (भावे) भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक के वाच्य होने पर (नन्) नन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'नन्' का अन्त्य नकार इत्संज्ञक है जो **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

स्वपनं स्वप्नः (सोना, शयन करना)। ञिष्वप शये (अदा० प०)। ष्वप् से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा धातु के आदि षकार को सकार कर—स्वप्+न='स्वप्नः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। 'स्वप्न' शब्द पुंलिङ्ग है।

सम्प्रसारण से बचने के लिये तथा आद्युदात्तस्वर की सिद्धि के लिये यह पृथक् सूत्र बनाया गया है अन्यथा स्वप् धातु का भी **यज-याच०** (८६०) सूत्र में परिगणन कर सकते थे।

अब विधि, निधि आदि अनेक सुप्रसिद्ध शब्दों की सिद्धि के लिये 'कि' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि 'स्वप्न' शब्द का मौलिक अर्थ 'शयन' ही है। बाद में भाषाविज्ञान के अर्थविस्तार के सिद्धान्तानुसार नींद में दिखाई देने वाली घटना आदि (Dream) भी 'स्वप्न' मानी जाने लगीं। संस्कृतसाहित्य में इन दोनों अर्थों में इस का प्रयोग बहुप्रचलित है। शयन अर्थ में यथा—

(१) **रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।** (मनु० १.६५)

(२) **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता ६.१७)

(३) **अकाले बोधितो भ्राता प्रियस्वप्नो वृथा भवान्।** (रघु० १२.८१)

सपना (Dream) अर्थ में यथा—

(१) **स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु**—(शाकुन्तल० ६.१०)

(२) **यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम्** (स्वप्नवासव० ५.९)

[लघु०] विधि सूत्रम्—(८६२) उपसर्गे घोः किः ।३।३।६२॥

प्रधिः । उपधिः ॥

अर्थः उपसर्ग के उपपद रहते घुसंज्ञक धातु से परे 'कि' प्रत्यय हो जाता है भाव अर्थ में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में ।

व्याख्या उपसर्गे ।७।१। घोः ।५।१। किः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है । 'उपसर्गे' सप्तम्यन्त है अतः **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (६५३) के अनुसार यह उपपद रहेगा । अर्थः—(उपसर्गे) उपसर्ग के उपपद रहते (घोः, धातोः) घुसंज्ञक धातु से (परः) परे (किः प्रत्ययः) 'कि' प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव अर्थ में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो ।

दा-धा घ्वदाप् (६२३) सूत्रद्वारा पीछे दारूप वाली और धारूप वाली धातुओं की घुसंज्ञा की जा चुकी है, उसी घु से यहां 'कि' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । 'कि' प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इ' मात्र शेष रहता है । ककार अनुबन्ध **आतो लोप इटि च** (४८९) द्वारा धातु के आकार का लोप करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

प्रधिः । प्रधीयन्ते काष्ठानि अस्मिन्निति प्रधिः[1] । जिस में रथचक्र के अरे जोड़े जाते हैं अर्थात् रथ के पहिए का भूमिस्पर्शी भाग—नेमि—परिधि । प्रपूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उ०) धातु से अधिकरण कारक की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'कि' प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से आकार का भी लोप हो जाता है—प्र+ध्+इ=प्र+धि । अब **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपसर्ग+धि का उपपदसमास कर प्रातिपदिक संज्ञा करने से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है—प्रधिः । ध्यान रहे कि **क्यन्तो घुः** (लिङ्गानु० ४१) के अनुसार किप्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं[2] । प्रधिरयम् ।

उपधिः । उपधीयते (आरोप्यते) अनेनेत्युपधिः । जिस के द्वारा किसी वस्तु को अन्यथा प्रस्तुत किया जाता है—छल, कपट । 'उप' उपसर्ग के उपपद रहते 'डुधाञ् धारणपोषयोः' (जुहो० उ०) धातु से करण में पूर्ववत् 'कि' प्रत्यय हो कर आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'उपधिः' प्रयोग सिद्ध होता है । **अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि** (किरात० १.४५) । इसी प्रकार—

---

१. यह विग्रह वाचस्पत्यकोषकार का है । क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र इस का विग्रह 'प्रान्ते धीयत इति प्रधिः' इस प्रकार कर्मणि करते हैं । भानुजिदीक्षित आदि 'प्रधीयतेऽनेनेति प्रधिः' इस प्रकार करणपरक करते हैं । अतः विग्रह के अनुसार यथायोग्य कारक में 'कि' प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

२. हिन्दी भाषा में ये शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं । बहुधा छात्र इन को संस्कृतभाषा में भी वैसा समझने की अशुद्धि कर बैठते हैं अतः इन के लिङ्ग के विषय में सावधानी आवश्यक है ।

(१) आदिः । आदीयते गृह्यते प्रथमतयेत्यादिः । जो पहले ग्रहण किया जाता है—पहला, प्रथम । कर्म में आङ्पूर्वक 'डुदाञ् दाने' (जुहो० उ०) से 'कि' प्रत्यय । आकारलोप पूर्ववत् ।

(२) प्रदिः । प्रदीयत इति प्रदिः । जो दिया जाता है—प्रदेय-भेंट-पुरस्कार । प्रपूर्वक डुदाञ् से कर्म में प्रत्यय ।

(३) अन्तर्धिः । अन्तर्धानम् अन्तर्धिः । छिपना । अन्तर्पूर्वक डुधाञ् से भाव में प्रत्यय । ध्यान रहे कि **अन्तःशब्दस्याङ्-किविधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्** (वा० ३२) वार्त्तिकद्वारा 'अन्तर्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा है अतः प्रकृतसूत्र से 'कि' हुआ है।

(४) प्रणिधिः । प्रणिधीयते=नियुज्यते कार्येष्विति प्रणिधिः । जो कार्यों में नियुक्त किया जाता है—नौकर, दूत । कर्म में प्रत्यय । अथवा—प्रणिधानं प्रणिधिः । ध्यान, सादर विलोकन, याचन आदि । भाव में प्रत्यय । **नेर्गदनद०पतपदघु०** (४५३) से नि के नकार को णकारादेश होता है । **प्रणिधिः प्रार्थने चर** इत्यमरः ।

(५) आधिः । आधीयते दुःखमनेनेत्याधिः । जिस से मन में दुःख रखा जाता है—मानसिक पीडा । करण में प्रत्यय । आधीयतेऽस्मिन्नित्याधिः । जिस में वस्तु रखी जाती है—ठिकाना, आवासस्थान । अधिकरण में प्रत्यय । आधीयत इत्याधिः । धरोहर, बन्धक । कर्म में प्रत्यय । **बन्धकं व्यसनं चेतःपीडाऽधिष्ठानमाधय** इत्यमरः ।

(६) व्याधिः । विशेषेण दुःखम् आधीयतेऽनेनेति व्याधिः । जिस से दुःख प्राप्त होता है—रोग, बीमारी । करण में प्रत्यय । **स्त्री रुग् रुजा चोपताप-रोग-व्याधि-गदाऽऽमया** इत्यमरः ।

(७) विधिः । विधानं विधिः । विधान । भाव में प्रत्यय । विधीयत इति विधिः । जो विधान किया जाता है—आदेश, कार्य आदि । कर्म में प्रत्यय । विधीयतेऽनेनेति विधिः । जिस के द्वारा विधान किया जाता है—विधायकवचन, शास्त्रवचन । करण में प्रत्यय । विधत्त इति विधिः—जो रचना करता है—ब्रह्मा, प्रजापति । यहां कर्तृकारक में निषिद्ध होने पर भी बहुलग्रहण (७७२) के कारण 'कि' प्रत्यय माना जाता है[1] ।

(८) निधिः । नितरां धीयते नीचैर्धीयत इति वा निधिः । जो निरन्तर धारण =ग्रहण किया जाता है—धन, दौलत, ख़ज़ाना । कर्म में प्रत्यय ।

(९) सन्धिः । सन्धानं सन्धिः । मिलना-मिलाना । सम्+धा+कि । भाव में प्रत्यय[2] ।

---

१. अथवा -विध विधाने (तुदा० प०) धातु से कर्त्ता में औणादिक इन् (उणा० ४.१२१) प्रत्यय करने और उसे किद्वत् मान लेने से ब्रह्मावाची विधिशब्द सुतरां सिद्ध हो जाता है ।

२. **सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्** (पञ्च० ३.९) ।
सन्धये सरला सूची वक्रा छेदाय कर्तरी (सुभाषित) ।

(१०) प्रतिनिधिः । प्रतिनिधीयते=तुल्यरूप्यतया स्थाप्यत इति प्रतिनिधिः । तुल्यरूप । किसी की जगह काम करने वाला, एवज़ी । कर्म में प्रत्यय । प्रयोग यथा—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ (रघु० १.८१)

इसी तरह—सन्निधि, समाधि, उपाधि आदि अन्य शब्द भी जान लेने चाहियें ।

इस 'कि' प्रत्यय का विधायक एक अन्य सुप्रसिद्ध सूत्र भी यहां पर ध्यातव्य है। **कर्मण्यधिकरणे च** (३.३.९३) । अर्थः—कर्म के उपपद रहते घुसंज्ञक धातु से 'कि' प्रत्यय हो जाता है अधिकरण कारक में । यथा—शरा धीयन्तेऽस्मिन्निति शरधिः (तरकस) । इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति इषुधिः (तरकस) । जलं धीयतेऽस्मिन्निति जलधिः (समुद्र), इसी प्रकार—पयोधिः, वारिधिः, तोयधिः, वार्धिः, अम्बुधिः, क्षीरधिः । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः (समुद्र) । यहां उदक शब्द के स्थान पर **उदकस्योदः संज्ञायाम्** (६.३.५६) से उद आदेश हो जाता है। शिरो धीयतेऽस्यामिति शिरोधिः (ग्रीवा) । सब शब्द पुंलिङ्ग हैं, शिरोधि स्त्रीलिङ्ग है, इषुधि का स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयोग होता है ।

अभ्यास (१०)

(१) भावघञ् और कारकघञ् किसे कहते हैं ? विधायकसूत्र दर्शाते हुए दोनों का सोदाहरण अन्तर स्पष्ट करें ।

(२) धातुओं के साथ 'टु' और 'डु' अनुबन्ध लगाने में आचार्य पाणिनि का क्या प्रयोजन है ?

(३) विशुद्ध क्त्रिप्रत्ययान्त शब्द क्या मिल सकते हैं ? यदि हां तो कैसे ? नहीं तो विवेचन करें ।

(४) अच्, कि, अप्, नङ्, घञ् और अथुच् प्रत्ययान्तों के पांच पांच उदाहरण देते हुए उन के लिङ्ग का भी सप्रमाण विवेचन करें ।

(५) प्रयोजन लिखें—
  (क) कि प्रत्यय में ककार जोड़ने का;
  (ख) घञ् प्रत्यय में घकार और ञकार लगाने का;
  (ग) अप् प्रत्यय में पकार लगाने का;
  (घ) नङ् प्रत्यय में ङकार लगाने का;
  (ङ) अथुच् में चकार लगाने का;
  (च) ऋदोरप् में तपर न मानने का ।

(६) 'प्रश्नः' में सम्प्रसारण कैसे प्राप्त था और क्यों रुक गया ?

(७) 'घञर्थे कविधानम्' वार्त्तिक की प्रवृत्ति किस किस धातु से होती है ? वरदराज ने इस का उल्लेख क्यों नहीं किया ?

(८) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थों में किस धातु से कौन सा प्रत्यय आचार्य ने कहा है ? सोदाहरण लिखें ।

(९) 'जलधिः' में क्या **उपसर्गे घोः किः** सूत्र की प्रवृत्ति होती है ? हां तो कैसे ? नहीं तो कारण बता कर किविधायक सूत्र लिखें ।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—
उपसर्गे घोः किः; ऋदोरप्; अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्; क्त्रेर्मम् नित्यम्; घञि च भावकरणयोः ।

(११) ससूत्र सिद्धि करें—
यज्ञः, प्रधिः, रागः, रङ्गः, वेपथुः, अन्तर्धिः, याच्ञा, करः, पाकः, लवः, जयः, निकायः, उपधिः, स्वप्नः, विश्नः, विघ्नः, स्तवः, प्रपा, चयः, गोमय-निकायः ।

———:०:———

अब उत्तरकृदन्तों में स्त्र्यधिकार का वर्णन प्रारम्भ करते हुए इस प्रकरण के प्रमुख प्रत्यय **क्तिन्** का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६३) स्त्रियां क्तिन् ।३।३।९४।।

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में धातु से परे क्तिन् प्रत्यय होता है। **घञोऽपवादः**—यह सूत्र घञ् प्रत्यय का अपवाद है ।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। क्तिन् ।१।१। भावे ।७।१। (**भावे** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं । **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की भी पीछे से अनुवृत्ति आ रही है । अर्थः— (स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में तथा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में (धातोः) धातु से (परः) परे (क्तिन्) क्तिन् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है ।

क्तिन् प्रत्यय के ककार और नकार इत् हो कर लुप्त हो जाते है—'ति' मात्र शेष रहता है । नकार स्वर के लिये तथा ककार गुणनिषेध, अनुनासिकलोप तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है ।

पीछे **भावे** (८५१) सूत्र पर बताया जा चुका है कि सिद्धावस्थापन्न भाव द्रव्य की तरह प्रकाशित होता है अतः उस के साथ लिङ्ग और संख्या का योग भी हुआ करता है । उसी भाव को जब स्त्रीत्वविशिष्ट कहने की इच्छा होती है तब इस सूत्र की प्रवृत्ति हो कर क्तिन् प्रत्यय हो जाता है । **भावे** (८५१) सूत्र द्वारा सामान्यतः भाव में घञ् कहा गया था परन्तु यहां स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में प्रत्यय का विधान कर रहे हैं, इस प्रकार यह सूत्र उस सूत्र द्वारा विहित घञ् का अपवाद ठहरता है । **एरच्** (८५५) और **ऋदोरप्** (८५६) सूत्रों द्वारा विहित अच् और अप् प्रत्यय विशेष

धातुओं से विहित होने से घञ् के अपवाद थे परन्तु यह सूत्र विप्रतिषेध में परत्व के कारण उन का भी बाध कर लेता है[1] ।

सूत्र के उदाहरण यथा---

करणं कृतिः (करना) । यहां 'डुकृञ् करणे' (तना० उ०) धातु से स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्तिन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से ---कृ + ति । धातु के अनिट् होने से इडागम का निषेध हो जाता है । **सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण भी क्तिन् के कित्व के कारण **क्ङिति च** (४३३) से निषिद्ध हो जाता है । अब कृदन्तत्वात् 'कृति' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमैकवचन में मतिशब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'कृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है । क्तिन्नन्त सब शब्द **क्तिन्नन्तः** (लिङ्गानु० ६) इस वचन के अनुसार स्त्रीलिङ्गी होते है ।

स्तवनं स्तुतिः (स्तुति करना) । 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा० उ०) धातु से क्तिन् हो कर 'स्तुतिः' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां धातु के आदि षकार को **धात्वादेः षः सः** (२५५) से सकार होकर ष्टुत्व से बने टकार को भी **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से पुनः तकार हो जाता है । धातु के अनिट् होने से इट् का निषेध हो जाता है ।

ध्यान रहे कि सेट् धातुओं से भी परे क्तिन् को इट् आगम नहीं होता । **ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च** (८४५) से निषेध हो जाता है । यथा---दीप्---दीप्तिः (चमक) ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा---(१) अधि √इङ्--अधीतिः (अध्ययन) । गुण का निषेध हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है । (२) चिञ्---चितिः (चुनना, चयन) । (३) नु---नुतिः (नमन) । (४) शक्---शक्तिः (सामर्थ्य) । (५) भज्---भक्तिः (भजन, आराधना, सेवा) । **चोः कुः** (३०६) से कुत्व हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है । (६) वृष्---वृष्टिः (बारिश) । ष्टुत्व (६४) से तकार को टकार हो जाता है । (७) शुध्---शुद्धिः (सफाई, शुद्धता) । **झषस्तथो-र्धोऽधः** (५४९) से क्तिन् के तकार को धकार हो कर **झलां जश् झशि** (१९) से धातु के धकार को जश्त्वेन दकार हो जाता है । (८) वृध्---वृद्धिः (बढ़ना) । (९) सिध्---सिद्धिः (सिद्ध होना) । (१०) दृश्---दृष्टिः (दर्शन) । **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार हो कर ष्टुत्व से तकार को टकार आदेश हो जाता है । (११) वि √नश्---विनष्टिः (विनाश) । (१२) स्था---स्थितिः (ठहरना) । **द्यति-स्यति-मा-स्थाम्**

---

१. अच् और अप् प्रत्यय चयः, जयः तथा लवः, पवः आदियों (जहां भाव स्त्रीत्व-विशिष्ट नहीं) में सावकाश हैं और इधर क्तिन् प्रत्यय स्त्रीत्वविशिष्ट भाव के कृतिः, हृति आदि स्थलों में (जहां अच् और अप् प्राप्त नहीं) चरितार्थ है । चि, स्तु आदियों में स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में दोनों प्राप्त होते हैं इस प्रकार विप्रतिषेध में परत्व के कारण क्तिन् हो जाता है अच् और अप् नहीं ।

इत् ति किति (७.४.४०) से धातु के आकार को इकार आदेश हो जाता है। (१३) अनु √मा—अनुमितिः (अनुमान द्वारा जानना)। (१४) उप √मा— उपमितिः (सादृश्य द्वारा जानना)[1]। (१५) गम्—गतिः (गमन)। (१६) हन्—हतिः (हनन)। (१७) नम्—नतिः (नमन), प्रणतिः। (१८) रम्—रतिः (रमण)। (१९) मन्—मतिः (मानना)। (२०) यम्—यतिः (नियमन)। (२१) तन्—ततिः (विस्तार)। गम् आदियों के अनुनासिक का **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५६) से लोप हो जाता है। (२२) वच्—उक्तिः (कथन)। यहां **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप हो कर **'चोः कुः'** (३०६) से कुत्व हो जाता है। (२३) स्वप्—सुप्तिः (शयन)। (२४) वप्—उप्तिः (बोना या काटना)। (२५) यज्—इष्टिः (याग)[2]। सम्प्रसारणकार्य हो कर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षत्व हो जाता है। (२६) प्र √आप्—प्राप्तिः (पाना)। (२७) दीप्—दीप्तिः (चमक)। (२८) ध्वंस्—ध्वस्तिः (नाश)। उपधानकार का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से लोप हो जाता है। (२९) लभ्—लब्धिः, उपलब्धिः (प्राप्ति)। धत्व (५४९) हो कर जश्त्व (१९) हो जाता है[3]। (३०) भी—भीतिः (डर, भय)। (३१) मुच्—मुक्तिः (छुटकारा)। (३२) प्रति √इण्—प्रतीतिः (विश्वास, जानना)। (३३) प्लु—प्लुतिः (उछलना, कूदना)। (३४) प्र √सृ—प्रसृतिः (फैलना, प्रसार)। (३५) गुप्—गुप्तिः (रक्षा)। (३६) पा पाने—पीतिः (पीना)। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) से ईत्व हो जाता है। **आपो भवन्तु पीतये** (यजुः० ३६.१२)।

क्तिन् प्रत्यय भाव के अतिरिक्त कर्तृभिन्न अन्य कारकों में भी संज्ञा के विषय में यथासम्भव हो जाता है। यथा—श्रूयते धर्मोऽनयेति श्रुतिर्वेदः [**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः**—मनु० २.१०], अथवा—श्रवण का साधन कर्णेन्द्रिय। यहां करण में क्तिन्

---

१. उपसर्गपूर्वक माङ् धातु से **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) से अङ् प्रत्यय करने पर **आतो लोप इटि च** (४८९) से आकारलोप तथा **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् हो कर—अनुमा, उपमा, प्रमा आदि शब्द सिद्ध होते हैं। यह अङ् प्रत्यय यद्यपि क्तिन् का अपवाद है और स्त्र्यधिकार मे वाऽसरूपविधि भी नहीं है तथापि बाहुलकात् क्तिन् की भी प्रवृत्ति मानी जाती है (देखें कृदन्तरूपमाला पृष्ठ १०१५)।

२. यहां करण में क्तिन् समझना चाहिये। भाव क्तिन् का अपवाद क्यप् प्रत्यय हो जाता है—इज्या (**व्रजयजोर्भावे क्यप्** ३.३.९८)।

३. प्राप्ति, दीप्ति और ध्वस्ति में **गुरोश्च हलः** (८६८) से क्तिन् का अपवाद 'अ' प्रत्यय प्राप्त था, **क्तिन्नाबादिभ्यः** (वा० ३.३.९४) वार्तिक से उस का निषेध हो कर पुनः क्तिन् प्रत्यय हो जाता है। लभ् (डुलभँष् प्राप्तौ) धातु षित् है अतः **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३.३.१०४) द्वारा इस से क्तिन् का अपवाद अङ् प्रत्यय प्राप्त था यहां वार्तिक के बल से पुनः क्तिन् हो जाता है।

हुआ है। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः। जिस से स्तुति की जाती है—स्तोत्र। इज्यतेऽनयेति—इष्टिः (याग)। यहां यज् को सम्प्रसारण होकर षत्व और ष्टुत्व हो जाते हैं। इष्यतेऽनयेति—इष्टिः। जिस के द्वारा अभीष्ट बात कही जाती है—व्याकरणादि में प्रसिद्ध इष्टि। गीयत इति गीतिः (गाना)। यहां कर्म में क्तिन् हुआ है। **घुमा-स्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) से ईत्व हो जाता है। तन्यत इति ततिः (पंक्ति)। यहां कर्म में क्तिन् हुआ है। क्रियत इति कृतिः (रचना)। दृश्यतेऽनयेति दृष्टिर्नेत्रम्। सृज्यत इति सृष्टिः। कर्म मे क्तिन्। क्तिन्नन्त सर्वत्र स्त्रीलिङ्गी होता है—**क्तिन्नन्तः** (लिङ्गानु० ६)।

अब क्तिन् प्रत्यय के तकार को निष्ठाप्रत्ययवत् नकार आदेश करने के लिये अग्रिम वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

अतिदेश - वार्तिक

[लघु०] वा०—(५०) ॠ-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः॥

तेन नत्वम्। कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। (पूनिः)॥

अर्थः—ॠदन्त या लू आदि धातुओं से परे क्तिन् प्रत्यय को निष्ठावत् कार्य होते हैं।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **ल्वादिभ्यः** (८.२.४४) सूत्र (८१८) पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझा जायेगा। अर्थः—(ॠ-ल्वादिभ्यः।५।३।) ॠदन्त धातुओं तथा लू आदि धातुओं से परे (क्तिन्) क्तिन् प्रत्यय (निष्ठावत्) निष्ठा की तरह (वाच्यः) कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इन धातुओं से परे निष्ठा [क्त, क्तवतुँ (८१४)] के तकार को जैसे नकार आदेश होता है वैसे क्तिन् के तकार को भी नकार आदेश हो। यह अतिदेश वार्त्तिक है, प्रकरणतः इसे नत्वविषयक ही समझना चाहिये। ल्वादि धातुओं का उल्लेख पीछे (८१८) सूत्र पर कर चुके है।

ॠदन्त के उदाहरणों में यहां उस ॠदन्त धातु का ग्रहण करना चाहिये जो ल्वादियों के अन्तर्गत न होता हो। यथा -कॄ विक्षेपे (बखेरना; तुदा० पर०); गॄ निगरणे (निगलना; तुदा० पर०); तॄ प्लवनसन्तरणयोः (तैरना; भ्वा० पर०)। इन धातुओं से भाव में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् प्रत्यय कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण का निषेध, **ॠत इद् धातोः** (६६०) से ॠकार को इकार, **उरण्रपरः** (२९) से रपर और **हलि च** (६१२) से उपधादीर्घ करने से—कीर्+ति, गीर्+ति, तीर्+ति। अब यहां प्रकृत वार्त्तिक से क्तिन् को निष्ठावत् मान कर **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से उस के तकार को नकार आदेश तथा **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से नकार को भी णकार करने से—कीर्णिः (बखेरना), गीर्णिः (निगलना), तीर्णिः (तैरना) प्रयोग सिद्ध होते हैं। **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) से णकार को पाक्षिक द्वित्व होता है। द्वित्वपक्ष में —कीर्ण्णिः, गीर्ण्णिः, तीर्ण्णिः आदि रूप भी बनते हैं।

ल्वादियों का उदाहरण यथा—'लूञ् छेदने' (काटना; क्र्या० उभय०) धातु

क्विँप् (०)

ल्वादियों के अन्तर्गत पढ़ी गई है। अतः यहां पर भी पूर्ववत् भाव में क्तिन् प्रत्यय कर प्रकृतवार्त्तिक से क्तिन् को निष्ठावत् मान कर **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से उस के तकार को नकार आदेश हो जाता है—लूनिः (लवनं लूनिः अर्थात् काटना)। इसी प्रकार—धूञ् कम्पने (क्र्या० उभय०) से 'धूनिः' (कम्पाना) आदि प्रयोग बनते हैं।

नोट—लघुकौमुदी के मुद्रित संस्करणों में अद्यत्वे यहां पर 'पूनिः' उदाहरण का भी उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्रमाद है क्योंकि 'पूञ् पवने' (पवित्र करना; क्र्या० उभय०) धातु ल्वादियों के अन्तर्गत नहीं आती। वह पाणिनीय धातुपाठ में ल्वादियों से बिल्कुल पूर्व पठित है। कुछ लोग उस के संग्रह के लिये—'लुव आदिर्ल्वादिः (पञ्चमीतत्पुरुषसमासः), लूर् आदौ येषां ते ल्वादयः (बहुव्रीहिसमासः)। ल्वादिश्च ल्वादयश्च—ल्वादयः [एकशेषः]। तेभ्यः=ल्वादिभ्यः इस प्रकार व्याख्या कर पूञ् का भी ग्रहण मानने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु यह सब निरर्गल प्रमाणशून्य कल्पना-मात्र है, शिष्टसम्मत मार्ग नहीं। हमें साहित्य में 'पूनि' का प्रयोग कहीं नहीं मिला।

अब इसी अर्थ में क्विँप् प्रत्यय का वार्त्तिककार अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०— (५१) सम्पदादिभ्यः क्विँप् ॥

सम्पत्। विपत्। आपत्। क्तिन्नपीष्यते—सम्पत्तिः। विपत्तिः। आपत्तिः।

अर्थः—सम्पूर्वक पद् आदि धातुओं से भाव में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में क्विँप् प्रत्यय हो जाता है। **क्तिन्नपीष्यते**—क्तिन् प्रत्यय भी अभीष्ट है।

व्याख्या—सम्पदादिभ्यः ।५।३। क्विँप् ।१।१। सम्पद् आदिर्येषां ते सम्पदादयः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। यह वार्तिक महाभाष्य में इसी स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के (३.३.१०८) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः यहां पर भी **स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** आदि की अनुवृत्ति पूर्ववत् आती है। अर्थः—(सम्पदादिभ्यः) सम्पद् आदि धातुओं से (स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञा-याम्) कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा के विषय में (क्विँप्) क्विँप् प्रत्यय हो जाता है। सम्पद् का अभिप्राय सम्पूर्वक 'पद गतौ' (दिवा० आ०) धातु से है। क्विँप् प्रत्यय का सर्वापहारलोप पीछे बता चुके हैं। उदाहरण यथा—

सम्पूर्वक 'पद गतौ' (दिवा० आ०) धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन् की बजाय प्रकृतवार्त्तिक से क्विँप् प्रत्यय हो जाता है—सम्पद्+क्विँप्। क्विँप् में पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। इकार उच्चारणार्थक है। अवशिष्ट बचे 'व्' का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'सम्पद्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब इस की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिक संज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ के सकार का **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से लोप हो कर **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—सम्पत्, सम्पद् (सम्पन्नता) ये दो प्रयोग

सिद्ध होते हैं। यहां करण में भी क्विँप् माना जा सकता है—सम्पद्यतेऽनयेति सम्पत्। जिस से मनुष्य शोभा पाता है अर्थात् धन-दौलत-सम्पत्ति[1]।

इसी प्रकार विपूर्वक या आङ्पूर्वक 'पदँ गतौ' धातु से विपत्-विपद् (विपन्नता) तथा आपत्, आपद् (आपन्नता) ये दो दो रूप सिद्ध होते हैं। करण में प्रत्यय मानने से 'विपद्यते आपद्यते वाऽनयेति विपद् आपत्'। जिस से मनुष्य दुःखी होता है—संकट, दुःख, विपत्ति, आपत्ति आदि।

क्तिन्नपीष्यते—इस प्रकरण में वाऽसरूपविधि (७६७) नहीं है अतः यह क्विँप् प्रत्यय उत्सर्ग क्तिन् का अपवाद ही ठहरता है परन्तु लोक में इन शब्दों के क्तिन्नन्त प्रयोग भी शिष्टसम्मत हैं। इसलिये वरदराज कहते हैं कि—**क्तिन् अपि इष्यते**। अर्थात् इन शब्दों में क्तिन् प्रत्यय भी अभीष्ट है। इस का समर्थन बाहुलकात् (७७२) करना होगा। क्तिन् हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व करने पर—सम्पत्तिः विपत्तिः, आपत्तिः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं अर्थ वही है[2]।

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) युध् (युद्ध)। युध्यन्ते सम्प्रहरन्तेऽस्यामिति युत्। अधिकरणे क्विँप्।
(२) संयत् (युद्ध)। संयतन्ते स्पर्धन्ते जना अस्यामिति संयत्। अधिकरणे क्विँप्।
(३) प्रतिश्रुत् (प्रतिध्वनि)। प्रतिरूपं श्रूयत इति प्रतिश्रुत्। कर्मणि क्विँप्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) इति तुँगागमः।
(४) प्रतिपद् (प्रतिपदा तिथि)। प्रतिपद्यते=उपक्रम्यते पक्षो मासो वाऽनयेति प्रतिपत्। करणे क्विँप्। भागुरिमते—प्रतिपदा[3]।
(५) संसद् (सभा)। सम्+षद्लृँ+क्विँप्। सम्भूय सीदन्त्यस्यामिति संसत्। अधिकरणे क्विँप्।
(६) परिषद् (सभा)। परि+षद्लृँ+क्विँप्। परितः सीदन्त्यस्यामिति परिषत्। अधिकरणे क्विँप्। **सदिरप्रतेः** (८.३.६६) इति षत्वम्।
(७) संविद् (बुद्धि)। सम्+विद्+क्विँप्। सम्यक् वेत्ति अनयेति संवित्। करणे क्विँप्। संवित्तिरित्यपि।

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि सम्पदादिगण के अन्तर्गत आने वाले सब शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। **महार्णवाभे युधि नाशयामि** (स्वप्न० ५.१३) भास के स्वप्नवासवदत्तनाटक का पुंलिङ्ग में 'युध्' का यह प्रयोग अपप्रयोग ही है।

२. **क्तिन्नपीष्यते** का यह तात्पर्य नहीं कि जहां जहां सम्पदादित्वात् क्विँप् किया जाये वहां वहां पक्ष में क्तिन् भी अवश्य हो। यहां तो शिष्टप्रयोगों के अनुसार व्यवस्था समझनी चाहिये। अतः कहीं कहीं दोनों और कहीं कहीं केवल एक रूप भी बनता है।

३. **वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।**
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥ (देखें सूत्र ३७२)

(८) रुष् (क्रोध) । रोषणं रुट् । रुष् + क्विँप् । भावे प्रत्ययः । भागुरिमते —रुषा ।

(६) रुज् (रोग) । रुज्यतेऽनयेति रुक् । रुज् + क्विँप् । करणे प्रत्ययः । भागुरिमते—रुजा ।

(१०) शुच् (शोक करना) । शोचनं शुक् । भावे क्विँप् । भागुरिमते—शुचा ।

(११) क्रुध् (क्रोध करना) । क्रोधनं क्रुत् । भावे क्विँप् । भागुरिमते—क्रुधा ।

(१२) रुच् (चमकना, दीप्ति) । रोचनं रुक् । भावे क्विँप् । भागुरिमते—रुचा ।

आधुनिक पाणिनीय गणपाठ में सम्पदादिगण को यद्यपि आकृतिगण नहीं लिखा गया तथापि व्यवहार में इसे आकृतिगण ही समझा जाता है । वर्धमानकृत गणरत्न-महोदधि यहां अनुसन्धेय है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा क्तिन्नन्त कुछ शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६४) ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्त्तयश्च ।३।३।९७।।

एते निपात्यन्ते ।।

अर्थः—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, और कीर्ति—ये छः क्तिन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं ।

व्याख्या—ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्त्तयः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । उदात्तः ।१।१। (**मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः** से) । ऊतिश्च यूतिश्च जूतिश्च सातिश्च हेतिश्च कीर्तिश्च—ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयः, इतरेतरद्वन्द्वः । **स्त्रियां क्तिन्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब प्रकरणतः उपलब्ध हैं । अर्थः—(स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में (ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयः) ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति—ये छः क्तिन्नन्त शब्द निपातित किये जाते है (क्तिन् च उदात्तः) किञ्च इन में क्तिन् उदात्त होता है। क्तिन् के उदात्त होने से ये शब्द अन्तोदात्त होंगे ।

जब कोई कार्य सामान्य प्रक्रिया या सूत्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता तब निपातन का आश्रय लिया जाता है[1]—यह हम पीछे (७८३) सूत्र पर खोल कर बता चुके हैं । यहां इन शब्दों में क्या क्या कार्य सामान्य प्रक्रिया से प्राप्त था और किस कार्य के लिये निपातन किया गया है इस का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

ऊतिः (रक्षा, क्रीडा-लीला आदि) । अव रक्षणादौ (भ्वा० प०) । अव् धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् हो कर—अव् + ति । अब **ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवा-**

---

१. **अकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च ।**
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ।। (हैमबृहद्वृत्ति ५.३.१०८)

मुपधायाश्च (८६५) इस अग्रिमसूत्र से उपधा और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् के स्थान पर ऊठ् आदेश हो कर ठकार अनुबन्ध का लोप हो जाने से विभक्ति ला कर—'ऊतिः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। यह प्रयोग निपातन के विना भी सामान्य प्रक्रिया से सिद्ध हो रहा है। पुनः निपातन का प्रयोजन इसे अन्तोदात्त करना ही है। अन्यथा क्तिन् के नित् होने से **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्र द्वारा यह शब्द आद्युदात्त होता जो स्वर की दृष्टि से अशुद्ध था।

यूतिः (मिलाना आदि)। यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदा० प०)। यु धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में पूर्ववत् क्तिन् हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो 'युति' बनता था[2]। यहां निपातन में उसे 'यूतिः' कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि धातु को दीर्घविधान करने के लिये यहां निपातन का आश्रय लिया गया है। अन्तोदात्तत्व का विधान भी दूसरा प्रयोजन है।

जूतिः (तेज़ चलना, वेग आदि)। जु धातु 'तेज़ चलना' अर्थ में प्रसिद्ध है। पाणिनीय धातुपाठ में इस का उल्लेख नहीं पर सूत्रपाठ में इस का कई स्थानों पर उल्लेख है अतः यह सौत्र धातु मानी जाती है। सौत्र धातुएं भी आचार्यपाणिनिद्वारा अनुमत होती हैं। इस सौत्र जु धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में क्तिन् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'जुति' प्रयोग बनता था। परन्तु यहां निपातन में 'जूतिः' इस प्रकार दीर्घविधान किया गया है। यह दीर्घविधान निपातन का प्रयोजन है। अन्तोदात्तत्व का विधान भी दूसरा प्रयोजन है।

सातिः (नाश, भेंट, दान आदि)। यह शब्द दो प्रकार से व्युत्पन्न माना जाता है। प्रथम यथा—'षो अन्तकर्मणि' (नाश करना या नाश होना; दिवा० प०) धातु के आदि षकार को सकार आदेश तथा **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से ओकार को आत्व हो जाता है। इस से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् करने से—सा+ति। अब यहां **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०) सूत्र से इत्त्व करने पर 'सिति' रूप बनता था परन्तु यहां 'सातिः' निपातन किया गया है। इस प्रकार यहां इत्त्व का अभाव निपातन का प्रयोजन है। अन्तोदात्तत्व का विधान तो सब शब्दों में प्रयोजन है ही। द्वितीय यथा—षणुँ दाने (तना० उभ०) धातु से यदि क्तिन् करें तो **जन-सन-खनां सञ्झलोः** (६७६) सूत्र से धातु के नकार को आत्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'सातिः' प्रयोग सुतरां सिद्ध हो जाता है। इस पक्ष में निपातन का प्रयोजन केवल अन्तोदात्तस्वर का विधान करना ही होगा।

---

१. **न चास्य कश्चिद् निपुणेन धातु-**
   रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः। (भागवत० १.३.३७)
   अर्थात् इस विधाता की लीलाओं को कोई कुबुद्धि जीव बड़ी चतुराई से भी नहीं जान सकता।

२. सेट्कस्यापि यौतेरिण्निषेधस्तु **ति-तु-त्र०** (८४५) इति सिद्धः क्तिनि। एवमन्यत्रापि सेट्केषु बोध्यम्।

हेतिः (अस्त्र, अग्निज्वाला, सूर्यकिरण आदि)[1]। यह शब्द भी दो धातुओं से व्युत्पन्न माना जाता है। प्रथम यथा—'हन हिंसागत्योः' (अदा० पर०) धातु से करण की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् प्रत्यय हो कर **अनुदात्तोपदेश-वनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५६) से अनुनासिक का लोप कर 'हति' बनता था परन्तु यहां 'हेतिः' निपातन किया गया है अतः स्पष्ट है कि यहां निपातनद्वारा हन् के नकार को इकार कर गुण किया गया है। नकार को इकारादेश ही यहां निपातनकार्य समझना चाहिये। द्वितीय –'हि गतौ' (स्वा प०) धातु से यदि 'हेतिः' सिद्ध करें तो केवल गुण करना ही निपातन का प्रयोजन होगा क्योंकि क्तिन् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होता था। स्वर का प्रयोजन दोनों पक्षों में पूर्ववत् है।

कीर्तिः (यश)। 'कॄत संशब्दने' (नाम लेना, यश गाना; चुरा० उभ०) धातु चौरादिक होने से ण्यन्त है अतः इस से **ण्यासश्रन्थो युच्** (८६९) से युच् प्राप्त था परन्तु यहां निपातन से क्तिन् प्रत्यय किया गया है—कॄत् इ+क्तिन्। **णेरनिटि** (५२६) से णि का लोप, **उपधायाश्च** (७.१.१०१) से धातु की उपधा ॠकार को इत्व, रपर हो कर—किर्+ति। अब **हलि च** (६१२) से उपधा को दीर्घ करने से —'कीर्तिः' प्रयोग सिद्ध होता है।[2] इस प्रकार यहां अप्राप्त क्तिन् का विधान निपातन का प्रयोजन सिद्ध होता है। शेष कार्य तो सामान्यप्रक्रिया से सिद्ध हैं ही। स्वर का प्रयोजन भी पूर्ववत् जानें।

संक्षेप में निपातन की प्रयोजनतालिका निम्नस्थ है—

शब्द	निपातन का प्रयोजन
(१) ऊतिः	अन्तोदात्तस्वर का विधान
(२) यूतिः	धातु को दीर्घ करना तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(३) जूतिः	धातु को दीर्घ करना तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(४) सातिः	षो धातु मानें तो इत्व का वारण तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
	सन् धातु मानें तो केवल अन्तोदात्तस्वर का विधान
(५) हेतिः	हन् धातु मानें तो नकार को इत्त्व तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
	हि धातु मानें तो गुण तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(६) कीर्तिः	अप्राप्त क्तिन् का विधान तथा अन्तोदात्तस्वर

अब क्विँप् में ज्वर् आदि धातुओं को विशेष कार्य विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

१. **समरविजयी हेतिदलितः** (भर्तृ० नीति० ३५)।

२. **जूतिमिच्छथ चेत्तूर्णं कीर्तिं वा पातुमात्मनः।**
करोमि वो बहिर्यूतीन् पिधध्वं पाणिभिर्दृशः॥ (भट्टि० ७.७६)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६५) ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च ।६।४।२०।।**

एषामुपधावकारयोरूठ् अनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च । अतः क्विप्[1]—जूः । तूः । स्रूः । ऊः । मूः ।।

अर्थः—ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् तथा मव् धातुओं की उपधा और वकार दोनों के स्थान पर ऊठ् आदेश हो जाता है यदि अनुनासिक, क्विँ अथवा झलादि कित् ङित् इन में से कोई परे हो तो ।

व्याख्या—ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवाम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । वः ।६।१। ऊठ् ।१।१। अनुनासिके ।७।१। (**च्छ्वोः शूड् अनुनासिके च** से) । क्विँझलोः ।७।२। क्ङिति ।७।१। (**अनुनासिकस्य क्विँ-झलोः क्ङिति** से) । ज्वरश्च त्वरश्च स्रिविश्च अविश्च मव् च— ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवः, तेषाम् = ज्वर-त्वर-स्रिव्यविमवाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । ज्वरादियों में अन्त्य अकार और इकार उच्चारणार्थक हैं । क्विँश्च झल् च क्विँझलौ, तयोः=क्विँझलोः, इतरेतरद्वन्द्वः । क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् = क्ङिति । द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । 'क्विँझलोः' का 'झलि' अंश ही 'क्ङिति' के साथ सम्बद्ध होता है । तदादिविधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' बन जाता है । अर्थः—(ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवाम्) ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् और मव् धातुओं की (उपधायाः) उपधा (च) और (वः) व् के स्थान पर (ऊठ्) ऊठ् आदेश हो जाता है (अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (क्वौ) क्वि परे होने पर अथवा (झलि=झलादौ क्ङिति) झलादि कित् ङित् परे होने पर ।

ऊठ् का ठकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'ऊ'

---

१. **अतः क्विँप्**—इस वचन की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है । प्रथम व्याख्या —क्विँप् परे होने पर ज्वर् आदि धातुओं की उपधा और वकार के स्थान पर क्योंकि ऊठ् का विधान किया गया है अतः इस से सिद्ध होता है कि इन धातुओं से क्विँप् प्रत्यय किया जाना है । इस के विना सूत्र में अनुवर्त्तित 'क्वौ' अंश निरर्थक हो जायेगा । दूसरी व्याख्या— क्योंकि सम्पदादि आकृतिगण है अतः इन ज्वर् आदि धातुओं से क्विँप् प्रत्यय हो जाता है । परन्तु हमें ये दोनों व्याख्याएं ठीक प्रतीत नहीं होतीं । इन में प्रथम व्याख्या इसलिये युक्त नहीं क्योंकि **क्विँप् च** (८०२) सूत्र से कर्तरि क्विँप् करने पर प्रकृतसूत्र की सार्थकता सुतरां सिद्ध है । अतः प्रकृतसूत्र में वह सामर्थ्य नहीं रहता जिस के कारण इन धातुओं से क्विँप् का विधान माना जा सके । दूसरी व्याख्या भी अक्षरस्वारस्य से दूर क्लिष्ट कल्पनामात्र ही है । अतः ग्रन्थकार के उपर्युक्त वचन का सीधा-सादा अर्थ ही यहां लेना चाहिये कि इन धातुओं से क्विँप् हो कर (यह सूत्र प्रवृत्त होता है) । ग्रन्थकार को यह वचन इस अभिप्राय से लिखना पड़ा कि यहां क्विँप् में इस सूत्र के उदाहरण दिये जा रहे हैं अनुनासिकादि में नहीं ।

मात्र शेष रहता है। ऊठ् में ठकार का आयोजन उस के ग्रहण में भ्रान्तिहीनसौकर्य के लिये किया गया है; यथा—**एत्येधत्यूठ्सु** (३४), **ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः** (६.१.१७१)। ज्वर आदियों का विवरण इस प्रकार है—

१. ज्वर रोगे (रुग्ण होना; भ्वा० प०)। ज्वरति, ज्वरतः, ज्वरन्ति।

२. ञित्वराँ सम्भ्रमे (शीघ्रता करना; भ्वा० आ०)। त्वरते, त्वरेते, त्वरन्ते।

३. स्रिवुँ गतिशोषणयोः (जाना, सूखना; दिवा० प०)। स्रीव्यति, स्रीव्यतः, स्रीव्यन्ति (६१२)।

४. अव रक्षणादौ (रक्षा करना आदि; भ्वा० प०)। अवति, अवतः, अवन्ति।

५. मव बन्धने (बांधना; भ्वा० प०)। मवति, मवतः, मवन्ति।

अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण उपधासंज्ञक होता है (१७६)। इन पांच धातुओं की उपधा[1] और वकार दोनों के स्थान पर एक ऊठ् (ऊ) आदेश हो जाता है[2] यदि निम्नस्थों में से कोई परे हो तो—

(१) अनुनासिक अर्थात् अनुनासिकादि प्रत्यय।

(२) क्वि अर्थात् क्विँप् आदि प्रत्यय।

(३) झलादि कित् या झलादि ङित् प्रत्यय।

उदाहरण यथा—

जूः (ज्वरणं जूः, रुग्ण होना)। सम्पदादिगण के आकृतिगण होने के कारण ज्वर् धातु से भाव में **सम्पदादिभ्यः क्विँप्** (वा० ५१) वार्तिक से क्विँप् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से ज्वर्। यहां प्रत्ययलक्षण (१९०) से क्विँ के परे रहते धातु की उपधा (अ) और धातु के वकार दोनों के स्थान पर प्रकृतसूत्र से एक ऊठ् आदेश करने पर ठकार अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—ज् ऊ र्=जूर् प्रातिपदिक बनता है। अब इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। सुँ लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सकार का लोप हो कर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'जूः' प्रयोग सिद्ध होता है। जूर् शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्रथमा	जूः	जूरौ	जूरः	**पञ्चमी**	जूरः	जूर्भ्याम्	जूर्भ्यः
द्वितीया	जूरम्	जूरौ	जूरः	**षष्ठी**	जूरः	जूरोः	जूराम्
तृतीया	जूरा	जूर्भ्याम्	जूर्भिः	**सप्तमी**	जूरि	जूरोः	जूर्षु
चतुर्थी	जूरे	जूर्भ्याम्	जूर्भ्यः	**सम्बोधन**	हे जूः!	हे जूरौ!	हे जूरः!

प्रायः कई स्थानों पर 'जूः, जुरौ, जुरः' इस प्रकार लिखा रहता है—वह प्रमाद है।

इसी तरह—त्वरणं तूः (शीघ्रता, वेग)। त्वर् धातु से क्विँप् प्रत्यय हो कर

१. इन पांच धातुओं में ज्वर् और त्वर् धातुओं की उपधा वकार के बाद तथा स्रिव्, अव् और मव् में वकार से पूर्व है।

२. कुछ वैयाकरणों का कहना है कि उपधा और वकार दोनों को अलग-अलग ऊठ् हो कर पुनः सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। यह पक्ष भी महाभाष्यानुगत है।

प्रकृतसूत्र से उपधा (अ) और वकार दोनों के स्थान पर एक ऊठ् आदेश करने से—तूः, तुरौ, तुरः।[1]

स्रूः (स्रेवणं स्रूः गमन)। स्रिव् धातु से भाव में क्विँप् हो कर उपधा (इ) और वकार अर्थात् इव् को ऊठ् आदेश करने पर—स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः। यहां अजादि सुँप् विभक्तियों में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है। इस की रूपमाला 'भ्रू' शब्द की तरह चलती है।

ऊः (अवनम् ऊः, रक्षा करना)। अव् धातु से सम्पदादित्वात् क्विँप् हो कर उपधा (अ) और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् को ही ऊठ् आदेश करने पर—'ऊः, उवौ, उवः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। पूर्ववत् अजादि विभक्तियों में **अचि श्नु०** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है। अङ्ग के अनेकाच् न होने से **ओः सुँपि** (२१०) द्वारा यण् नहीं होता।

मूः (मवनम् मूः, बांधना)। मव् धातु से क्विँप् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् ऊठ् आदेश करने से—मूः, मुवौ, मुवः।[2]

अनुनासिक परे का उदाहरण है—ओम्। यहां अव् धातु से **अवतेष्टिलोपश्च** (उणा० १.१३९) इस औणादिक सूत्र से मन् (म) प्रत्यय तथा प्रत्यय की टि (अ) का लोप हो कर—अव्+म्। अब मकार अनुनासिक के परे होने पर अव् की उपधा और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् के स्थान पर ऊठ् आदेश कर आर्धधातुकगुण करने से 'ओम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अवतीति ओम् (संसार का रक्षक अर्थात् परमेश्वर)। स्वरादियों मे पाठ के कारण यह अव्यय है (३६७)।

झलादि कित् के उदाहरण—जूर्तिः, स्रूतिः, तूर्तिः, तूर्णः, तूर्णवान्। ये क्तिन्, क्त और क्तवतुँ के उदाहरण हैं। सब जगह झलादि कित् के परे होने से ऊठ् आदेश हो जाता है। तूर्णः, तूर्णवान् में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से निष्ठा के तकार को नत्व हो कर णत्व हो जाता है।

झलादि ङित् का उदाहरण नहीं मिलता। भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि यहां पर केवल 'झलि' की ही अनुवृत्ति लानी चाहिये 'क्ङिति' की नहीं। क्योंकि झलादि अक्ङित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—अव् धातु से **सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्** (उणा० १.६९) द्वारा तुन् प्रत्यय हो कर ऊठ् और गुण करने से 'ओतुः' (बिलाव) प्रयोग सिद्ध होता है। सम्भवतः वरदराज ने

---

१. **पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः** (भागवत० २.७.३७)।
अदृश्यतूर्भिः = अलक्ष्यवेगाभिः—(श्रीधरः)।

२. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि त्वर् आदि से सम्पदादित्वात् होने वाला क्विँप् भाव तथा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक में ही हुआ करता है। यदि कर्तरि क्विँप् अभीष्ट हो तो **क्विँप् च** (८०२) सूत्र से क्विँप् होगा। ऊठ् आदि की प्रक्रिया तब भी इसी प्रकार होगी।

इसे बालोपयोगी न समझते हुए इस का यहां अनुसरण नहीं किया। अथवा उन का विचार होगा कि **उणादयो बहुलम्** (८४८) में बहुल ग्रहण के कारण 'ओतुः' में ऊठ् की उपपत्ति हो जायेगी अतः इस प्राचीन प्रचलित सूत्रार्थ में फेर-फार करना उचित नहीं है।

अब एक अन्य निपातन का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६६) इच्छा ।३।३।१०१॥

इषेर्निपातोऽयम् ॥

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'इच्छा' प्रयोग साधु होता है।

व्याख्या—इच्छा ।१।१। स्त्रियाम् ।७।१। (**स्त्रियां क्तिन्** से)। भावे ।७।१। (**भावे** से)। यहां पर प्रयोगवशात् **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** का सम्बन्ध नहीं होता केवल **भावे** ही सम्बद्ध रहता है। अर्थः—(स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में (इच्छा) 'इच्छा' शब्द निपातित किया जाता है।

इच्छा (एषणम् इच्छा, अभिलाषा) शब्द मे आचार्य ने इष् (इषुँ इच्छायाम्, तुदा० प०) धातु से श प्रत्यय कर उसके शित्त्व के कारण **सार्वधातुके यक्** (७५२) द्वारा प्राप्त यक् का अभाव निपातन किया है। शेष कार्य स्वतः प्राप्त हैं ही। तथाहि—इष्+श=इष्+अ—यहां शित् के परे होने से **इषुँ-गमि-यमां छः** (५०४) से षकार को छकार, **छे च** (१०१) सूत्र से तुँक् आगम और **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व हो कर—इच्छ्+अ='इच्छ' इस स्थिति में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'इच्छा' प्रयोग सिद्ध होता है। करण कारक में इसी धातु के 'इष्टिः' प्रयोग का पहले उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु यह निपातन केवल भाव में ही इष्ट है अन्य किसी कारक में नहीं।

अब स्त्र्यधिकार के एक अन्य सुप्रसिद्ध प्रत्यय 'अ' का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६७) अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२॥

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियाम् अकारः प्रत्ययः स्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या ॥

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में प्रत्ययान्त धातु से परे 'अ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—अ ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। प्रत्ययात् ।५।१। स्त्रियाम् ।७।१। (**स्त्रियां क्तिन्** से)। भावे ।७।१। (**भावे** से)। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'प्रत्ययात्' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'प्रत्ययान्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(प्रत्ययात्=प्रत्ययान्तात्) प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अ) 'अ' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक

में । जब किसी धातु से परे सन्, यङ्, यक् आदि अथवा किसी प्रातिपदिक से काम्यच् आदि प्रत्यय किये जाते हैं तो वह **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञक हो जाता है । तब उस धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'अ' प्रत्यय विधान किया जाता है । यह क्तिन् का अपवाद है । उदाहरण यथा—

चिकीर्षा (कर्तुमिच्छा—चिकीर्षा, करने की इच्छा) । 'डुकृञ् करणे' (तना० उ०) धातु से सन् प्रत्यय करने पर द्वित्व आदि कार्य हो कर 'चिकीर्ष' रूप बनता है (देखें सन्नन्तप्रक्रिया पृ० ६२४) । इस की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा है । अब सन्प्रत्ययान्त इस चिकीर्ष धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में प्रकृत-सूत्र से 'अ' प्रत्यय हो कर— चिकीर्ष+अ । **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से 'अ' प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा है अतः इस के परे रहते **अतो लोपः** (४७०) से सन् के अकार का लोप हो कर—चिकीर्ष्+अ=चिकीर्ष । पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने से 'चिकीर्षा' यह आबन्त शब्द निष्पन्न होता है । अब इस आबन्त शब्द से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) के अधिकार में सुँ आदियों की निष्पत्ति होती है । प्रथमा के एकवचन में सुँ के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से लोप हो कर 'चिकीर्षा' प्रयोग सिद्ध होता है । इस का उच्चारण रमाशब्द की तरह जानना चाहिये ।

इसी प्रकार—(१) पठितुमिच्छा—पिपठिषा (पढ़ने की इच्छा) । (२) द्रष्टु-मिच्छा—दिदृक्षा (देखने की इच्छा) । (३) जीवितुमिच्छा—जिजीविषा (जीने की इच्छा) । (४) गन्तुमिच्छा—जिगमिषा (जाने की इच्छा) । (५) हर्तुमिच्छा—जिहीर्षा (हरने की इच्छा) । (६) पातुमिच्छा-पिपासा (पीने की इच्छा) । (७) लब्धुमिच्छा—लिप्सा (पाने की इच्छा) । (८) श्रोतुमिच्छा—शुश्रूषा (सुनने की इच्छा) । (९) भोक्तुमिच्छा—बुभुक्षा (खाने की इच्छा) । (१०) आरब्धुमिच्छा—आरिप्सा (आरम्भ करने की इच्छा) । (११) वस्तुमिच्छा—विवत्सा (रहने की इच्छा) । (१२) वक्तुमिच्छा—विवक्षा (कहने की इच्छा) । (१३) हन्तुमिच्छा—जिघांसा (मारने की इच्छा) । (१४) हातुमिच्छा—जिहासा (छोड़ने की इच्छा) । (१५) स्थातुमिच्छा—तिष्ठासा (ठहरने की इच्छा) आदि प्रयोग बनते हैं ।

पुत्रकाम्या (आत्मनः पुत्रस्यैषणम्—पुत्रकाम्या, अपने लिये पुत्र की कामना करना) । पीछे नामधातुप्रक्रिया में पुत्रशब्द से **काम्यच्च** (७२५) सूत्रद्वारा काम्यच् प्रत्यय कर 'पुत्रकाम्य' शब्द सिद्ध किया गया था । **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से उस की धातुसंज्ञा है अतः उस से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में 'अ' प्रत्यय हो कर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'पुत्रकाम्या' शब्द निष्पन्न होता है । अब आबन्त होने के कारण इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में सकार का हल्ङ्यादिलोप हो कर—'पुत्रकाम्या' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला रमाशब्दवत् समझनी चाहिये । **अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया**—(रघु० १.३५) ।

इसी प्रकार—लू+यङ्=लोलूय धातु से—लोलूया (बार बार काटना); पू+यङ्=पोपूय धातु से—पोपूया (बार बार पवित्र करना); व्रज्+यङ्=वाव्रज्य धातु से—वाव्रज्या (टेढ़ामेढ़ा जाना); रुद्+यङ्=रोरुद्य धातु से—रोरुद्या (बार बार रोना); क्रम्+यङ्=चङ्क्रम्य धातु से—चङ्क्रम्या (कुटिल रीति से आगे बढ़ना); **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (७३०) से यक्प्रत्ययान्त कण्डूय धातु से—कण्डूया (खुजली करना); सपर्य से—सपर्या (पूजा, सेवा) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि णिजन्त भी यद्यपि **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से प्रत्ययान्त धातु होते हैं तथापि उन से प्रकृतसूत्रद्वारा 'अ' प्रत्यय न हो कर उस का अपवाद **ण्यास-श्रन्थो युच्** (८६९) इस वक्ष्यमाणसूत्रद्वारा युच् प्रत्यय हो जाता है—कारणा (कराना), हारणा (हराना), चोरणा (चुराना)[1], गणना (गिनना) आदि। इन की सिद्धि उसी सूत्र पर देखें।

अब एक अन्य सूत्रद्वारा इसी 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६८) गुरोश्च हलः ।३।३।१०३॥

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः स्यात्। ईहा॥

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में हलन्त गुरुमान् धातु से परे 'अ' प्रत्यय होता है।

व्याख्या—गुरोः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। हलः ।५।१। अ ।१।१। (**अ प्रत्ययात्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पूर्वतः उपलब्ध हैं। 'हलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'हलन्ताद् धातोः' बन जाता है। 'गुरोः' भी 'धातोः' का विशेषण है परन्तु असम्भव होने से इस से तदन्तविधि नहीं होती क्योंकि हलन्त धातु कभी गुर्वन्त नहीं हो सकती। अतः इसे मत्वर्थीय मान कर 'गुरुमतः' बना लिया जाता है[2]। अर्थः—(हलः=हलन्तात्) हल् जिस के अन्त में है ऐसी (गुरोः=गुरुमतः) गुरुवर्ण से युक्त (धातोः) धातु से (परः) परे (अ) 'अ' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में। यह सूत्र क्तिन् का अपवाद है।

---

१. **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) इत्यत्र छत्रादिगणे चुराशब्दस्य दर्शनात् 'चुरा' इति प्रयोगोऽपि साधुः। तत्र निपातनाद् अङ् प्रत्ययो बोध्यः। अथवा—अप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यः।

२. यदि कोई कहे कि 'गुरोः' से तदन्तविधि तथा 'हलः' को मतुबन्त मान कर—'गुर्वन्त हल् वाली धातु से' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाये? तो यह उचित न होगा। क्योंकि इस प्रकार मानने से आचार्य के 'चेष्टा, आशंसा' आदि प्रयोग [**गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि** (२.३.१२); **आशंसायां भूतवच्च** (३.३.१३२)] उपपन्न नहीं हो सकते अतः उपर्युक्त प्रकारेण मानना ही ठीक है अन्यथा नहीं।

दीर्घ वर्ण अथवा संयोग परे होने पर लघु वर्ण भी गुरुसंज्ञक होता है यह (४४९,४५०) सूत्रों पर बताया जा चुका है। ईह् (चेष्टा करना, चाहना), ईक्ष् (देखना), चेष्ट् (चेष्टा करना) आदि धातुएं हलन्त भी हैं और गुरुमान् भी। अतः प्रकृतसूत्रद्वारा इन धातुओं से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'अ' प्रत्यय हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से—ईहा,[1] चेष्टा, ईक्षा (देखना), प्रतीक्षा आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—ऊह् से—ऊहा (तर्क); खेल् से—खेला (खेलना); भिक्ष् से—भिक्षा (भीख); शिक्ष् से—शिक्षा (उपदेश); हिंस् से—हिंसा (मारना); लस्ज् से—लज्जा (शरम); आ √काङ्क्ष् से—आकाङ्क्षा; कुण्ड् से—कुण्डा (दाह); शिञ्ज् से—शिञ्जा (धनुष की डोरी); भाष् से—भाषा, परिभाषा; वाञ्छ् से—वाञ्छा (इच्छा); क्रीड् से—क्रीडा (खेल); शङ्क् से—शङ्का (संशय, शक); अर्च् से—अर्चा (पूजा, कर्मणि—प्रतिमा); श्लाघ् से—श्लाघा (आत्मप्रशंसा); रक्ष् से—रक्षा (बचाना) आदि अनेक प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र में 'हलन्त' धातु कहने से नी आदि अजन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय नहीं होता, क्तिन् ही होता है—नीतिः, रीतिः, भूतिः, पीतिः, सशीतिः (संशय) आदि। 'गुरुमान्' कहने से भज् आदि गुरुहीन हलन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय न हो कर क्तिन् ही होता है—भक्तिः, शक्तिः, बुद्धिः आदि।

निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम् (वा० ३.३.९४) इस वार्तिक के अनुसार जो धातु निष्ठा में सेट् हो उस हलन्त गुरुमान् धातु से ही 'अ' प्रत्यय का विधान माना गया है अन्यों से नहीं। यथा—आप् (आप्लृँ व्याप्तौ स्वा० उभय० अनिट्) धातु हलन्त गुरुमान् तो है पर निष्ठाप्रत्ययों में सेट् न हो कर अनिट् है अतः इस से 'अ' प्रत्यय नहीं होगा क्तिन् ही होगा—आप्तिः, प्राप्तिः, सम्प्राप्तिः, व्याप्तिः। दीप् (दीपीँ दीप्तौ दिवा० आत्मने० सेट्) धातु ईदित् होने से निष्ठा में **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से अनिट् है अतः इस से 'अ' न हो कर क्तिन् होगा—दीप्तिः।

अब इस स्त्रीप्रकरण के अन्य सुप्रसिद्ध प्रत्यय युच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६९) ण्यास-श्रन्थो युच् ।३।३।१०७॥

अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा॥

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में ण्यन्त (णि जिन के अन्त में है) धातुओं तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से परे युच् प्रत्यय हो जाता है। **अकारस्य०**—यह सूत्र पूर्वोक्तसूत्रद्वयद्वारा प्राप्त 'अ' प्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—णि-आस-श्रन्थः ।५।१। युच् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पीछे से अधिकृत एवम् उपलब्ध हैं। 'ण्यासश्रन्थः' यह 'धातोः' का विशेषण है। 'णि' (णिच्, णिङ्) यह प्रत्यय है अतः

---

१. **इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः** इत्यमरः।

इस से तदन्तविधि हो कर 'ण्यन्ताद् धातोः' बन जाता है। आस् और श्रन्थ् तो धातुएं हैं ही। अर्थः—(ण्यासश्रन्थः) ण्यन्त तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से (परः) परे (युच्) युच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्वविशिष्ट (भावे) भाव तथा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में। युच् में चकार इत्संज्ञक है, 'यु' मात्र शेष रहता है। चित्करण **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये किया गया है। ण्यन्त दो प्रकार के होते हैं—स्वार्थिक णिजन्त तथा हेतुमण्णिजन्त। यहां दोनों प्रकार के अभीष्ट है। आस् से 'आसँ उपवेशने' (बैठना) इस आदादिक आत्मनेपदी धातु का तथा श्रन्थ् से 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' (ढीला करना, प्रसन्न होना) इस क्र्यादिगणीय परस्मैपदी धातु का ग्रहण होता है। ण्यन्तों से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा तथा आस् और श्रन्थ् से **गुरोश्च हलः** (८६८) द्वारा 'अ' प्रत्यय प्राप्त था उस का यह युच् अपवाद है अतः लघुकौमुदीकार लिखते हैं—**अकारस्यापवादः।**

ण्यन्तों के उदाहरण यथा—कारणा (कराना, प्रेरणा), हारणा (हराना)। 'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) तथा 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उभय०) धातुओं से **हेतुमति च** (७००) द्वारा हेतुमण्णिच् हो कर वृद्धि-रपर करने से—कारि, हारि। **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से ये दोनों धातुसंज्ञक हैं। प्रत्ययान्त होने के कारण स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि में इन से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा 'अ' प्रत्यय प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का बाध कर युच् प्रत्यय प्रवृत्त हो जाता है—कारि+यु, हारि+यु। **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश तथा **णेरनिटि** (५२६) से णि का लोप करने से—कार्+अन=कारन, हार्+अन=हारन। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार आदेश, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—कारणा, हारणा। अब आबन्तत्वात् सुँ विभक्ति ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) से लोप हो कर 'कारणा, हारणा' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार—चोरि (चुर्+णिच्) से—चोरणा (चुराना); गणि (गण्+णिच्) से—गणना (गिनना); सान्त्वि (सान्त्व्+णिच्) से—सान्त्वना (दिलासा); लक्षि (लक्ष्+णिच्) से—लक्षणा (शब्दशक्तिविशेष); कामि (कम्+णिङ्) से—कामना (इच्छा); वञ्चि (वञ्च्+णिच्) से—वञ्चना (ठगना); मन्त्रि (मन्त्र्+णिच्) से—मन्त्रणा (सलाह); यन्त्रि (यन्त्र्+णिच्) से—यन्त्रणा (पीडा); चोदि (चुद्+णिच्) से—चोदना (प्रेरणा); रसि (रस्+णिच्) से—रसना (जिह्वा, रसयत्यनयेति); अर्हि (अर्ह्+णिच्) से—अर्हणा (पूजा, **पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समा** इत्यमरः); अर्चि (अर्च्+णिच्) से—अर्चना (पूजा); भौवादिक से—अर्चा (**गुरोश्च हलः** ८६८); कल्पि (कृप्+णिच्) से—कल्पना (रचना आदि); गर्हि (गर्ह्+णिच्) से गर्हणा (निन्दा) आदि अनेक प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

आसना (बैठना, अथवा आस्यतेऽत्रेति—जहां बैठा जाता है, आसन आदि)।

'आसँ उपवेशने' धातु हलन्त गुरुमान् है अतः इस से भाव या अधिकरण में **गुरोश्च हलः** (८६८) से 'अ' प्रत्यय प्राप्त है। परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का बाध हो कर युच् प्रत्यय हो जाता है। यु को अन आदेश, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'आसना' प्रयोग सिद्ध होता है। उपपूर्वक—उपासना। **उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यत इति नैषधे** (१.३४)।

श्रन्थना (ढीला करना)। यहां पर 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' धातु से भाव में पूर्ववत् **गुरोश्च हलः** (८६८) से प्राप्त 'अ' प्रत्यय का बाध कर प्रकृतसूत्र से युच् हो कर अन आदेश, टाप्, सवर्णदीर्घ और विभक्तिकार्य करने पर 'श्रन्थना' प्रयोग सिद्ध होता है।

चिन्ता, कथा, कुम्बा (आच्छादन), पूजा, चर्चा आदि शब्द चिन्ति आदि ण्यन्त धातुओं से परे अङ् प्रत्यय करने से सिद्ध होते हैं—(देखें—**चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च** ३.३.१०५)।

क्षमा, त्रपा, भिदा, छिदा, तुला, जरा, पीडा, रुजा आदि अनेक शब्दों में भी अङ् प्रत्यय किया जाता है (देखें—**षिद्भिदादिभ्योऽङ्** ३.३.१०४)।

लघुकौमुदी में यह स्त्र्यधिकार प्रकरण यहां पर समाप्त समझना चाहिये। इस से आगे 'स्त्रियाम्' का सम्बन्ध नहीं होता। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** तथा **भावे** की भी पीछे से आ रही अनुवृत्ति समाप्त समझनी चाहिये। अत एव अग्रिम **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्र में नये सिरे से 'भावे' का ग्रहण किया गया है।

अभ्यास (११)

(१) ऊति आदि छः शब्द कौन कौन से हैं ? निपातन से इन में क्या क्या कार्य सिद्ध किया जाता है ?

(२) सम्पदादि छः शब्दों का सार्थ उल्लेख करें।

(३) **क्तिन्नपीष्यते** यह वचन कहां पर किस प्रसङ्ग में कहा गया है ? सोदाहरण व्याख्या करें।

(४) 'पूनिः' पाठ पर एक विस्तृत टिप्पण लिखें।

(५) क्तिन् प्रत्यय में अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाएं।

(६) क्तिन् को निष्ठावत् अतिदेश करने का क्या प्रयोजन है सोदाहरण लिखें ?

(७) सेट् धातुओं से परे भी क्तिन् को इट् आगम क्यों नहीं होता ?

(८) क्तिन् कैसे घञ् का अपवाद है ? यह अच् और अप् का अपवाद क्यों नहीं ? अपवाद न होते हुए भी यह अच् और अप् का बाध कैसे कर लेता है ? सोदाहरण समझाइये।

(९) ज्वरत्वर० में 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन करना चाहिये या नहीं ?

(१०) णिजन्तों से क्या **अ प्रत्ययात्** द्वारा 'अ' प्रत्यय हो जायेगा ?

(११) 'गुरोश्च हलः' में 'हलः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

क (there are two क्त's) this one demonstrates the past participle

(१२) 'निष्ठायां सेट् इति वक्तव्यम्' वार्त्तिक का क्या प्रयोजन है ?
(१३) 'इच्छा' में क्या कार्य निपातन द्वारा सिद्ध किया गया है ?
(१४) 'जूर्' और 'ऊ' शब्दों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें ।
(१५) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या लिखें—
गुरोश्च हलः; अ प्रत्ययात्; ज्वरत्वर०; सम्पदादिभ्यः क्विँप् ।
(१६) निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
[क] ऊतिः, सम्पत्, कारणा, ईहा, चिकीर्षा, कृतिः, लूनिः, जूः, इच्छा, वाञ्छा ।
[ख] कीर्त्तिः, सातिः, पुत्रकाम्या, स्थितिः, गतिः, रक्षा, उपलब्धिः, इष्टिः, आसना, चिन्ता, शुद्धिः, पीतिः ।
(१७) कर्तृभिन्न कारक में क्तिन् के पांच उदाहरण विग्रहनिर्देशपूर्वक दीजिये ।

——:o:——

अब भाव में सुप्रसिद्ध प्रत्यय क्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७०) नपुंसके भावे क्तः ।३।३।११४।।

अर्थः—नपुंसकत्वविशिष्ट भाव में धातु से परे क्त प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नपुंसके ।७।१। भावे ।७।१। क्तः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । अर्थः—(नपुंसके) नपुंसकत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (धातोः) धातु से (परः) परे (क्तः) क्त (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । पीछे भावसामान्य में घञ् प्रत्यय (८५१) कह चुके हैं । स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन् (८६३) तथा नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव मे प्रकृतसूत्र से क्त—ये दोनों उस के अपवाद हैं । इस प्रकार पारि-शेष्यात् पुंस्त्वविशिष्ट भाव में ही घञ् को अवकाश मिलता है । पीछे निष्ठाप्रकरण में भी भाववाच्य मे क्त का विधान किया जा चुका है । वह विधान भूतकालविशिष्ट भाव में था परन्तु यहां कालसामान्य में क्त का विधान किया गया है—यह अन्तर यहां हृदयङ्गम कर लेना चाहिये ।

उदाहरण यथा—हसितम् (हंसना) । यहां हस् (हसँ हसने; भ्वा० प० सेट्) धातु से नपुंसकभाव में प्रकृतसूत्र से क्त प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप तथा **आर्ध-धातुकं शेषः** (४०४) से आर्धधातुकसंज्ञा हो कर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम करने से—हस्+इट् त=हस्+इत=हसित । अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'हसितम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार—शी से गुण[1] और अयादेश हो कर—शयितम् (सोना); वि-पूर्वक लस् से—विलसितम् (चमकना); रुद् से—रुदितम् (रोना); ज्वल् से—ज्वलि-

---

१. **निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः** (१.२.१९) इति वचनाद् निष्ठाया अकि-त्त्वम् । तेन गुणः ।

तम् (जलना); गम् से—गतम्[1] (जाना); स्था से—स्थितम्[2] (ठहरना); नृत् से नृत्तम्[3] (नाचना); प्रपूर्वक लप् से—प्रलपितम् (प्रलाप) आदि सिद्ध होते हैं।

विद्युतो विलसितम् (बिजली का चमकना), छात्रस्य हसितम् (छात्र का हंसना), नटस्य भुक्तम् (नट का खाना), शिशोः शयितम् (बच्चे का सोना), मयूरस्य नृत्तम् (मोर का नाचना), कोकिलस्य व्याहृतम् (कोयल का कूकना), मतङ्गजस्य गतम् (हाथी का गमन)—इत्यादि स्थानों पर कर्ता में भी शेष की विवक्षा के कारण **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी समझनी चाहिये। इन स्थानों पर कृद्योग के कर्ता में **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से षष्ठी का निषेध हो कर अनभिहित कर्त्ता में तृतीयाविभक्ति प्राप्त होती थी परन्तु **क्तस्य च वर्तमाने** (२.३.६७) सूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से ऐसे स्थानों पर केवल शेष की ही विवक्षा मानी जाती है कर्तृत्व की नहीं। (देखें—The Students' Guide to Sanskrit, by V. S. Apte. Page 105)

नपुंसकत्वविशिष्ट भाववाची इस क्त के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्** (महा० उद्योग० १३३.१५)।
[देर तक धूँआ देने की अपेक्षा थोड़े काल तक भी जलना श्रेष्ठ होता है]।

(२) **उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्** (रघु० २.१८)।
[वे दोनों (नन्दिनी और दिलीप) अपने सुन्दर गमनों से तपोवन के मार्ग को अलङ्कृत करते थे। गतम्=गमनम्]।

(३) **नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्** (मालविकाग्नि० २.६)।
[इसकी निश्चलमुद्रा इस के नृत्य से भी अधिक आकर्षक है]।

(४) **अधि रामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम्।**
इत्युक्त्वा मैथिली तूष्णीमासांचक्रे दशाननम्॥ (भट्टि० ८.९३)
[जिस राम में पराक्रम स्वस्वामिभावसम्बन्ध से रहता है वह राम तेरा नाश करेगा—इस प्रकार रावण को कह कर मैथिली चुप हो गई। परा √क्रम्+क्त=पराक्रान्तम्। उदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठाया इण्निषेधः। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घः। अनुस्वार-परसवर्णौ]।

(५) **आशितम्भवमुत्कृष्टं वल्गितं शयितं स्थितम्।**
बह्वमन्यत काकुत्स्थः कपीनां स्वेच्छया कृतम्॥ (भट्टि० ६.१०६)
[अपनी इच्छा से किये गये वानरों के खाने, किलकारी मारने, दौड़ने, लेटने और ठहरने को देख कर रामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए]।

---

१. **अनुदात्तोपदेशवनति०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।
२. **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) इति इत्वम्।
३. नृतीँ गात्रविक्षेपे (दिवा० प०)। **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

(६) **मन्दगतः पक्षी** । (भट्टि० ७.७६) ।
[मन्दं गतं गमनं यस्य स मन्दगतः] ।

(७) **तस्या गतं सविलासम्** (आप्टे०) । [उस की चाल आकर्षक है] ।

(८) अलं रुदितेन; अलं प्रलपितेन; अलं जल्पितेन; अलं बहुभाषितेन इत्यादि[1] ।

नोट —अनेक वैयाकरण इस क्त प्रत्यय का अकर्मक धातुओं से ही विधान मानते हैं। उन के मतानुसार जहां कहीं सकर्मक धातुओं से इस का प्रयोग देखा जाता है वहां कर्म अविवक्षित होता है।

अब दूसरे सुप्रसिद्ध भाववाचक ल्युट् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७१) ल्युट् च ।३।३।११५।।**

हसितम्[2] । हसनम् ।।

अर्थः—नपुंसकत्वविशिष्ट भाव में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय हो।

व्याख्या —ल्युट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । नपुंसके ।७।१। भावे ।७।१। (**नपुंसके भावे क्तः** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः (नपुंसके) नपुंसकत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (धातोः) धातु से (परः) परे (ल्युट्) ल्युट् (प्रत्ययः) प्रत्यय (च) भी हो जाता है।

ल्युट् प्रत्यय के लकार और टकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते है, 'यु' मात्र शेष रहता है जिसे **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश हो जाता है। ल्युट् में लकार **लिति** (६.१.१८७) स्वर के लिये तथा टकार **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) द्वारा ङीप् विधान के लिये जोड़ा गया है—राजधानी, गोदोहनी। यहां अधिकरण में ल्युट् है।

उदाहरण यथा—हसनम् (हंसना) । हस् (हसेँ हसने; हंसना; भ्वा० प०) धातु से नपुंसकत्वविशिष्ट भाव मे प्रकृतसूत्र से ल्युट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—हस्+यु । **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो कर—हस्+अन =हसन । **भावे ल्युडन्तः** (लिङ्गानु० ११६) लिङ्गानुशासनीय इस वचन के अनुसार भाव मे ल्युडन्त शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं अतः यहां नपुंसक में सुँ को

---

१. **गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तेः प्रयोजिका**—इस वचन के अनुसार वाक्यार्थ से प्रतीत होने वाली क्रिया भी कारकविभक्ति में निमित्त हो जाती है। यहां गम्यमाना साधन (सिद्ध होना) क्रिया के रुदित (रोना) आदि करण हैं अतः इन में तृतीया विभक्ति हुई है। 'अलम्' निषेध का वाचक है। 'अलं रुदितेन' का अभिप्राय है—रोने से कुछ सिद्ध न होगा अर्थात् मत रोओ। इसी अर्थ में वक्ष्यमाण (८७१) सूत्र से ल्युट् का भी प्रयोग होता है —अलं रोदनेन।

२. यह पिछले **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्र का उदाहरण है। वरदराज ने समानार्थक होने से दोनों प्रत्ययों के उदाहरण इकट्ठे दे दिये हैं।

अतोऽम् (२३४) द्वारा अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'हस-नम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का उच्चारण ज्ञानशब्द की तरह होता है—हसनम्, हसने, हसनानि आदि। इसी प्रकार —गमनम्, पठनम्, चलनम्, धावनम् आदि समझने चाहियें।

ल्युट् आर्धधातुक प्रत्यय है अतः इस के परे होने पर यथायोग्य इग्लक्षण गुण या लघूपधगुण हो जाता है। यथा—श्रु+ल्युट्=श्रु+यु=श्रु+अन=श्रो+अन—श्रवणम् (सुनना); पिष्+ल्युट्=पिष्+यु=पिष्+अन=पेषणम् (पीसना); भू+ल्युट्=भवनम् (होना); नी+ल्युट्—नयनम् (ले जाना); शुध्+ल्युट्=शोधनम् (शुद्ध होना)। ल्युट् की विवक्षामात्र में **अस्तेर्भूः** (५७६) से अस् को भू तथा **ब्रुवो वचिः** (५९६) से ब्रू को वच् आदेश हो जाता है। अस्—भू+ल्युट्=भवनम् (होना); ब्रू—वच्+ल्युट्=वचनम् (कहना)।

ल्युट् प्रत्यय के परे रहते णिजन्त धातुओं के णिच् का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है। यथा—चोरि+ल्युट्=चोर्+अन=चोरणम्[1] (चुराना); पाठि+ल्युट्=पाठनम् (पढ़ाना); श्रावि+ल्युट्=श्रावणम् (सुनाना); पाचि+ल्युट्=पाचनम् (पकवाना); अध्यापि+ल्युट्=अध्यापनम् (पढ़ाना); गणि+ल्युट्=गणनम् (गिनना); कथि+ल्युट्=कथनम् (कहना); स्थापि+ल्युट्=स्थापनम् (रखना)[2]।

---

१. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब णिच् का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार णिच् के कारण उत्पन्न 'चोर्' में हुए लघूपधगुण का भी अपाय (नाश) हो कर 'चुरणम्' बनना चाहिये। यदि ल्युट् को मान कर पुनः लघूपधगुण करेंगे तो **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (६९६) से परनिमित्तक णिच्लोप स्थानिवत् हो बीच में आ कर व्यवधान उत्पन्न कर उसे रोक देगा। इस तरह भी 'चुरणम्' ही बनेगा 'चोरणम्' नहीं। इस का समाधान यह है कि प्रथम तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** न्याय ही सार्वत्रिक नहीं है। लक्ष्यसिद्धि के लिये ही इस न्याय का आश्रय किया जाता है लक्ष्य बिगाड़ने के लिये नहीं। अत एव मुनीनाम्, साधूनाम्, पितॄणाम् आदि में **नामि** (१४९) द्वारा ह्रस्व को दीर्घ कर देने पर भी ह्रस्वनिमित्तक नुँट् की निवृत्ति नहीं होती। लोक में भी घट के निमित्त कुम्भकार आदि के अपाय (नाश) हो जाने पर भी तन्निमित्तक घट का नाश नहीं देखा जाता। दूसरी बात यह है कि लुप्त हुए णिच् को प्रत्ययलक्षणद्वारा या स्थानिवद्भाव के द्वारा मान कर पुनः गुण आदि हो जायेंगे। अतः कोई दोष प्रसक्त न होगा। इस प्रकार 'चोरणम्' ही बनेगा 'चुरणम्' नहीं।

२. अनेक स्थानों पर साधारण धातुओं तथा हेतुमण्णिजन्त धातुओं के रूप एक समान बनते हैं। यथा—कृत्-कर्तनम् (काटना), कर्ति—कर्तनम् (कटवाना)। ध्वंस्—ध्वंसनम् (नष्ट होना), ध्वंसि—ध्वंसनम् (नष्ट करना)। दृश्—दर्शनम् (देखना),

ल्युट् प्रत्यय कित् नहीं है अतः इस के परे रहते धातु को सम्प्रसारण आदि नहीं होता । यथा—ग्रह्+ल्युट्=ग्रहणम्; यज्+ल्युट्=यजनम्; स्वप्+ल्युट्= स्वपनम्; वप्+ल्युट्=वपनम् ।

यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि इस कृत्संज्ञक-ल्युडन्त के योग में **कर्तृ-कर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्त्ता या कर्म मे षष्ठी विभक्ति हो जाती है । यथा —भिक्षोर्हसनम्, शिशोः क्रन्दनम्, अहेः सर्पणम् आदि में कर्ता में तथा शिवस्य वन्दनम्, गिरेर्लङ्घनम्, अन्नस्य भक्षणम् आदि में कर्म में षष्ठी हुई है । यदि किसी वाक्य में कर्ता और कर्म दोनों का प्रयोग हो तो **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२.३.६६) से केवल कर्म में ही षष्ठी विभक्ति आती है कर्त्ता में नहीं । अनभिहित कर्त्ता में तब **कर्तृकरणयो-स्तृतीया** (८९५) द्वारा तृतीया विभक्ति हो जाती है । यथा--यज्ञदत्तेन पयसः पानं मे न रोचते (मुझे यज्ञदत्त का दूध पीना अच्छा नहीं लगता) ।

ल्युट् प्रत्यय धातुमात्र से किया जाता है । अनुवाद आदि मे प्राथमिक विद्या-र्थियों के लिये ल्युडन्त प्रयोग बड़े उपयोगी रहते हैं । अतः यहां हम अत्युपयोगी ल्युडन्तों की एक बृहत्-तालिका अर्थसहित दे रहे हैं[1]—

धातु ल्युडन्त अर्थ	धातु ल्युडन्त अर्थ
१. (अट्) अटन, पर्यटन (घूमना)	१०. (अस्) भवन (होना) । [**अस्तेर्भूः**]
२. (अद्) अदन (खाना)	११. (आप्) प्रापण (पाना)
३. (अय्) पलायन[2] (भागना)	१२. (आस्) उपासन (निकट बैठना)
४. (अर्च्) अर्चन (पूजा करना)	१३. (इ) अयन (जाना) [इण् गतौ]
५. (अर्जि) अर्जन, उपार्जन (कमाना)	१४. (इ) अध्ययन (पढ़ना) [इङ्]
६. (अर्थि) प्रार्थन (मांगना)	१५. (इष्) एषण (चाहना)
७. (अव्) अवन (पालना)	१६. (ईक्ष्) ईक्षण, निरीक्षण (देखना)
८. (अश्) अशन (खाना)	१७. (कथि) कथन (कहना)
९. (अस्) असन, निरसन (फेंकना)	१८. (कम्प्) कम्पन (कांपना)

दर्शि—दर्शनम् (दिखाना) । तृप्—तर्पणम् (तृप्त होना), तर्पि—तर्पणम् (तृप्त करना) । द्युत्—द्योतनम् (चमकना), द्योति द्योतनम् (चमकाना) । बुध्—बोधनम् (जानना), बोधि बोधनम् (जनाना) । अतः प्रयोगों में प्रकरण या प्रसङ्ग को विचार कर के ही इसे समझना चाहिये ।

१ इस तालिका में धातुनिर्देश करते हुए णिजन्तों का परिनिष्ठित रूप ही लिखा गया है मूल धातु नही । यथा—'चुर्' न लिख कर 'चोरि', 'कथ्' न लिख कर 'कथि', 'अर्थ्' न लिख कर 'अर्थि', 'अर्ज्' न लिख कर 'अर्जि' । किञ्च इस तालिका में उपसर्गयोग भी अपने-आप समझने चाहियें क्योंकि अनेक धातुओं के प्रसिद्धत्वात् उपसर्गयुक्त रूप ही यहा दिये गये हैं शुद्ध रूप नहीं ।

२. **उपसर्गस्यायतौ** (५३५) इति उपसर्गरेफस्य लत्वम् ।

	धातु	ल्युडन्त	अर्थ
१९.	(काश्)	प्रकाशन	(चमकना)
२०.	(कुप्)	कोपन, प्रकोपन	(क्रोध करना)
२१.	(कूज्)	कूजन	(कूजना)
२२.	(कृ)	करण	(करना); अनुकरण
२३.	(कृत्)	कर्तन	(काटना)
२४.	(कृप्)	कल्पन	(बनाना)
२५.	(कृष्)	कर्षण	(खींचना)
२६.	(क्रन्द्)	क्रन्दन	(चिल्लाना)
२७	(क्रम्)	क्रमण	(कदम बढ़ाना)
		आक्रमण	(हमला करना)
२८.	(क्री)	क्रयण	(खरीदना)
		विक्रयण	(बेचना)
२९.	(क्रीड्)	क्रीडन	(खेलना)
३०.	(क्रुध्)	क्रोधन	(क्रोध करना)
३१.	(क्वण्)	क्वणन	(शब्द करना)
३२.	(क्वथ्)	क्वथन	(काढ़ना)
३३.	(क्षर्)	क्षरण	(टपकना)
३४.	(क्षालि)	क्षालन, प्रक्षालन	(धोना)
३५.	(क्षिप्)	क्षेपण, प्रक्षेपण	(फेंकना)
३६.	(क्षुभ्)	क्षोभण	(क्षुब्ध होना)
३७.	(खण्डि)	खण्डन	(तोड़ना)
३८.	(खन्)	खनन	(खोदना)
३९.	(खाद्)	खादन	(खाना)
४०.	(खेल्)	खेलन	(खेलना)
४१.	(गणि)	गणन	(गिनना)

	धातु	ल्युडन्त	अर्थ
४२.	(गद्)	गदन	(कहना)
४३.	(गम्)	गमन	(जाना)
४४.	(गर्ज्)	गर्जन	(गरजना)
४५.	(गर्ह्)	गर्हण	(निन्दा करना)
४६.	(गवेषि)	गवेषण	(ढूंढना)
४७.	(गाह्)	गाहन	(बिलोना)
		वगाहन[1]	(स्नान करना)
४८.	(गुञ्ज्)	गुञ्जन	(गूंजना)
४९.	(गुप्)	गोपायन, गोपन[2]	(बचाना)
५०.	(गुम्फ्)	गुम्फन	(गूंथना)
५१.	(गुह्)	गूहन[3]	(छुपाना)
५२.	(गृध्)	गर्धन	(लोभ करना)
५३.	(गॄ)	गरण, निगरण[4]	(निगलना)
५४.	(गै)	गान	(गाना)
५५.	(ग्रन्थ्)	ग्रन्थन	(गूंथना)
५६.	(ग्रस्)	ग्रसन	(निगलना)
५७.	(ग्लै)	ग्लान	(मुरझाना)
५८.	(घट्)	घटन	(चेष्टा करना)
५९.	(घुष्)	घोषण	(घोषणा करना)
६०.	(घृष्)	घर्षण	(घिसना)
६१.	(घ्रा)	घ्राण	(सूंघना)
६२.	(चक्ष्)	ख्यान, आख्यान[5]	(कहना)
६३.	(चम्)	आचमन	(आचमन करना)
६४.	(चर्)	चरण, आचरण	(करना)
६५.	(चर्व्)	चर्वण	(चबाना)
६६.	(चल्)	चलन	(चलना)

---

१. भागुरिमते 'अव' इत्यस्याकारलोपः । अन्येषां मते—अवगाहनमिति ।

२. **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७) । **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) ।

३. **ऊदुपधाया गोहः** (६.४.८९) । गुणहेतावजादौ प्रत्यये गुहेरुपधाया ऊकारादेशः ।

४. 'टुवम उद्गिरणे' इति धातुपाठे निर्देशात् क्ङिति प्रत्यये परतो विहितम् इत्वं ल्युट्यपीष्टमिति केचित् । तेन गिरणम् इत्यपि साधु—इति प्रक्रियासर्वस्वे । धातुपाठेऽर्थनिर्देश आचार्यकृतो नेतीत्त्वमप्रमाणमित्यपरे ।

५. **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४) । आर्धधातुकविवक्षायां चक्षिङः ख्याञादेशः स्यात् ।

धातु ल्युडन्त अर्थ
६७. (चि) चयन (चुनना)
६८. (चिन्ति) चिन्तन (सोचना)
६९. (चुम्ब्) चुम्बन (चूमना)
७०. (चूर्णि) चूर्णन (पीसना)
७१. (चेष्ट्) चेष्टन (चेष्टा करना)
७२. (चोरि) चोरण (चुराना)
७३. (च्युत्) च्योतन (झरना, टपकना)
७४. (छर्द्) छर्दन (वमन करना)
७५. (छादि) छादन (ढांपना)
७६. (छिद्) छेदन (काटना)
७७. (जन्) जनन (पैदा होना)
७८. (जप्) जपन (जपना)
७९. (जल्प्) जल्पन (बकवाद करना)
८०. (जागृ) जागरण (जागना)
८१. (जि) जयन, विजयन (जीतना)
८२. (जीव्) जीवन (जीना)
८३. (जृम्भ्) जृम्भण (जम्भाई लेना)
८४. (ज्ञा) ज्ञान (जानना)
८५. (ज्वल्) ज्वलन (जलना)
८६. (डी) उड्डयन (उड़ना)
८७. (तक्ष्) तक्षण (छीलना)
८८. (तन्) वितनन (विस्तार करना)
८९. (तप्) तपन (तपाना, तपना)
९०. (तर्जि) तर्जन (घुड़की देना)
९१. (ताडि) ताडन (पीटना)
९२. (तुद्) तोदन (चुभोना)
९३. (तुष्) तोषण (प्रसन्न होना)
९४. (तृप्) तर्पण (तृप्त होना)
९५. (तॄ) तरण (तैरना)
वितरण (बांटना)
९६. (तोलि) तोलन (तोलना)
९७. (त्यज्) त्यजन (छोड़ना)
९८. (त्रै) त्राण (बचाना)
९९. (त्वर्) त्वरण (जल्दी करना)

धातु ल्युडन्त अर्थ
१००. (दण्डि) दण्डन (दण्ड देना)
१०१. (दंश्) दंशन (डसना)
१०२. (दम्) दमन (वश में करना)
१०३. (दल्) दलन (दलना)
१०४. (दह्) दहन (जलाना)
१०५. (दा) दान (देना), आदान (लेना)
१०६. (दिव्) देवन (जूआ खेलना)
१०७. (दीप्) दीपन (चमकना)
१०८. (दुह्) दोहन (दोहना)
१०९. (दृ) आदरण (आदर करना)
११०. (दृश्) दर्शन (देखना)
१११. (द्युत्) विद्योतन (चमकना)
११२. (द्रुह्) द्रोहण (द्रोह करना)
११३. (द्विष्) द्वेषण (द्वेष करना)
११४. (धा) विधान (करना)
११५. (धाव्) धावन (दौड़ना)
११६. (ध्मा) ध्मान (फूंकना)
११७. (ध्यै) ध्यान (ध्यान करना)
११८. (ध्वन्) ध्वनन (शब्द करना)
११९. (ध्वंस्) ध्वंसन (नष्ट होना)
१२० (नम्) नमन (झुकना)
१२१ (नर्द्) नर्दन (गरजना)
१२२. (नश्) नशन, विनशन (नाश होना)
१२३. (निन्द्) निन्दन (निन्दा करना)
१२४. (नी) नयन (ले जाना)
आनयन (लाना)
१२५. (नुद्) नोदन (प्रेरणा करना)
१२६ (नृत्) नर्तन (नाचना)
१२७. (पच्) पचन (पकाना)
१२८. (पठ्) पठन (पढ़ना)
१२९. (पत्) पतन (गिरना)
१३०. (पा) पान (पीना) [भ्वा०]
१३१ (पा) पान (रक्षा करना) [अदा०]
१३२. (पालि) पालन (पालना)

	धातु	ल्युडन्त	अर्थ
१३३.	(पिष्)	पेषण	(पीसना)
१३४.	(पीडि)	पीडन	(दुःख देना)
१३५.	(पुष्)	पोषण	(पालन करना)
१३६.	(पू)	पवन	(पवित्र करना)
१३७.	(पूजि)	पूजन	(पूजा करना)
१३८.	(प्रच्छ्)	प्रच्छन	(पूछना)
१३९.	(प्रथ्)	प्रथन	(प्रसिद्ध होना)
१४०.	(फल्)	फलन	(फल देना)
१४१.	(बन्ध्)	बन्धन	(बांधना)
१४२.	(बाध्)	बाधन	(रोकना)
१४३.	(बुध्)	बोधन	(जानना)
१४४.	(ब्रू)	वचन	(कहना)। [ब्रुवो वचिः]
१४५.	(भक्ष्)	भक्षण	(खाना)
१४६.	(भज्)	भजन	(सेवा करना)
१४७.	(भण्)	भणन	(कहना)
१४८.	(भञ्ज्)	भञ्जन	(तोड़ना)
१४९.	(भर्त्सि)	भर्त्सन	(झिड़कना)
१५०.	(भाष्)	भाषण	(बोलना)
१५१.	(भास्)	भासन	(चमकना)
१५२.	(भिक्ष्)	भिक्षण	(मांगना)
१५३.	(भिद्)	भेदन	(तोड़ना)
१५४.	(भुज्)	भोजन	(पालना, खाना)
१५५.	(भू)	भवन	(होना)
१५६.	(भूषि)	भूषण	(सजाना)
१५७.	(भृ)	भरण	(धारण करना)
१५८.	(भृज्)	भर्जन	(भूनना)
१५९.	(भ्रंश्)	भ्रंशन	(गिरना)
१६०.	(भ्रम्)	भ्रमण	(घूमना)
१६१.	(मण्डि)	मण्डन	(सजाना)
१६२.	(मथ्)	मथन	(बिलोना)

	धातु	ल्युडन्त	अर्थ
१६३.	(मन्थ्)	मन्थन	(बिलोना)
१६४.	(मन्)	मनन	(मानना)
१६५.	(मन्त्रि)	मन्त्रण	(सलाह करना)
१६६.	(मस्ज्)	निमज्जन	(गोता लगाना)
१६७.	(मा)	मान	(मापना)
१६८.	(मानि)	मानन	(पूजा करना)
१६९.	(मार्गि)	मार्गण	(ढूंढना)
१७०.	(मार्जि)	मार्जन	(साफ करना)
१७१.	(मिल्)	मेलन	(मिलना)
१७२.	(मिश्रि)	संमिश्रण	(मिलाना)
१७३.	(मिह्)	मेहन	(सींचना, मूतना)
१७४.	(मील्)	निमीलन	(नेत्र बन्द करना)
		उन्मीलन	(नेत्र खोलना)
१७५.	(मुच्)	मोचन	(छोड़ना)
१७६.	(मुण्डि)	मुण्डन	(मूंडना)
१७७.	(मुद्)	मोदन	(प्रसन्न होना)
१७८.	(मुर्छ्)	मूर्च्छन[1]	(मूर्च्छित होना)
१७९.	(मुष्)	मोषण	(चुराना ,लूटना)
१८०.	(मुह्)	मोहन	(बेसुध होना)
१८१.	(मृ)	मरण	(मरना)
१८२.	(मृज्)	मार्जन[2]	(शुद्ध करना)
१८३.	(मृद्)	मर्दन	(रगड़ना)
१८४.	(म्लै)	म्लान	(मुरझाना)
१८५.	(यज्)	यजन	(देवपूजा)
१८६.	(यत्)	यतन	(यत्न करना)
१८७.	(यन्त्रि)	नियन्त्रण	(काबू करना)
१८८.	(यम्)	नियमन	(रोकना)
१८९.	(या)	यान	(जाना) प्रयाण
१९०.	(याच्)	याचन	(मांगना)
१९१.	(युध्)	योधन	(युद्ध करना)

१. **उपधायां च** (८.२.७८) इत्युपधादीर्घे, **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) इति द्वित्वे **खरि च** (७४) इति चर्त्वम्। नात्र तुँगागम इत्यवधेयम्।

२. **मृजेर्वृद्धिः** (७८२) से वृद्धि हो जाती है।

धातु	ल्युडन्त	अर्थ
१९२. (रक्ष्)	रक्षण	(बचाना)
१९३. (रचि)	रचन	(बनाना)
१९४. (रञ्ज्)	रञ्जन	(रंगना)
१९५. (रभ्)	आरम्भण[1]	(शुरु करना)
१९६. (रम्)	रमण	(क्रीड़ा करना)
१९७. (राज्)	राजन	(चमकना)
१९८. (रुच्)	रोचन	(पसंद आना)
१९९. (रुद्)	रोदन	(रोना)
२००. (रुध्)	रोधन	(रोकना)
२०१. (रुह्)	आरोहण	(चढ़ना)
	प्ररोहण	(उगना)
२०२. (रूपि)	निरूपण	(दर्शाना)
२०३. (लङ्घ्)	लङ्घन	(भूखा रहना)
२०४. (लप्)	प्रलपन	(प्रलाप करना)
२०५. (लभ्)	लम्भन[2]	(पाना)
२०६. (लम्ब्)	आलम्बन	(आश्रय करना)
२०७. (लष्)	अभिलषण	(चाहना)
२०८. (लस्)	विलसन	(चमकना)
२०९. (लिख्)	लेखन	(लिखना)
२१०. (लिप्)	लेपन	(लीपना)
२११. (लिह्)	लेहन	(चाटना)
२१२. (लुण्ठ्)	लुण्ठन	(लूटना)
२१३. (लुभ्)	लोभन	(लोभ करना)
२१४. (लू)	लवन	(काटना)
२१५. (लोक्)	अवलोकन	(देखना)
२१६. (लोच्)	आलोचन	(देखना)
२१७. (वञ्चि)	प्रवञ्चन	(ठगना)
२१८. (वद्)	वदन	(बोलना)

धातु	ल्युडन्त	अर्थ
२१९. (वन्द्)	वन्दन	(वन्दना करना)
२२०. (वप्)	वपन	(बोना, काटना)
२२१. (वम्)	वमन	(वमन करना)
२२२. (वर्णि)	वर्णन	(वर्णन करना)
२२३. (वस्)	वसन, निवसन	(रहना) [भ्वा०]
२२४. (वस्)	आवसन	(ढांपना) [अदा०]
२२५. (वह्)	वहन	(ढोना, ले जाना)
२२६. (वाञ्छ्)	वाञ्छन	(चाहना)
२२७. (विद्)	वेदन	(जानना) [अदा०]
२२८. (विद्)	वेदन	(पाना) [तुदा०]
२२९. (विश्)	प्रवेशन	(प्रवेश करना)
२३०. (वृ)	वरण	(वरना, चुनना)
२३१. (वृज्)	वर्जन	(छोड़ना)
२३२. (वृध्)	वर्धन	(बढ़ना)
२३३. (वृष्)	वर्षण	(बरसना)
२३४. (वे)	वान	(बुनना)
२३५. (वेष्ट्)	वेष्टन	(लपेटना)
२३६. (व्रज्)	व्रजन	(जाना)
२३७. (शंस्)	प्रशंसन	(प्रशंसा करना)
२३८. (शप्)	शपन	(शाप वा गाली देना)
२३९. (शम्)	शमन	(शान्त होना)
२४०. (शास्)	शासन	(शासन करना)
२४१. (शिक्ष्)	शिक्षण	(सिखाना)
२४२. (शी)	शयन	(सोना, लेटना)
२४३. (शुच्)	शोचन	(शोक करना)
२४४. (शुध्)	शोधन	(शुद्ध होना)
२४५. (शुभ्)	शोभन	(शोभा पाना)

---

१. **रभेरशब्लिटोः** (७.१.६३)। शप् और लिट् को छोड़ कर अन्य अजादि प्रत्ययों के परे होने पर रभ् को नुँम् आगम हो जाता है। नकार को अनुस्वार (७८) और अनुस्वार को परसवर्ण (७९) हो कर मकार हो जाता है।

२. **लभेश्च** (७.१.६४)। शप् और लिट् को छोड़ कर अन्य अजादि प्रत्ययों के परे होने पर लभ् को भी नुँम् आगम हो जाता है।

	धातु	ल्युडन्त	अर्थ
२४६.	(श्रि)	आश्रयण	(आश्रय करना)
२४७.	(श्रु)	श्रवण	(सुनना)
२४८.	(श्लाघ्)	श्लाघन	(श्लाघा करना)
२४९.	(श्लिष्)	श्लेषण	(चिपटना)
२५०.	(श्वस्)	श्वसन	(सांस लेना)
२५१.	(ष्ठिव्)	ष्ठेवन[1], ष्ठीवन	(थूकना)
२५२.	(सह्)	सहन	(सहन करना)
२५३.	(सान्त्व)	सान्त्वन	(सान्त्वना देना)
२५४.	(सिच्)	सेचन	(सींचना)
२५५.	(सिव्)	सेवन, सीवन	(सीना)
२५६.	(सूचि)	सूचन	(सूचना देना)
२५७.	(सृ)	सरण	(सरकना)
२५८.	(सृज्)	सर्जन	(पैदा करना)
२५९.	(सृप्)	सर्पण	(सरकना)
२६०.	(सेव्)	सेवन	(सेवा करना)
२६१.	(स्खल्)	स्खलन	(फिसलना)
२६२.	(स्तम्भ्)	स्तम्भन	(थामना)
२६३.	(स्तु)	स्तवन	(स्तुति करना)
२६४.	(स्था)	स्थान	(ठहरना)
२६५.	(स्ना)	स्नान	(नहाना)
२६६.	(स्निह्)	स्नेहन	(स्नेह करना)
२६७.	(स्पन्द्)	स्पन्दन	(फरफराना)
२६८.	(स्पृश्)	स्पर्शन	(छूना)
२६९.	(स्मृ)	स्मरण	(याद करना)
२७०.	(स्यन्द्)	स्यन्दन	(बहना)
२७१.	(स्वप्)	स्वपन	(सोना)
२७२.	(हन्)	हनन	(मारना)
२७३.	(हस्)	हसन	(हंसना)
२७४.	(हिंस्)	हिंसन	(हिंसा करना)
२७५.	(हृ)	हरण, अपहरण	(हर लेना)

नपुंसकत्वविशिष्ट भाव के अतिरिक्त ल्युट् का प्रयोग करण और अधिकरण कारकों में भी बहुधा प्रसिद्ध है। जैसा कि पाणिनीय सूत्र है—**करणाऽधिकरणयोश्च** (३.३.११७)। अर्थात् करण और अधिकरण कारक में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—प्रवृश्च्यन्तेऽनेनेति प्रव्रश्चनः (जिस से काटते हैं)। इध्मानां प्रव्रश्चनः—इध्मप्रव्रश्चनः (जिस से लकड़ियां काटते हैं—कुल्हाड़ी)। यहां व्रश्च् (ओँव्रश्चूँ छेदने; तुदा० प० सेट्) धातु से करण में ल्युट् हो कर उसे अन आदेश हो गया है। शात्यन्तेऽनेनेति शातनः (जिस से काट गिराते हैं)। पलाशानां शातनः—पलाश-शातनः (जिस से पत्ते काट कर नीचे गिराये जाते हैं)। यहां शद्+णिच् [शाति, शदेरगतौ तः (७.३.४२)] धातु से करण में ल्युट् किया गया है। उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम् (जिस के द्वारा तुलना की जाती है)। यहां उपपूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् हुआ है। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् (जिस से देखा जाता है—चक्षुः)। यहां दृश् (दृशिर् प्रेक्षणे, भ्वा० प० अनिट्) धातु से ल्युट् किया गया है। उह्यतेऽनेनेति वाहनम् (जिस के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया जाता है, रथ आदि)। यहां 'वहँ प्रापणे' (भ्वा० उ० अनिट्) धातु से करण में ल्युट् हो कर **वाहनमाहितात्** (८.४.८) से दीर्घनिपातन किया जाता है। आवर्त्यते (सन्तप्य द्रवीक्रियते) अस्याम् इति आवर्त्तनी (जिस में तपा कर पिघलाते हैं)। तैजसां सुवर्णादीनाम् आवर्त्तनी—

---

१. ल्युटि लघूपधगुणे ष्ठेवनमिति रूपम्। चान्द्रा भोजीयाश्च ल्युटि बाहुलकादुपधादीर्घमिच्छन्ति ष्ठिवुँसिवुँधात्वोरिति माधवः। तेन ष्ठीवनम्, सीवनम् इत्यपि साधु।

'ध'

तैजसावर्त्तनी (सुवर्ण आदि जिस में पिघलाया जाता है—सुनार की मूषा-कुठाली)। यहां आङ्पूर्वक ण्यन्त 'वृतुँ वर्त्तने' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है। स्त्रीत्व में टित्त्वात् ङीप्। दुह्यन्तेऽस्यामिति दोहनी, गवां दोहनी—गोदोहनी (जिस में गौओं का दूध दोहा जाता है, पात्रविशेष)। यहां पर 'दुहँ प्रपूरणे' (अदा० उ० अनिट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है। धीयतेऽस्यामिति धानी, राज्ञो धानी—राजधानी,[1] यमस्य धानी—यमधानी[2]। यहां 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उभय० अनिट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है।

भाव, करण और अधिकरण के अतिरिक्त अन्य कारकों में भी ल्युट् हो जाता है—**कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२)। इस का विवेचन पीछे इसी सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

अब ल्युट् की तरह करण और अधिकरण में होने वाले घ प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७२) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ।३।३।११८॥

अर्थः—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के वाच्य होने पर करण और अधिकरण में धातु से परे प्रायः 'घ' प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। घः ।१।१। प्रायेण ।३।१। (प्रकृत्यादित्वात् सर्वविभक्त्यपवादस्तृतीया)। करणाधिकरणयोः ।७।२। (**करणाधिकरणयोश्च** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। करणं चाऽधिकरणं च करणाधिकरणे, तयोः=करणाधिकरणयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(पुंसि) पुंलिङ्ग में (संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य होने पर (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (धातोः) धातु से (परः) परे (प्रायेण) प्रायः (घः) घ (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से यदि संज्ञा अर्थ की प्रतीति होती हो तो करण और अधिकरण कारक में धातु से परे 'घ' प्रत्यय होता है। ऐसा शब्द पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है। उदाहरण यथा—दन्तच्छदः (ओष्ठ)। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। जिस से दान्त आच्छादित किये जाते हैं अर्थात् होंठ। 'छद अपवारणे' (ढांपना; चु० उ० सेट्) धातु से स्वार्थ में णिच् करने पर 'छादि' रूप निष्पन्न होता है। इस की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा होती है। अब दन्तकर्मक इस 'छादि' धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से 'घ' प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय का आदि घकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है[3]। अब 'छादि+अ' इस कृदन्त के योग

---

१. तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः (रघु० २.७०)।

२. नरः संसारान्ते प्रविशति यमधानी-यवनिकाम् (भर्तृ० वैराग्य० ५०)।

३. **छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य** (८७३) सूत्र से असन्दिग्ध प्रयोग के लिये प्रत्यय में घकार जोड़ा गया है। इस का अन्य कुछ प्रयोजन नहीं।

में 'दन्त' कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा षष्ठी विभक्ति आ कर 'दन्त+आम्+छादि+अ' इस अवस्था में **णेरनिटि** (५२६) सूत्र से णि का लोप हो कर—दन्त+आम्+छाद्+अ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७३) छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ।६।४।९६।।**

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः[1]। आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ॥

अर्थः—यदि 'छाद्' अङ्ग दो या दो से अधिक उपसर्गों से युक्त न हो तो उस की उपधा के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो जाता है घ प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—छादेः ।६।१। घे ।७।१। अद्व्युपसर्गस्य ।६।१। ह्रस्वः ।१।१। (**खचि ह्रस्वः** से)। णौ ।७।१। (**वोतो णौ** से)। उपधायाः ।६।१। (**ऊदुपधाया गोहः** से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। छादेरिति इका निर्देशो न तु णिचा। छाद् इत्यस्येत्यर्थः। द्वौ उपसर्गौ यस्य स द्व्युपसर्गः (बहुव्रीहि०), न द्व्युपसर्गः अद्व्युपसर्गः (नञ्समासः)। जिस के दो उपसर्ग हों उसे 'द्व्युपसर्ग' कहते हैं। 'द्वि' का यहां दो या दो से अधिक अर्थात् अनेक उपसर्गों से तात्पर्य है—ऐसा वार्त्तिककार कात्यायन का मन्तव्य है[2]। अर्थः (अद्व्युपसर्गस्य) दो या दो से अधिक उपसर्गों से जो युक्त नहीं ऐसे (छादेः) छाद् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (घे) घपरक (णौ) णि प्रत्यय परे हो तो।

'दन्त+आम्+छाद्+अ' यहां लुप्त हुए णिच् को प्रत्ययलक्षण द्वारा मान कर घपरक णि सुतरां परे मौजूद है। छाद् के साथ दो या दो से अधिक तो क्या एक भी उपसर्ग का योग नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से छाद् अङ्ग की उपधा आकार के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो कर 'दन्त+आम्+छद्+अ' हुआ। अब षष्ठीतत्पुरुषसमास में विभक्ति का लुक् करने पर—दन्तछद। **छे च** (१०१) से तुँक् का आगम तथा श्चुत्व से तकार को चकार हो कर विभक्ति लाने से 'दन्तच्छदः' प्रयोग सिद्ध होता है। घ प्रत्यय संज्ञा के विषय में हुआ है अतः 'दन्तच्छदः' ओष्ठ की संज्ञा है। **अधरो दन्तच्छद ओष्ठ उच्यते दन्तवासश्च** —इति हलायुधः (२.३६९)। दन्तच्छद का प्रयोग यथा—

नाऽऽस्यं पश्यति यस्तस्या निस्ते दन्तच्छदं न वा।
संशृणोति न चोक्तानि मिथ्याऽसौ विहितेन्द्रियः ॥ (भट्टि० ५.१९)

---

१. दन्तच्छद उरश्छद इत्यनुदाहरणे इति मे मतिः। न ह्यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन संज्ञा गम्यते। छद इत्येव प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपः शब्दः। न च तावता संज्ञा गम्यते। दन्तशब्दसमभिव्याहारेणैव तदवगमाद् इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः प्राहुः। परं सूत्रे 'प्रायेण' इत्युक्तेः सर्वक्लेशनिवृत्तिरिति परे व्याचक्षत। अत्र सुधियो विभावयन्तु।

२. **अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्** (वा०)। दो आदि उपसर्गों से रहित छाद् को ह्रस्व कहना चाहिये।

शूर्पणखा अपने भाई रावण को सीता का सौन्दर्य वर्णन करते हुए कह रही है—जिस पुरुष ने राम की प्रिया सीता का मुख नहीं देखा, उस का ओष्ठ नहीं चूमा अथवा भाषण नहीं सुना उस पुरुष की इन्द्रियों का निर्माण व्यर्थ है।

प्रकृतसूत्र में छादि के साथ दो या दो से अधिक उपसर्गों का योग होने पर उपधाह्रस्व निषिद्ध किया गया है अतः एक उपसर्ग के योग में उपधाह्रस्व हो सकता है। यथा—प्रच्छाद्यतेऽनेनेति प्रच्छदः (जिस से शय्या को ढांपते हैं, चादर)। यहां प्रपूर्वक णिजन्त छादि धातु से **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) से घ प्रत्यय हुआ है। यहां 'प्र' इस एक उपसर्ग का योग है अतः छाद् की उपधा को ह्रस्व हो जाता है—प्रच्छदः[1]। इसी प्रकार—उरश्छाद्यतेऽनेनेति—उरश्छदः (दुपट्टा)। स्मर्यतेऽनेनेति स्मरः (कामदेव)। काम्यतेऽनेनेति कामः। इत्यादि शब्दों में घ प्रत्यय समझना चाहिये।

घ प्रत्यय का अधिकरण में उदाहरण यथा—

आकुर्वन्त्यत्रेति आकरः (जहां मनुष्य अनेक प्रकार के खनिज प्राप्त करते हैं)। अथवा—आकीर्यन्ते धातवोऽत्रेत्याकरः (जहां अनेक प्रकार के खनिज बिखरे रहते हैं—खान)। आङ्पूर्वक 'डुकृञ् करणे' (तना० उ० अनिट्) या 'कॄ विक्षेपे' (तुदा० प० सेट्) धातु से अधिकरण कारक में **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) सूत्रद्वारा घप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण करने पर 'आकर' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमैकवचन में—आकरः। यह 'खान' की संज्ञा है—**खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्** इत्यमरः। **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः**—(हितोप० प्रस्तावना)।

इसी प्रकार निलीयतेऽस्मिन्निति निलयः, आलीयतेऽस्मिन्नित्यालयः। लीङ् श्लेषणे (दिवा० आ० अनिट्) धातु से अधिकरण में घ। निलय और आलय गृह-वाचक हैं। **गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकायनिलयाऽऽलयाः** इत्यमरः।

अब इसी प्रकृत अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७४) अवे तॄ-स्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०॥

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका ॥

अर्थः—'अव' उपसर्ग के उपपद रहते तॄ (तैरना) और स्तॄ (ढांपना) धातुओं से करण और अधिकरण कारकों में प्रायः घञ् प्रत्यय हो जाता है पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो।

व्याख्या—अवे ।७।१। तॄ-स्त्रोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी)। घञ् ।१।१। करणा-

---

१. अनेक उपसर्गों का योग होने पर छाद् की उपधा को ह्रस्व नहीं होता। यथा—समुपच्छादः, समुपातिच्छादः। यहां क्रमशः दो और तीन उपसर्गों का योग है। इन दोनों में पूर्ववत् घ प्रत्यय किया गया है परन्तु अनेक उपसर्गों का योग होने के कारण ह्रस्व नहीं होता।

धिकरणयोः ।७।२। (**करणाधिकरणयोश्च** से) । पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। प्रायेण । ३।१। (**पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । तॄ च स्तॄ च=तॄस्त्रौ, तयोः=तॄस्त्रोः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । 'अवे' यह सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार उपपदसंज्ञक है । अर्थः—(अवे) 'अव' के उपपद रहते (तॄस्त्रोः=तॄस्तॄभ्याम्) तॄ और स्तॄ (धातुभ्याम्) धातुओं से (परः) परे (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (प्रायेण) प्रायः (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (पुंसि संज्ञायाम्) पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। घञ् प्रत्यय में आदि घकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य ञकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हैं अतः उन का लोप हो कर 'अ' मात्र शेष रहता है । घकार घित्कार्य (कुत्व) के लिये तथा ञकार वृद्धि तथा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । इस का स्पष्टीकरण अग्रिमसूत्र के उदाहरणों में होगा। इस सूत्र में करण और अधिकरण कारकों में इन दो धातुओं का यथासंख्य समझने की भूल नहीं करनी चाहिये । भाष्यानुसार दोनों कारकों में दोनों धातुओं से घञ् हो सकता है । सूत्र के उदाहरण यथा—

अवतरन्त्यनेनेति—अवतारः । जिस के द्वारा स्नानार्थ नीचे उतरते हैं अर्थात् नदी या कूप आदि का घाट । यहां 'अव' उपसर्ग के उपपद रहते 'तॄ प्लवन-सन्तरणयोः' (भ्वा० प० सेट्) धातु से करण कारक में घञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **अचो ञ्णिति** (१८२) से ॠकार को वृद्धि, रपर तथा उपपदसमास करने पर विभक्ति लाने से 'अवतारः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसे अधिकरण का उदाहरण भी मान सकते हैं—अवतरन्त्यस्मिन् स्नानार्थमिति अवतारः (जहां स्नानार्थी लोग स्नान के लिये नीचे उतरते हैं घाट) । यद्यपि अवतार (घाट) किसी की संज्ञा नहीं अपितु जातिवाचक सामान्यशब्द है तथापि सूत्र में 'प्रायेण' की अनुवृत्ति के कारण असंज्ञा में भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है—ऐसा काशिकाकार का मन्तव्य है ।

अवस्तीर्यन्तेऽनेनेत्यवस्तारः (जिस से ढांपते हैं—पर्दा, कनात) । यहां पर 'अव' उपसर्ग के उपपद रहते 'स्तॄञ् आच्छादने' (क्र्या० उ० सेट्) धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा उपपदसमास कर विभक्ति लाने से 'अवस्तारः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसे भी अधिकरण का उदाहरण मान सकते हैं अवस्तीर्यन्तेऽस्मिन्नित्यवस्तारः ।

मत्स्यादयोऽवताराः । यहां पर अधिकरण में घञ् समझना चाहिये । अवतरत्यस्मिन् रूपे शरीरे वेत्यवतारो रूपं शरीरं वा । **विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे**—(भर्तृ० नीतिशतक ९२) ।

यह सूत्र करण और अधिकरण में घञ् का विधान करता है अतः इस से भाव में घञ् नहीं किया जा सकता है । भाव में **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) द्वारा प्राप्त घञ् का **ॠदोरप्** (८५६) द्वारा विधीयमान अप् प्रत्यय बाधक है—अवतरणम् अवतरः । गुणानामवतरः—गुणावतरः, यौवनावतरः, वसन्तावतरः, परीवादनवावतरः

आदि। कालिदास के **मा भूत् परीवादनवावतारः** (रघु० ५.२४), **नवावतारं कमलादिवोत्पलम्** (रघु० ३.३६) आदि प्रयोग वैयाकरणों की दृष्टि में चिन्त्य हैं। अत एव वामन अपने 'काव्यालङ्कारसूत्राणि' ग्रन्थ में लिखते है—**अवतरावचाययशब्दयो-र्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम्** (५.२.४०)।

यह सूत्र **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) द्वारा विधान किये गये घप्रत्यय का अपवाद समझना चाहिये।

अब 'घ' के अपवाद दूसरे सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —**(८७५) हलश्च ।३।३।१२१॥**

हलन्ताद् घञ्। घाऽपवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अप-मृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः॥

अर्थः—हलन्त धातु से परे करण या अधिकरण कारकों में प्रायः घञ् प्रत्यय हो जाता है पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। **घापवादः** -यह घप्रत्यय (८७२) का अपवाद है।

व्याख्या—हलः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। करणाधिकरणयोः ।७।२। (**करणा-धिकरणयोश्च** से)। घञ् ।१।१। (**अवे तॄस्त्रोर्घञ्** से)। पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। प्रायेण ।३।१। (**पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। 'हलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'हलन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(हलः = हलन्तात्) हल् जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (प्रायेण) प्रायः (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (पुंसि संज्ञायाम्) पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। **पुंसि संज्ञायां घः०** (८७२) से 'घ' प्रत्यय प्राप्त था उसका अपवाद यह घञ् कहा गया है। उदाहरण यथा—

रामः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। जिस में योगिजन या भक्तजन रमण अर्थात् आनन्द मनाते हैं—भगवन्नामधेयम्। अथवा—रमते लोकोऽस्मिन्निति रामः, दशरथनन्दनः। यहां रम् [रमुँ क्रीडायाम् (भ्वा० आ० अनिट्)] इस हलन्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से धातु के उपधा अकार को वृद्धि (आ) कर—राम्+अ = राम। अब कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन में 'रामः' प्रयोग सिद्ध होता है। यह महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र की संज्ञा है अथवा सर्वान्तर्यामी भगवान् का सुप्रचलित नाम है।

अपामार्गः। अपमृज्यते (दूरीक्रियते) व्याध्यादिरनेनेत्यपामार्गः। जिस से रोग आदि दूर किये जाते हैं—अपामार्ग नामक ओषधि। यहां अपपूर्वक मृज् [मृजूँ शुद्धौ (अदा० प० वेट्)] इस हलन्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा करण कारक में घञ् प्रत्यय हो कर—अप+मृज्+घञ् = अप+मृज्+अ। अब **मृजेर्वृद्धिः** (७८२) से ऋकार को

वृद्धि-रपर (आर्) तथा प्रत्यय के घित् होने के कारण **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्वेन गकार करने पर—अप+मार्ग्+अ=अप+मार्ग। इस स्थिति में **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.३.१२१)[1] सूत्र से उपसर्ग के पकारोत्तर अकार को दीर्घ कर विभक्ति लाने से—'अपामार्गः' प्रयोग सिद्ध होता है। अपामार्ग एक सुप्रसिद्ध सुलभ भारतीय क्षुप है जिसे हिन्दी में चिरचिरा या चिरचिटा तथा पंजाबी में पुठकण्डा कहते हैं। यह हृद्रोग, अर्श, उदररोग, कफदोष आदि अनेक रोगों में काम आने वाली आयुर्वेदिक ओषधि है। इसे अनिष्टनिवारणार्थ गण्डा-तावीज़ आदि में भी प्रयोग किया जाता है। सम्भवतः मूल में 'व्याध्यादिः' में 'आदि' पद से इसी का ग्रहण अभिप्रेत है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) लिख्यतेऽनेनेति लेखः (जिस से लिखा जाता है—लेखनी)। यहां 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प० सेट्) धातु से करण में घञ् हो कर लघूपधगुण (४५१) हो जाता है।

(२) आरमन्त्यत्रेत्यारामः (जहां आ कर मनुष्य आराम करते हैं बाग़-बग़ीचा)। आ+रम्+घञ्=आरामः। अधिकरणे घञ्। उपधावृद्धिः। **आरामः स्यादुपवनम्** इत्यमरः।

(३) प्रसीदन्त्यत्रेति प्रासादः (जिस में मन प्रसन्न होते हैं—महल)। प्र+सद्+घञ्। अधिकरणे घञ्। उपधावृद्धिः (४५५)।

(४) विदन्ति (जानन्ति) धर्माऽधर्मौ अनेनेति वेदः (जिस से धर्म-अधर्म का ज्ञान होता है—ऋगादि ग्रन्थसमूह)। विद ज्ञाने (अदा० प०), करणे घञ्, लघूपधगुणः (४५१)।

(५) विशन्ति अस्मिन्निति वेशः (जिस में लोग घुसते हैं—वेश्यालय)। विश प्रवेशने (तुदा० प० अनिट्)। अधिकरणे घञ्। **वेशो वेश्याजनसमाश्रयः** इत्यमरः।

(६) वेवेष्टि आत्मानम् अनेनेति वेषः (जिस से मनुष्य देह को व्याप्त करता है—वेषभूषा, पहरावा, Dress, Apparel)। विष्लृँ व्याप्तौ (जुहो० उ० अनिट्)। करणे घञ्। लघूपधगुणः।

(७) बध्यतेऽनेनेति बन्धः (जिस से बान्धा जाता है रस्सी, डोरी)। बन्ध बन्धने (क्र्या० प० अनिट्)। करणे घञ्। **आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि** (मेघ० ६)। अधिकरणेऽपि—बध्यतेऽत्रेति बन्धः (गांठ)।

---

१. उपसर्ग को बहुल से दीर्घ हो जाता है घञन्त उत्तरपद परे हो तो, परन्तु मनुष्य के वाच्य होने पर नहीं होता। उदाहरण यथा—परि+पाकः=परीपाकः, परिपाकः। मनुष्य में नहीं होता—निषादः।

(८) विनह्यते = बध्यते = आच्छाद्यतेऽनेनेति वीनाहः (जिस से बन्द किया जाता है—कूप के मुख का ढक्कन)। वि √णहँ बन्धने (दिवा० उ० अनिट्)। करणे घञ्। **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.३.१२१) इति दीर्घः। **वीनाहो मुखबन्धनमस्य** (कूपस्य) इत्यमरः। **कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम्** (महाभारत ११.५.१४)।

अब उत्तरकृदन्त के सुप्रसिद्ध खल् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७६) ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल् ॥३।३।१२६॥

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेव० (७७०) इति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे—ईषत्करः। सुकरः॥

अर्थः—'करणाधिकरणयोः' की अनुवृत्ति यहां नहीं आती। दुःख अर्थ वाले 'दुस्' के तथा सुख अर्थ वाले 'ईषत्' या 'सु' के उपपद होने पर धातु से परे खल् प्रत्यय होता है। **तयोरेव०** (७७०) सूत्र के अनुसार यह प्रत्यय भाव और कर्म में ही होता है।

व्याख्या—ईषद्-दुः-सुषु ।७।३। कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु ।७।३। खल् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों का अधिकार आ रहा है। ईषत् च दुश्च सु च ईषद्-दुः-सवः, तेषु—ईषद्दुःसुषु। इतरेतरद्वन्द्वः। न कृच्छ्रम् अकृच्छ्रम्, नञ्तत्पुरुषः। कृच्छ्रम् = दुःखम्, अकृच्छ्रम् = सुखम्। कृच्छ्रञ्च अकृच्छ्रं च कृच्छ्राकृच्छ्रे, कृच्छ्राकृच्छ्रे अर्थौ येषां ते कृच्छ्राकृच्छ्रार्थाः, तेषु = कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। ईषद्दुःसुषु—यह सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार उपपद है। 'कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' यह उस का विशेषण है। ईषत्, दुस्, सु—में केवल दुस् ही दुःखवाचक है 'सु' और 'ईषत्' सुखवाचक हैं। सूत्र में यद्यपि आचार्य ने इकट्ठा निर्देश किया है तथापि अर्थ करते समय इन की योग्यता और अयोग्यता का विचार रखना पड़ता है। अर्थः—(कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ईषद्-दुः-सुषु) दुःखवाचक 'दुस्' के उपपद रहते अथवा सुखवाचक 'ईषत्' या 'सु' के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (खल्) खल् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

खल् प्रत्यय यद्यपि **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक है तथापि **कर्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में नहीं होता अपितु **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) सूत्र से भाव और कर्म अर्थों में ही होता है। सकर्मक धातुओं से केवल कर्म में तथा अकर्मक धातुओं से भाव में होता है। खल् प्रत्यय में आदि खकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है केवल 'अ' मात्र शेष रहता है। खकार अनुबन्ध कई स्थानों (जैसे—ईषदाढ्यम्भवम्) पर मुँम् आगम के लिये तथा लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त-स्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

दुष्करः । दुःखेन क्रियत इति दुष्करः (जो दुःख अर्थात् कठिनाई से बनाया जाता है) । यहां दुस् (या दुर्) पूर्वक सकर्मक 'कृ' (डुकृञ् करणे; तना० उभय० अनिट्) धातु से कर्म कारक में प्रकृतसूत्र से खल् (अ) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से –दुस्+कृ+अ । अब **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से खल् प्रत्यय की आर्ध-धातुकसंज्ञा कर उस के परे रहते **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से धातु के ऋकार को गुण-रपर किया तो बना—दुस्+कर । इस स्थिति में **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास, दुस् के सकार को रुँत्व-विसर्ग तथा **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१[1]) सूत्र से विसर्ग को षत्व कर विभक्ति लाने से—'दुष्करः' प्रयोग सिद्ध होता है । दुष्करः कटो भवता (आप से चटाई कठिनाई से बनाई जा सकती है अथवा चटाई का बनाना आप के लिये कठिन है) ।

सुकरः । सुखेन क्रियत इति सुकरः (जो सुख अर्थात् आसानी से बनाया जाता है) । यहां सुखार्थक 'सु' के उपपद रहते पूर्ववत् कृ धातु से कर्म में खल् (अ), गुण और उपपदसमास करने से—'सुकरः' प्रयोग सिद्ध होता है । सुकरः कटो भवता (आप से चटाई आसानी से बनाई जा सकती है अथवा चटाई बनाना आप के लिये आसान है)।

इसी तरह—ईषत्करः । सुखेन क्रियत इति—ईषत्करः । यहां सुखार्थक 'ईषत्' अव्यय[2] के उपपद रहते पूर्ववत् खल् किया गया है । ईषत्करः कटो भवता (आप से चटाई अल्पप्रयास से बनाई जा सकती है या आप के लिये चटाई बनाना आसान है)।

'दुष्करः कटो भवता' आदि में कर्म में खल् प्रत्यय किया गया है अतः कर्म के उक्त होने से उस में प्रथमा का प्रयोग होता है । कर्त्ता अनुक्त रहता है इसलिये उस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति होती है । कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्त्ता में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो जाता है । प्रत्यय के कर्म में होने के कारण 'दुष्करः' आदि भी कर्म (कट) के अनुसार विभक्ति लिङ्ग और वचन को ग्रहण करते हैं । कर्त्ता का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता । यथा—दुष्करः कटो भवता, दुष्करौ कटौ भवता, दुष्कराः कटाः भवता; दुष्करमध्ययनं त्वया युवाभ्यां युष्माभिर्वा; सुकरं पलायनं भीरुणा भीरुभ्यां भीरुभिर्वा; सुकरा रचना मयाऽऽवाभ्यामस्माभिर्वा; सुकरा मैत्री प्रियंवदैः (मीठा बोलने वालों के लिये मित्रता करना आसान है) ।

---

१. इकार या उकार जिस के उपधा हैं ऐसे प्रत्ययभिन्न की विसर्ग को षकार आदेश हो जाता है कवर्ग या पवर्ग परे हो तो । यथा—निः+पीतम् =निष्पीतम्, दुः+कृतम् =दुष्कृतम्, आविः+कृतम् =आविष्कृतम् ।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि ईषत् का मुख्यार्थ सुख नहीं है अपितु यह अल्पवाचक है । यहां खल्प्रकरण में 'ईषत्' का अभिप्राय स्वल्पप्रयत्न से है । स्वल्पप्रयत्न अधिक-प्रयत्न की अपेक्षा सुखदायक रहता है अतः यहां ईषत् को सुखार्थक माना जा रहा है ।

कर्म की तरह भाव में भी खल् प्रत्यय किया जाता है परन्तु तब यह केवल अकर्मक धातुओं से ही होता है। इस स्थिति में खलन्त के साथ नपुंसकलिङ्ग के एकवचनान्त का ही प्रयोग होता है। कर्त्ता के अनुक्त रहने से वहां भी तृतीया विभक्ति रहेगी। यथा—दुर्जीवमपथ्यभुजा रोगिणा (अपथ्यभोजी रोगी का ज़िन्दा रहना कठिन है); दुरासमिह मया (मेरा यहां ठहरना कठिन है); दुःस्वपं कामातुरैः (कामातुरों का सोना मुश्किल है); सुवर्धमज्ञतया (मूर्खता का बढ़ना आसान है)।

खल् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—दुःखेन लभ्यत इति दुर्लभः; सुखेन लभ्यत इति सुलभः; दुःखेन आप्यते (प्राप्यते) इति दुरापः; दुःखेन गम्यत इति दुर्गमः; सुखेन गम्यत इति सुगमः; दुःखेन आरुह्यत इति दुरारोहः[1]; सुखेन गृह्यत इति सुग्रहः; दुःखेन गृह्यत इति दुर्ग्रहः; दुःखेन तीर्यत इति दुस्तरः। 'सुदुर्लभः, सुदुस्तरः' आदि में प्रादिसमास समझना चाहिये।

साहित्य में इन के कुछ उदाहरण यथा—

(१) **सुलभा पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।**
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ (रामायण ३.३७.२)

(२) **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः।** (रघु० १.७२)

(३) **सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैः**—(रघु० २.२७)।

(४) **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।** (मनु० ७.५५)

(५) **असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।** (गीता० ६.३५)

(६) **दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि।** (नैषध० ५.१०६)

(७) **सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषकाञ्जलिः।** (पञ्चतन्त्र० १.२६)

(८) **ईषज्जयः स्फुटमनेन दशाननोऽपि**—(अनर्घराघव० ३.३३)

(९) **दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम्।** (पञ्चतन्त्र० १.३६०)

(१०) **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।** (गीता ६.३६)

(११) **स्वभावो दुरतिक्रमः।** (सुभाषित)

(१२) **समवायो हि दुस्तरः।** (सुभाषित)

(१३) **दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम्।** (पञ्चतन्त्र १.७२)

(१४) **दुर्लभं भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभम्।** (　　)

(१५) **संशयः सुगमस्तत्र निर्णयस्तत्र दुर्गमः।** (महाभारत १३.　)

(१६) **दुर्मरत्वमहं मन्ये नृणां कृच्छ्रेऽपि वर्त्तताम्**[2]। (महाभारत ८.　)

---

१. ईषत् आदियों के उपपद रहते शुद्ध धातुओं की तरह उपसर्गयुक्त धातुओं से भी खल् प्रत्यय हो जाता है। यथा—दुरारोहः, दुरधिगमः, दुष्प्रापः, दुर्निवारः, दुष्प्रधर्षः आदि। इस में आचार्य के **उपसर्गात् खलघञोः** (७.१.६७), **न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्** (७.१.६८) आदि सूत्र ज्ञापक हैं।

२. आत्मनेपदस्य स्थाने परस्मैपदप्रयोग आर्षः। वर्त्तमानानामित्यर्थः।

(१७) **तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्** । (रघु० १.२)
(१८) **नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्यः** । (हितोप० २.१७७) ।
(१९) **व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकप्रवादो दुर्निवारः** । (हितोप० १)
(२०) **दुष्प्रेक्षः सोऽभवत् क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन्** ।(रामायण ३.२४.३४)
(२१) **दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम्** । (महाभारत १३.२९.१६)
(२२) **वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम्'** । (वेणीसंहार ३)
(२३) **सूक्तमिदमभियुक्तैः प्रकृतिर्दुस्त्यजेति** (वेणीसंहार ३) ।
(२४) **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्** । (गीता ३.४३)
(२५) **दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्** । (काव्यप्रकाश १०)
(२६) **अहो दुरासदो राजमहिमा** । (मालविका० अङ्क १)
(२७) **दुस्तरो जीवता देवि ! मयाऽयं शोकसागरः** (रामायण २.५९.३२) ।

अब खल् के अपवाद अन्य खलर्थक प्रत्यय युच् का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७७) आतो युच् ।३।३।१२८।।**

खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ।।

अर्थः—दुःखार्थक दुस् (या दुर्) तथा सुखार्थक ईषत् और सु के उपपद रहते आकारान्त धातु से परे युच् प्रत्यय हो जाता है । **खलोऽपवादः**—यह खल् (८७६) का अपवाद है ।

व्याख्या—आतः ।५।१। युच् ।१।१। ईषद्-दुः-सुषु ।७।३। कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु।७।३। (**ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है । **अर्थः**—(कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु ईषद्-दुः-सुषु) दुःखवाचक दुस् या दुर् तथा सुखवाचक ईषत् या सु के उपपद रहते (आतः=आदन्तात्) आकारान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (युच्) युच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । पूर्वसूत्र द्वारा धातुमात्र से खल् प्रत्यय प्राप्त था उस का अपवाद यह युच् विधान किया गया है । अतः आकारान्तों से युच् तथा अन्य धातुओं से खल् होगा । युच् में चकार इत्-संज्ञक है अतः लुप्त हो कर 'यु' मात्र शेष रहता है इसे भी **युवोरनाकौ**(७८५) से अन आदेश हो जाता है । चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१६३) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है । युच् भी खलर्थ प्रत्यय है अतः **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) से भाव और कर्म में ही होगा ।

उदाहरण यथा—

ईषत्पानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से पी सकते हैं) ।

---

१. अध्यवसितुमित्यपाणिनीयप्रयोगः । 'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० प० अनिट्) इति धातोस्तुमुँनि अध्यवसातुमित्युचितम् । **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०) इति सूत्रेण तादौ किति इकारादेशो विधीयते । तुमुँस्त्वकित् ।

दुष्पानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से नहीं पी सकते)।

सुपानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से पी सकते हैं)।

यहां पर ईषत् आदियों के उपपद रहते 'पा पाने' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से कर्म में खल् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से युच् प्रत्यय हो जाता है। पुनः चकार अनुबन्ध का लोप, **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश, **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास कर विभक्ति लाने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'दुष्पानः' में सकार को रुँत्वविसर्ग हो कर **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) से विसर्ग को षत्व विशेष कार्य है। यहां की सम्पूर्ण कारकव्यवस्था पूर्ववत् समझनी चाहिये।

इस के कुछ अन्य उदाहरण —

डुदाञ्—दुःखेन दीयते इति दुर्दानः, सुखेन दीयत इति ईषद्दानः सुदानो वा।

ज्ञा—दुःखेन ज्ञायत इति दुर्ज्ञानः, सुखेन ज्ञायत इति ईषज्ज्ञानः सुज्ञानो वा।

स्था—दुःखेन उपस्थीयते=उपगम्यत इति दुरुपस्थानः। सुखेन उपस्थीयत इति ईषदुपस्थानः, सूपस्थानः।

डुधाञ्—दुःखेन सन्धीयते इति दुःसन्धानः। ईषत्सन्धानः, सुसन्धानः।

कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।** (पञ्च० २.३७)

(२) **दुर्दाना भवन्त्यर्थाः कृपणेन।** (व्या० च०)
[कञ्जूस धन को बड़ी कठिनता से देता है]।

(३) **अन्तर्धत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर!**
यो रणे दुरुपस्थानो हस्तरोषं दधद् धनुः॥ (भट्टि० ५.३२)
[हे राक्षसराज (रावण)! तू श्रीरामचन्द्र से छिप कर रहो क्योंकि जब वे हाथ में धनुष धारण कर लेते हैं तब उन के निकट उपस्थित होना बहुत ही कठिन होता है]।

नोट—यह प्रत्यय भाव में भी होता है। यथा—दुरुत्थानं मया (मुझ से उठना कठिन है)। सूत्थानम् ईषदुत्थानं वा भवता।

अभ्यास (१२)

(१) सयुक्तिक विवेचन करें—

[क] 'छात्रस्य हसितम्' में अनभिहित कर्त्ता में तृतीया क्यों नहीं होती?

[ख] नपुंसक-क्त घञ् का कैसे अपवाद हो जाता है?

[ग] कर्त्ता और कर्म में से किस के साथ खलन्त का सामानाधिकरण्य होगा?

[घ] क्या खलर्थ प्रत्यय सोपसर्ग धातुएं से भी हो जाते हैं?

[ङ] नपुंसक-क्त क्या अकर्मक धातुओं से ही होता है ?

(२) 'यज्ञदत्तेन पयसः पानं मे न रोचते' यहां कृद्योग में कर्त्तरि षष्ठी क्यों नहीं होती ?

(३) यदि खलर्थ प्रत्यय भाव में किया जाये तो कर्ता में कौन सी विभक्ति होगी ?

(४) ईषद्दुःसुषु० में ईषत् को कैसे सुखार्थक माना जाता है ?

(५) 'अवतारः' और 'अवतरः' में अन्तर स्पष्ट करें।

(६) 'अलं रुदितेन' में तृतीया की उत्पत्ति कैसे हो जाती है ? विवेचन करें।

(७) नपुंसक-क्त के तीन साहित्यगत उदाहरण दीजिये।

(८) खलर्थ प्रत्ययों के योग में कर्त्ता और कर्म में कौन सी विभक्ति आयेगी ?

(९) 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' में 'अद्व्युपसर्गस्य' का अभिप्राय वार्त्तिककार के अनुसार स्पष्ट करें।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
पुंसि संज्ञायां घः०, हलश्च, ईषद्दुःसुषु०, छादेर्घे०, अवे तृस्त्रोर्घञ्।

(११) विग्रहनिर्देशपूर्वक ससूत्र सिद्धि करें —
अवतारः, अवस्तारः, गोदोहनी, इध्मप्रव्रश्चनः, दन्तच्छदः, दुष्करः, राजधानी, आकरः, वेदः, वेषः, उरश्छदः, दुष्पानः, ईषत्करः।

(१२) निम्नस्थ धातुओं के ल्युडन्त रूप लिखें —
इष्, क्री, डी, दृश्, मुर्च्छ्, भू, ब्रू, अद्, अव+गाह्, रभ्, इङ्, लिख्, लभ्, सिव्, रुह्, श्रु, वे, द्युत्, परा+अय्, गुप्, गुह्, मस्ज्।

(१३) करण और अधिकरण में विहित ल्युट् के दो दो उदाहरण दीजिये।

(१४) खल्, ल्युट्, घञ्, युच् और क्त प्रत्ययों में अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाएं।

(१५) आकारान्त धातुओं से खलर्थ प्रत्यय के चार उदाहरण दीजिये।

(१६) 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्याय की उपयोगिता पर पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से सयुक्तिक टिप्पण करें।

—:o:—

अब उत्तरकृदन्त के प्रमुख प्रत्यय 'क्त्वा' का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७८) अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा।३।४।१८॥

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। अमैवाऽव्ययेन (२.२.२०) इति नियमान्नोपपदसमासः। दो दद् घोः (८२७) अलं दत्त्वा। घुमास्था० (५८८) इतीत्वम्—पीत्वा खलु। अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम् ? अलंकारः॥ नहीं पीना चाहिए

अर्थः- प्रतिषेध (निषेध) अर्थ वाले 'अलम्' या 'खलु' शब्दों के उपपद रहते

धातुमात्र से परे क्त्वा प्रत्यय हो। **प्राचां ग्रहणम्**—सूत्र में 'प्राचाम्' पद का ग्रहण पूर्वजों के प्रति सत्कार प्रकट करने के लिये किया गया है विकल्प के लिये नहीं। **अमैवाऽव्ययेन** (२.२.२०) इस नियम के कारण यहां उपपदसमास नहीं होता।

व्याख्या—अलंखल्वोः ।७।२। प्रतिषेधयोः ।७।२। प्राचाम् ।६।३। क्त्वा ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अलं च खलु च अलंखलू, तयोः=अलंखल्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अलंखल्वोः' सप्तम्यन्त है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। अर्थः—(प्रतिषेधयोः) प्रतिषेध अर्थात् निषेध अर्थ में वर्त्तमान (अलंखल्वोः) 'अलम्' या 'खलु' शब्द[1] के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्वा प्रत्ययः) क्त्वा प्रत्यय हो जाता है (प्राचाम्) प्राच्य आचार्यों के मत में।

क्त्वा प्रत्यय की **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) सूत्र से अव्ययसंज्ञा होती है और यह **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक भी है। अतः **अव्ययकृतो भावे** (अव्ययसंज्ञक कृत्प्रत्यय भाव में होते हैं) इस भाष्यवचन (३.४.९) के अनुसार यह भाव अर्थ में ही होता है[2]। क्त्वा प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त्वा' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

अलं दत्त्वा (मत दो)। यहां निषेधार्थक 'अलम्' अव्यय के उपपद रहते 'दा' (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध (४७५), **दो दद् घोः** (८२७) से दा के स्थान पर दद् सर्वादेश तथा **खरि च** (७४) से चर्त्व करने पर—अलम्+दत्त्वा। अब कृदन्तत्वात् 'दत्त्वा' की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) से क्त्वान्त की अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुंपः** (३७२) से उस (सुँ) का लुक् हो जाता है और इधर अव्ययत्वात् अलम् के पदान्त मकार को भी **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो जाता है। इस प्रकार—'अलं दत्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

पीत्वा खलु (मत पिओ)। यहां निषेधार्थक 'खलु' अव्यय के उपपद रहते 'पा' (पा पाने; भ्वा० प० अनिट्) धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से—'पा+त्वा खलु'। धातु के अनुदात्त होने से इट् आगम का निषेध

---

१. अलम् और खलु दोनों अव्यय हैं। अलम् का स्वरादिगण में तथा खलु का चादिगण में पाठ किया गया है (देखें इस व्याख्या का अव्ययप्रकरण)।

२. क्त्वा आदि कृत्संज्ञक अव्ययों से कहा गया भाव असत्त्व (अद्रव्य) अवस्था में रहता है तथा ल्युट् आदियों का सत्त्व अवस्था में। अत एव क्त्वान्त आदियों से केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन का ही प्रयोग होता है और ल्युडन्त आदियों का सब विभक्तियों में—यह यहां नहीं भूलना चाहिये।

हो जाता है। अब हलादि कित् आर्धधातुक क्त्वा के परे रहते **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र से पा के आकार को ईकार आदेश हो कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने पर—'पीत्वा खलु' प्रयोग सिद्ध होता है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'अलम्' और 'खलु' के उपपदसंज्ञक होने पर भी यहां **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास नहीं होता। कारण यह है कि **अमैवाऽव्ययेन** (२.२.२०[1]) इस नियमसूत्र से उस का निषेध हो जाता है। अत एव हम उपपद का आगे पीछे कहीं भी प्रयोग कर सकते है अलं दत्त्वा, दत्त्वाऽलम्; खलु पीत्वा, पीत्वा खलु इत्यादि प्रकारेण दोनों रूप शुद्ध हैं[2]। किञ्च समास के न होने से **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) इस वक्ष्यमाण सूत्र से क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं होता[3]।

प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्—प्रकृतसूत्र में 'प्राचाम्' कहा गया है अर्थात् यह प्रत्यय प्राच्य आचार्यों के मत में होता है। इस से अन्य आचार्यों के मत मे न हो कर परिणामतः विकल्प से होगा ऐसा अभिप्राय यहां नही समझना चाहिये। यहां 'प्राचाम्' पद प्राच्य आचार्यों के सत्कार के लिये प्रयुक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह नियम प्राच्य आचार्यों का आविष्कृत है अतः पाणिनि ने कृतज्ञतावश उन आचार्यों का सूत्र में स्मरण किया है विकल्पार्थ नही। जो कहीं कही इस क्त्वा के विषय में ल्युट् या क्त प्रत्यय की प्रवृत्ति देखी जाती है वह वाऽसरूपविधि के कारण अथवा **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में बहुलग्रहण के कारण समझनी चाहिये। यथा—'अलं रुदित्वा' (रो मत) के स्थान पर 'अलं रोदनेन' या 'अलं रुदितेन' का भी प्रयोग देखा जाता है। इस का विवेचन पूर्व कर चुके है वहीं देखें।

---

१. **अमैवाऽव्ययेन** (अमा+एव+अव्ययेन)। अर्थः अम् (णमुँल् आदि) के साथ ही जिस उपपद का तुल्यविधान हो वह उपपद ही अव्यय के साथ समास को प्राप्त होता है अन्य नहीं। यथा—स्वादुंकारं भुङ्क्ते (स्वादु बना कर खाता है)। यहां **स्वादुमि णमुँल्** (३.४.२६) से अम् (णमुँल्) के साथ स्वादु उपपद का तुल्यविधान किया गया है सो यहां इस उपपद का 'कारम्' इस णमुँलन्त अव्यय के साथ समास हो जाता है। परन्तु प्रकृत में अलम् और खलु उपपदों का अम् के साथ तुल्यविधान नही अपितु क्त्वा के साथ तुल्यविधान है अतः इन उपपदों का क्त्वान्त अव्ययों के साथ उपपदसमास नहीं होता।

२. इसी बात को द्योतित करने के लिये ग्रन्थकार ने मूल में 'अलं दत्त्वा' की तरह 'खलु पीत्वा' उदाहरण न दे कर 'पीत्वा खलु' उदाहरण दिया है।

३. यह केवल उपपदसमास के लिये ही समझना चाहिये। धातु के साथ यदि कोई उपसर्ग लगाया गया होगा तो निश्चय ही प्रादिसमास के कारण क्त्वा को ल्यप् हो जायेगा। यथा अलमन्यथा सम्भाव्य (आप अन्यथा सम्भावना न करें); अलं व्युद्य (आप विवाद न करें); अलं बहु विकत्थ्य (बहुत डींग न मारिये)।

अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीत् (आप मत करें)। सूत्र में 'अलंखल्वोः' ही कहा गया है अतः प्रतिषेधार्थक माङ् आदि के उपपद रहते क्त्वा प्रत्यय की प्रवृत्ति न हो कर **माङि लुङ्** (४३५) से लुङ् का प्रयोग किया गया है। **न माङ्योगे** (४४१) से अट् का आगम नहीं हुआ[1]।

प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः। सूत्र में 'अलंखल्वोः' का विशेषण 'प्रतिषेधयोः' कहा गया है अतः यदि अलम् और खलु प्रतिषेधवाची नहीं होंगे तो भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। यथा—अलंकारः। यहां 'अलम्' भूषण (सजाना) अर्थ का वाचक है प्रतिषेध का नहीं अतः क्त्वा नहीं हुआ। अलङ्करणम् अलङ्कारः। भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है।

इस के कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः।** (रामा० ७.२४.३२)

(२) **अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका।** (रामा० ३.५६.१४)

(३) **अवश्यं क्रियमाणस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।**
अलं निर्वेदमागम्य न हि नो मीलनं क्षमम्॥ (रामा० ४.४९.८)

(४) **अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि।** (रामा० ४.२७.३४)

(५) **अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्।**
प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः॥
(मालविका० १.२०)[2]

(६) **अलमिदानीं महाराजोऽतिमात्रं सन्तप्य** (प्रतिमा० २)

(७) **अलमिष्ट्वा मखान् मूर्खाः खड्गधारेयमस्ति नः।**
अदवीयानयं पन्थाः स्वर्लोकमुपतिष्ठते॥ (अनर्घराघव २.६१)[3]

(८) **आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्॥**
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥ (माघ० २.४०)[4]

---

१. भास के नाटकों में निषेधार्थक माङ् के योग में क्त्वा और तुमुन् के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यथा—आर्ये ! **मेदानीमन्यच्चिन्तयित्वा** (स्वप्न० २); **मा स्वयं मन्युमुत्पाद्य** (प्रतिमा १.१०); **मा खलु मा खलु भर्तः ! एतं जलाशयं प्रवेष्टुम्** (बालचरित ४) इत्यादि। परन्तु ये सब अपाणिनीय प्रयोग हैं।

२. देवी ! तुम कुछ और न समझ बैठना। इस में मेरा कोई हाथ नहीं है। देखो, जो लोग एक सी विद्या वाले होते हैं वे प्रायः एक दूसरे के यश को नहीं सह सकते।

३. ऐ मूर्खो ! यज्ञ करना छोड़ दो, यह मेरी खड्गधारा ही स्वर्ग ले जाने का सीधा सरल मार्ग है।

४. यह बात तो कहने योग्य भी नहीं है कि शिशुपाल बभ्रु की स्त्री को हर ले गया था क्योंकि पापों का वर्णन करना भी अमङ्गल करने वाला होता है।

(९) सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ (माघ० २.७०)[1]

(१०) अलं संरभ्य —क्रोध न करो । (व्या० च०)

(११) अलं बहु विकथ्य (बहुत डींग न मारिये) —(मालविका० अंक १) ।

अब क्त्वा के विधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७९) समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१॥

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ॥

अर्थः—जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक हो उन में से जिस धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित हो उस धातु से परे क्त्वा प्रत्यय हो । **द्वित्वमतन्त्रम्**—यहां द्विवचन का ग्रहण प्रधान नहीं अतः दो से अधिक धातुओं में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

व्याख्या—समानकर्तृकयोः ।६।२। (निर्धारणे षष्ठी सप्तमी वा) । पूर्वकाले ।७।१। क्त्वा ।१।१। (**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । समानः कर्ता ययोस्तौ समानकर्तृकौ, तयोः=समानकर्तृकयोः, बहुव्रीहिसमासः । 'धातोः' का अधिकार होने से समानकर्तृकत्व धातुओं का ही समझा जायेगा । परन्तु वर्णात्मक धातुओं का समानर्तृकत्व उपपन्न नहीं हो सकता वह धात्वर्थों का ही हो सकता है अतः यहां धातु से धात्वर्थ ही गृहीत होंगे । इसीप्रकार 'पूर्वकाले' का सम्बन्ध भी धातु से न हो कर धात्वर्थ से करना चाहिये । अर्थः—(समानकर्तृकयोः) समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में से जो धात्वर्थ (पूर्वकाले) पूर्वकाल में वर्त्तमान हो तद्वाचक (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्वा प्रत्ययः) क्त्वा प्रत्यय हो जाता है ।

क्त्वान्त शब्द **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्ययसंज्ञक होते हैं इस प्रकार क्त्वाप्रत्यय अव्ययसंज्ञक कृत् (३०२) है । ऐसे कृत् **अव्ययकृतो भावे** इस भाष्यवचन के अनुसार भाव में होते हैं अतः यह क्त्वा भी भाव में ही होगा । क्त्वान्तों या तुमुँन्नन्तों का भाव द्रव्यावस्थापन्न नहीं होता इसलिये इन से केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन ही होता है अन्य विभक्तियों या वचनों का योग नहीं । प्रथमैकवचन सुँ का भी **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है । क्त्वा प्रत्यय में ककार अनुबन्ध गुणवृद्धि-निषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है 'त्वा' मात्र ही शेष रहता है यह सब पूर्व बतलाया जा चुका है । सूत्र का उदाहरण यथा—

भुक्त्वा व्रजति (खा कर जाता है) । यहां 'खाना' और 'जाना' दो धात्वर्थ अर्थात् क्रियाएं हैं जो एक ही कर्ताद्वारा की जा रही हैं । इन दो में से 'खाना' क्रिया

---

१. बलराम ने जो कुछ कहा है इस समय उस पर कुछ और कहना अनुचित ही है । क्योंकि लिखे हुए पत्र द्वारा अर्थ के जान लेने पर फिर मौखिक (ज़बानी) अभिप्राय समझाना व्यर्थ है ।

पूर्वकालवर्त्ती है। क्योंकि कर्त्ता पहले खाता है और बाद में जाता है। अतः पूर्वकाल-वर्त्ती 'खाना' क्रिया के वाचक भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः, रुधा० प० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार तथा **खरि च** (७४) से गकार को ककार हो कर—भुक्त्वा। अब इस से सुँ आकर उस का लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग निष्पन्न होता है। ध्यान रहे कि क्त्वा वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है अतः इस के परे रहते इट् तथा लघूपधगुण दोनों प्राप्त होते थे। इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से तथा गुण का क्त्वा के किन्त्व के कारण **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है।

इस क्त्वा प्रत्यय के करते समय यह बात सब से पहले अन्वेष्टव्य है कि दो धात्वर्थों में से कौन सा धात्वर्थ पूर्वकालवर्त्ती है। जो धात्वर्थ पूर्वकालवर्त्ती होगा तद्वाचक धातु से ही भाव में क्त्वा होगा। दूसरी परकालवर्त्ती धातु का विवक्षानुसार प्रयोग होगा। यदि दोनों धातुएं समान-कालवर्त्ती होंगी तो किसी से भी क्त्वा न होगा। यथा—माणवोऽसौ व्रजति जल्पति च (वह लड़का जा रहा है और बोल भी रहा है)। यहां 'जाना' और 'बोलना' दोनों क्रियाएं समानकालवर्त्ती हैं इन में कोई भी पूर्वकालवर्त्ती नहीं अतः किसी भी क्रिया से क्त्वा नहीं हुआ। विवक्षानुसार दोनों में लँट् लकार हुआ है।

'समानकर्तृकयोः' की शर्त भी बहुत जरूरी है। यदि दोनों क्रियाओं का कर्त्ता समान अर्थात् एक या अभिन्न नहीं होगा तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। यथा—ब्राह्मणेषु भुक्तवत्सु गच्छति देवदत्तः (जब ब्राह्मण खा चुके तब देवदत्त जाने लगा)। यहां ब्राह्मणों द्वारा 'खाना' तथा देवदत्तद्वारा 'गमन' दो क्रियाएं हैं। इन में ब्राह्मणों द्वारा 'खाना' पूर्वकालवर्त्ती है और देवदत्तद्वारा 'गमन' परकालवर्त्ती। परन्तु दोनों क्रियाओं के कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं अतः पूर्वकालवर्त्ती क्रिया से भी क्त्वा नहीं हुआ।

प्रकृतसूत्र में 'समानकर्तृकयोः' द्वारा समानकर्तृक दो क्रियाओं का उल्लेख किया गया है तो यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या दो क्रियाओं में ही पूर्वकालवर्त्ती एक क्रिया से क्त्वा होगा और यदि दो से अधिक तीन चार आदि समानकर्तृक क्रियाएं होंगी तो पूर्वकालवर्त्ती क्रियाओं से क्त्वा न होगा? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वरदराज कहते हैं—**द्वित्वमतन्त्रम्**। अर्थात् सूत्र में द्विवचन का उल्लेख प्रधान नहीं है। अतः दो या दो से अधिक क्रियाओं में भी पूर्वकालवर्त्ती क्रिया या क्रियाओं से क्त्वा हो जायेगा। यथा—भुक्त्वा पीत्वा व्रजति (वह खा पीकर जाता है)। यहां 'खाना' 'पीना' और 'जाना' तीन समानकर्तृक क्रियाएं हैं। सब से पहले कर्त्ता ने 'खाना' क्रिया की, अतः शेष दोनों की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती 'खाना' क्रिया से क्त्वा हो कर 'भुक्त्वा' बन गया। शेष 'पीना' और 'जाना' क्रियाओं में भी 'पीना' क्रिया 'जाना' क्रिया की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती है अतः उस से भी क्त्वा होकर 'पीत्वा' बना। 'जाना' क्रिया किसी से पूर्वकालवर्त्ती नहीं अतः उस से विवक्षानुसार लँट् हुआ है—भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

क्त्वाप्रकरण के अन्त में हम क्त्वान्तों तथा ल्यबन्तों के साहित्यगतप्रयोग तथा उन का अर्थसहित एक बड़ा संग्रह प्रस्तुत करेंगे। अब क्त्वा के परे रहते ग्रन्थकार कुछ अवान्तर कार्यों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(८८०) **न क्त्वा सेट्** ।१।२।१८।।

सेट् क्त्वा किन्न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम् ? कृत्वा ।।

अर्थः—इट्युक्त क्त्वा कित् न समझा जाये।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। क्त्वा ।१।१। सेट् ।१।१। कित् ।१।१। (**असंयोगाल्लिट् कित्** से)। इटा सह वर्त्तत इति सेट्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(सेट्) इट् से युक्त (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं होता। क्त्वा प्रत्यय का ककार इत्संज्ञक है (१३६) अतः वह कित् कहाता है। जब इसे इट् का आगम हो जाता है तब भी वह **यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते** इस परिभाषा के अनुसार सेट् होता हुआ भी कित् ही रहता है। परन्तु प्रकृतसूत्र में सेट् क्त्वा के कित्त्व का निषेध किया जा रहा है। इस से कित्त्व के कारण जो धातु में गुणवृद्धिनिषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्य होते हैं वे न हो सकेंगे[1]। उदाहरण यथा—

शयित्वा (सो कर)। यहां 'शीङ् स्वप्ने' (अदा० आत्मने० सेट्) धातुद्वारा प्रतिपाद्य क्रिया के पूर्वकालवर्त्ती होने के कारण शी धातु से **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) द्वारा क्त्वाप्रत्यय हो कर उसे इट् (४०१) का आगम हो जाता है—शी+इत्वा। अब क्त्वा के कित् होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) द्वारा प्राप्त गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध होना था परन्तु प्रकृतसूत्र से उसे अकित् अतिदेश के कारण वह निषेध नहीं हो पाता, गुण हो जाता है—शे+इत्वा। अब **एचोऽयवायावः** (२२) से एकार को अय् आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने पर 'शयित्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि अकेले 'शयित्वा' का प्रयोग उपपन्न नहीं होता। शयन की पूर्वकालिकता सिद्ध करने के लिये कोई अन्य अपरकालिक क्रिया आवश्यक है। अतः—शयित्वा भुङ्क्ते, शयित्वा प्रलपति आदि का अध्याहार कर लेना चाहिये। ग्रन्थकार वैयाकरण स्वतः गम्य होने से प्रायः इसे छोड़ देते हैं। इसी प्रकार आगे आने वाले अन्य प्रयोगों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—वृत्—वर्तित्वा, वृध्—वर्धित्वा, दिव्—देवित्वा, सिव्—सेवित्वा, नृत्—नर्तित्वा, उष्—ओषित्वा (जला कर), कथि—

---

१. 'कित् न हो' का यह अभिप्राय नहीं कि क्त्वा के ककार की इत्संज्ञा न हो कर उस का लोप ही न हो। इस प्रकार करने से तो प्रत्यय में ककार का श्रवण होगा जो लोक और वेद दोनों के विरुद्ध होगा। अतः यहां केवल अतिदेश ही अभिप्रेत है। अर्थात् सेट् क्त्वा कित् होता हुआ भी अकित् समझा जाये। इस से उस के परे होने पर कित्कार्य न होंगे।

कथयित्वा, गणि—गणयित्वा, चोरि—चोरयित्वा, कृत् (काटना)—**कर्तित्वा**, डी—डयित्वा (उड़कर)।

सूत्र में 'सेट्' इसलिये कहा है कि अनिट् क्त्वा कित् ही रहे अकित् न हो जाये। यथा—कृ धातु (डुकृञ् करणे, तना० उभय० अनिट्) से क्त्वा होकर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से वलादिलक्षण इट् का निषेध हो जाता है—कृ+त्वा=कृत्वा। यहां क्त्वा के कित् रहने से धातु को गुण नहीं होता। स्वप्—सुप्त्वा, वप्—उप्त्वा इत्यादियों में कित्त्व के कारण **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है।

सूत्र में 'क्त्वा' इसलिये कहा है कि सेट् निष्ठा आदि प्रत्यय अकित् न हो जाएं—कुपितः, कुपितवान्, गृहीतः, गृहीतवान्।

अब इस सूत्र के वैकल्पिक अपवाद का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—**(८८१) रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।१।२।२६॥**

इवर्णोवर्णोपधाद् हलादे[1] **रलन्तात् परौ क्त्वा-सनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा, द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युपधात् किम्? वर्तित्वा। रलः किम्? सेवित्वा। हलादेः किम्? एषित्वा। सेट् किम्? भुक्त्वा॥**

अर्थः—इवर्ण या उवर्ण जिस की उपधा हो ऐसी हलादि रलन्त धातु से परे सेट् क्त्वा और सेट् सन् विकल्प से कित् हों।

व्याख्या—रलः।५।१। व्युपधात् ।५।१। हलादेः।५।१। सन् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। क्त्वा।१।१। (**मृडः क्त्वा च** से)। सेट् ।१।१। (**न क्त्वा सेट्** से)। वा इत्यव्ययपदम् (**नोपधात्थफान्ताद्वा** से)। कित् ।१।१। (**असंयोगाल्लिट् कित्** से)। यहां पर 'धातोः' का अध्याहार किया जाता है क्योंकि क्त्वा और सन् प्रत्यय धातु से ही परे होते हैं। 'रलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'रलन्तात्' बन जाता है। रल् एक प्रत्याहार है जो **हयवरट्** (प्रत्या०५) के रेफ से लेकर **हल्** (प्रत्या० १४) के लकार तक जाता है। इस में यकार और वकार को छोड़ कर सब व्यञ्जन आ जाते हैं। उश्च इश्च=वी (**इको यणचि** से यणादेश), वी उपधे यस्य स व्युपधः, तस्मात्=व्युपधात्[2], द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। हल् आदिर्यस्य स हलादिः,

---

१. **रो रि** (१११) इति रेफस्य लोपो बोध्यः।

२. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि आचार्य पाणिनि ने प्रचलित वर्णमाला के क्रम तथा अपने प्रत्याहारसूत्रों के भी क्रम को तोड़ कर किस लिये पहले उकार और बाद में इकार का ग्रहण कर 'व्युपधात्' ऐसा लिखा है जबकि **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (१९९) में उन्होंने पहले इकार और बाद में उकार का यथाक्रम सही निर्देश किया है? इस शङ्का का उत्तर यद्यपि किसी पूर्वसूरि का दिया गया

तस्मात्=हलादेः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(व्युपधात्) उकार या इकार जिस की उपधा है ऐसी (रलः=रलन्तात्) रल्प्रत्याहारान्त (हलादेः) हलादि धातु से परे (सेट् क्त्वा सन् च) सेट् क्त्वा और सेट् सन् (वा) विकल्प से (कित्) कित् हों।

तात्पर्य यह है कि उस धातु से परे सेट् क्त्वा या सेट् सन् विकल्प से कित् होगा जो तीन शर्तें पूरी करती हो—

(१) धातु के आदि में हल् वर्ण होना चाहिये।

(२) धातु के अन्त में रल् वर्ण होना चाहिये।

(३) धातु की उपधा में इकार या उकार में से कोई एक वर्ण हो।[1]

यदि इन में से कोई भी शर्त पूरी न होगी तो उस धातु से परे इस सूत्र से सेट् क्त्वा को वैकल्पिक कित्त्व न होगा। सूत्र के उदाहरण यथा—

द्युतित्वा, द्योतित्वा (चमक कर)। यहां पर पूर्वकालवर्त्ती क्रिया वाली 'द्युतँ दीप्तौ' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७६) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो कर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) द्वारा उसे इट् का आगम हो जाता है —द्युत्+इत्वा। अब **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा के अकिद्वत् हो जाने से **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु द्युत् धातु हलादि भी है और रलन्त भी, इस की उपधा में उकार भी मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति हो कर इस से परे सेट् क्त्वा विकल्प से किद्वत् हो जाता है। जिस पक्ष में किद्वद्भाव होता है वहां **क्ङिति च** (४३३) से गुण का निषेध हो कर—द्युतित्वा। और जिस पक्ष में किद्वद्भाव नहीं होता वहां लघूपधगुण हो कर—द्योतित्वा। इस प्रकार 'द्युतित्वा, द्योतित्वा' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

लिखित्वा, लेखित्वा (लिख कर)। यहां पर 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प० सेट्) धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय हो कर इट् का आगम करने से—लिख्+इत्वा। यहां पर भी लिख् धातु हलादि एवं रलन्त है, इस की उपधा में इकार भी है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा सेट् क्त्वा को विकल्प से किद्वद्भाव हो जाता है। किद्वत्पक्ष में पूर्व-

---

हमारे दृष्टिपथ में अभी तक नहीं आया तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने मुखसुखार्थ ही ऐसा किया है। क्योंकि यदि वे पहले इकार और बाद में उकार का निर्देश करते तो उन का सूत्र 'रलो य्व्युपधाद्धलादेः संश्च' इस प्रकार बन जाता जो निश्चय ही वर्त्तमानसूत्र की अपेक्षा उच्चारण में कठिन और असुविधा-जनक होता। जैनेन्द्रव्याकरण (१.१.९७) तथा हैमव्याकरण (४.३.१५) आदियों में भी अत एव इसी पाणिनिनिर्दिष्ट क्रम का ही अनुसरण किया गया है।

१. इकार उकार से यहां ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार का ही ग्रहण होता है दीर्घ का नहीं। कारण कि उपधा में दीर्घ होने से **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) द्वारा गुण की प्राप्ति ही नहीं होती अतः उस के लिये क्त्वा को कित्त्व-अकित्त्व करना व्यर्थ है।

वत् लघूपधगुण का निषेध तथा अकिद्वद्भावपक्ष में लघूपधगुण हो जाता है—लिखित्वा, लेखित्वा।[1]

इसी प्रकार—मुद्—मुदित्वा, मोदित्वा; कुप्—कुपित्वा, कोपित्वा; बुध् (भ्वा०)—बुधित्वा, बोधित्वा; मिल्—मिलित्वा, मेलित्वा; जुष्—जुषित्वा, जोषित्वा (सेवन कर); च्युत्—च्युतित्वा, च्योतित्वा; चित्—चितित्वा, चेतित्वा (होश में आकर); शुच्—शुचित्वा, शोचित्वा (शोक कर); घुष्—घुषित्वा, घोषित्वा (घोषणा कर के); रुच्—रुचित्वा, रोचित्वा; शुभ्—शुभित्वा, शोभित्वा; क्षुध्—क्षुधित्वा, क्षोधित्वा (भूखा हो कर) आदि।

व्युपधात् किम् ? वर्तित्वा। प्रकृतसूत्र में 'व्युपधात्' इस लिये कहा गया है कि जिस धातु की उपधा में इकार उकार न हो उस से परे सेट् क्त्वा को वैकल्पिक किस्व न हो। यथा—वृत्, वृध्, नृत् आदि धातुओं की उपधा में इकार उकार नहीं अपितु ऋवर्ण है अतः पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) सूत्र से सेट् क्त्वा के अकित् होने से नित्य लघूपधगुण हो जाता है—वर्तित्वा, वर्धित्वा, नर्तित्वा[2]।

रलः किम् ? सेवित्वा। प्रकृतसूत्र में 'रलः = रलन्तात्' इस लिये कहा गया है कि जो धातु रलन्त न हो उस से परे यह सूत्र प्रवृत्त न हो। यथा—सिव् (षिवुँ तन्तु-सन्ताने, सीना, दिवा० प० सेट्) धातु अन्त में वकार रहने से रलन्त नहीं है (रल् प्रत्याहार में वकार नहीं आता) अतः इस से परे क्त्वा को इट् का आगम हो कर पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) से अकिद्वद्भाव के कारण नित्य लघूपधगुण हो जाता है—सेवित्वा (सीकर)[3]।

हलादेः किम् ? एषित्वा (इच्छा कर के)। प्रकृतसूत्र में 'हलादेः' इस लिये कहा गया है कि अजादि धातु से परे इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो जाये। यथा—इष् (इषु इच्छायाम्, चाहना, तुदा० प० सेट्) धातु हलादि नहीं अजादि है अतः इस से परे सेट् क्त्वा पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) से अकित् हो जाता है इस से लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है—एषित्वा[4]।

---

१. इस सूत्र पर सेट् सन् के उदाहरण—दिद्युतिषते, दिद्योतिषते [**द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्** (५३७) से अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है]; लिलिखिषति, लिलेखिषति आदि आकरग्रन्थों से समझने चाहियें।

२. वृत् (वृतुँ) और वृध् (वृधुँ) धातु उदित् हैं अतः **उदितो वा** (८८२) द्वारा इन से परे क्त्वा को वैकल्पिक इट् होता है। यहां इट्पक्ष में इन का प्रत्युदाहरण समझना चाहिये। इट् के अभाव में 'वृत्त्वा' तथा 'वृद्ध्वा' रूप बनेंगे। नृत् ('नृतीँ गात्रविक्षेपे' दिवा० पर०) धातु सेट् है।

३. षिवुँ भी उदित् धातु है अतः यहां भी **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् होता है। इट्पक्ष में यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इट् के अभाव में **च्छ्वोः शूड०** (८४३) से वकार को ऊठ् हो कर यण् हो जाता है—स्यूत्वा।

४. यहां **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) से विकल्प से इट् का आगम होता है। इट्पक्ष में यह प्रत्युदाहरण है। इट् के अभाव में ष्टुत्व हो कर—इष्ट्वा।

सेट् किम् ? भुक्त्वा । प्रकृतसूत्र में 'सेट्' का अनुवर्त्तन होता है अतः अनिट् क्त्वा में सारी शर्तें पूरी होते हुए भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः, पालना या खाना, रुधा० प० अनिट्) धातु हलादि भी है और रलन्त भी। इस की उपधा में उकार भी मौजूद है परन्तु इस से परे **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) द्वारा क्त्वा को इट् आगम नहीं होता। अतः अनिट् क्त्वा में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। पूर्वसूत्र भी सेट् क्त्वा में प्रवृत्त होता है अतः वह भी यहां अकित्त्व-सम्पादन नहीं कर सकता। इस प्रकार क्त्वा के कित् ही रहने के कारण **क्ङिति च** (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है—भुज्+त्वा। अब **चोः कुः** (३०६) से धातु के जकार को कुत्व-गकार तथा **खरि च** (७४) से गकार को ककार करने पर 'भुक्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

इन प्रत्युदाहरणों से आचार्य पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है कि वे किस प्रकार अत्यन्त सावधान हो कर सूत्रों का प्रणयन करते थे।

अब उदित् धातुओं से परे क्त्वा में इट् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८२) उदितो वा ।७।२।५६।।

उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा—शान्त्वा। देवित्वा—द्यूत्वा। **दधातेर्हिः** (८२६) —हित्वा ।।

अर्थः—जिस धातु का ह्रस्व उकार इत् हो उस धातु से परे क्त्वा को विकल्प से इट् आगम होता है।

व्याख्या—उदितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। क्त्वः ।६।१।[1] (**जृव्रश्च्योः क्त्वि** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। इट् ।१।१। (**वसतिक्षुधोरिट्** से)। उत् (ह्रस्व उकारः) इत् यस्य स उदित्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(उदितः) जिस का ह्रस्व उकार इत् हो ऐसी धातु से परे (क्त्वः) क्त्वा प्रत्यय का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है। उदाहरण यथा—

शमित्वा, शान्त्वा (शान्त हो कर)। शमुँ उपशमे (शान्त होना, दिवा० परस्मै० सेट्) धातु का अन्त्य उँकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'शम्' मात्र शेष रहता है।

---

१. 'क्त्वा' के धातु न होने पर भी इस से परे षष्ठ्येकवचन में क्त्वा+अस् (ङस्) इस स्थिति में **आतो धातोः** (१६७) सूत्र के योगविभाग के कारण आकार का लोप हो जाता है—क्त्व्+अस्=क्त्वः। इसी प्रकार ङि में—क्त्वि। यथा आचार्य का प्रयोग है —**जहातेश्च क्त्वि** (८८३)। इसी तरह 'श्ना' के विषय में भी समझ लेना चाहिये। **हलः श्नः शानज्झौ** (६८७)। परन्तु कहीं कहीं आकार का लोप नहीं भी होता और इन को आबन्तों की तरह प्रयोग में लाया जाता है। यथा—क्त्वायां कित्-प्रतिषेधश्च (महाभाष्य १.२.३ पर)। इसी प्रकार—टायाम् (देखें महाभाष्य २.४.३२ पर)। इस का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी में **आतो धातोः** (६.४.१४०) सूत्र पर देखना चाहिये।

अतः यह उदित् धातु है। इस से परे **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) से क्त्वा प्रत्यय आ कर उसे प्रकृतसूत्रद्वारा वैकल्पिक इट् का आगम हो जाता है। जिस पक्ष में इट् हुआ वहां 'शमित्वा' और जिस पक्ष में इट् न हुआ वहां पर झलादि कित् के परे रहते **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधा को दीर्घ हो कर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण (७९) करने से 'शान्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—भ्रम् (भ्रमुँ)—भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा (घूम कर)। श्रम् (श्रमुँ)—श्रमित्वा, श्रान्त्वा (थक कर)। तम् (तमुँ)—तमित्वा, तान्त्वा (क्षीण हो कर)। चम् (चमुँ)—चमित्वा, चान्त्वा (खा कर)। दम् (दमुँ)—दमित्वा, दान्त्वा (वश में कर के)। वम् (वमुँ)—वमित्वा, वान्त्वा (वमन कर के)। क्रम् (क्रमुँ)—क्रमित्वा, क्रान्त्वा[1] (पग धर कर)। क्लम् (क्लमुँ) क्लमित्वा, क्लान्त्वा (थक कर)। **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) से इडभावपक्ष में अनुनासिक का लोप हो जाता है—तन् (तनुँ)—तनित्वा, तत्वा (विस्तार कर के)। रम् (रमुँ)—रमित्वा, रत्वा (खेल कर)। कुछ वैयाकरण (माधव आदि) रमुँ के उदित्त्व को अनार्ष मानते हैं उन के मत में केवल 'रत्वा' ही बनता है।

देवित्वा, द्यूत्वा (जूआ खेल कर)। दिवुँ यह दिवादिगण की प्रथम धातु है। इस के अनुनासिक उकार अनुबन्ध का लोप हो 'दिव्' शेष रहता है। इस उदित् धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय करने पर प्रकृतसूत्र से विकल्प से इट् का आगम हो जाता है। इट्पक्ष में **न क्त्वा सेट्** (८८०) द्वारा सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः उपधा को गुण करने पर—देवित्वा। इट् के अभाव में—'दिव्+त्वा' इस स्थिति में **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) से वकार को ऊठ् (ऊ) हो कर **इको यणचि** (१५) से इकार को यण्-यकार करने पर—द्यूत्वा। इस प्रकार 'देवित्वा-द्यूत्वा' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—सिव् (षिवुँ)—सेवित्वा, स्यूत्वा (सीकर)।

हित्वा (धारण कर)। धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः, जुहो० उभय० अनिट्) धातु से पूर्वकाल में पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय कर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है—धा+त्वा। अब तकारादि कित् के परे रहते **दधातेर्हिः** (८२६) सूत्र से धा के स्थान पर 'हि' सर्वादेश हो कर 'हित्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

ओँहाक् त्यागे (छोड़ना, जुहो० परस्मै० अनिट्) धातु का भी क्त्वा में 'हित्वा' रूप बनता है। तथाहि वहां 'हा+त्वा' इस अवस्था में **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८३) जहातेश्च क्त्वि ।७।४।४३॥

हित्वा। हाङस्तु—हात्वा॥

१. इट् के अभावपक्ष में **क्रमश्च क्त्वि** (६.४.१८) से दीर्घ का विकल्प हो जाता है। दीर्घाभाव में—'क्रन्त्वा'।

अर्थः—क्त्वा के परे होने पर हा (ओँहाक् त्यागे) धातु के स्थान पर भी 'हि' आदेश हो।

व्याख्या—जहातेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । क्त्वि ।७।१। हिः ।१।१। (दधातेर्हिः से)। ओँहाक् धातु से धातुनिर्देश में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** द्वारा श्तिप् प्रत्यय करने पर द्वित्वादि कार्य हो कर 'जहाति' प्रातिपदिक बनता है। 'जहाति' का अर्थ है—ओँहाक् धातु। इसी का यहां ग्रहण किया गया है। 'ओँहाङ् गतौ' (जाना; जुहो० आत्मने० अनिट्) धातु से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय करने पर 'जिहाति' रूप बनता है [**भृञामित्** (६२२) सूत्र से अभ्यास को इत्व हो जाता है]। अतः उस का यहां ग्रहण नहीं। अर्थः—(क्त्वि) क्त्वा प्रत्यय परे होने पर (जहातेः) ओँहाक् धातु के स्थान पर (च) भी (हिः) हि आदेश हो जाता है। अनेकाल् होने से यह 'हि' सर्वादेश समझना चाहिये। हलादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्ययों में **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र से ओँहाक् के आकार को ईत्व प्राप्त था उस का क्त्वा में अपवाद यह 'हि' आदेश विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

हा+त्वा। यहां त्वा परे है अतः हा (ओँहाक्) को प्रकृतसूत्र से 'हि' सर्वादेश हो कर 'हित्वा' (छोड़ कर) प्रयोग सिद्ध होता है।

ओँहाङ् गतौ (जुहो० आत्मने० अनिट्) धातु से क्त्वा करने पर 'हात्वा' बनेगा। प्रकृतसूत्र में ओँहाक् का ग्रहण है अतः 'हि' आदेश न होगा। ध्यान रहे कि **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) में भी 'जहाति' (ओँहाक्) का ग्रहण है अतः उस से भी यहां ईत्व न होगा—हात्वा (जा कर)।

अब समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८४) **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** ।७।१।३७।।

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात्। तुँक्। प्रकृत्य। अनञ् किम्? अकृत्वा ।।

अर्थः—जिस समास के पूर्वपद में नञ् से भिन्न कोई अन्य अव्यय स्थित हो तो उस समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होता है।

व्याख्या—समासे ।७।१। अनञ्पूर्वे ।७।१। क्त्वः ।६।१। ल्यप् ।१।१। न नञ्—अनञ्, नञ्तत्पुरुषसमासः। अनञ् पूर्वम् (पूर्वपदम्) यस्मिन् सोऽनञ्पूर्वः, तस्मिन्=अनञ्पूर्वे, बहुव्रीहिसमासः। यह 'समासे' का विशेषण है। 'अनञ्' में पर्युदासप्रतिषेध है। 'पर्युदासः सदृग्ग्राही' के अनुसार नञ् से भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है। नञ् अव्यय है अतः नञ् से भिन्न तत्सदृश किसी अन्य अव्यय का ही ग्रहण होता है। अर्थः—(अनञ्पूर्वे समासे) जिस समास में नञ् से भिन्न कोई अन्य अव्यय पूर्वपद हो तो उस समास में (क्त्वः) क्त्वा के स्थान पर (ल्यप्) ल्यप् आदेश हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि समास में प्रायः दो पद होते हैं। एक पूर्वपद तथा दूसरा

उत्तरपद ; जब समास के पूर्वपद में नञ् से भिन्न अन्य कोई अव्यय हो तो उत्तरपदस्थ क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर ल्यप् आदेश हो जाता है। क्त्वा कृत्संज्ञक आर्धधातुक कित् प्रत्यय है अतः उस के स्थान पर होने वाला यह ल्यप् भी **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१४४) के अनुसार प्रत्यय, कृत्, आर्धधातुक तथा कित् समझा जायेगा। क्त्वान्त **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्यय होता है तो यह ल्यबन्त भी अव्ययसंज्ञक होगा। इस से परे सुँ का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जायेगा। अल्विधि होने से क्त्वा का तादित्व या वलादित्व धर्म ल्यप् में नहीं आयेगा। यही कारण है कि ल्यप् को कभी इट् का आगम नहीं होता। प्रत्ययसंज्ञक होने से ल्यप् के आदि लकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य पकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। अनुबन्धों का लोप हो कर ल्यप् का 'य' मात्र शेष रहता है। ल्यप् अनुबन्धों से रहित हो कर भी अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) से यह क्त्वा के स्थान पर सर्वादेश होता है। ल्यप् में लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये तथा पकार अनुबन्ध पित्कार्य तुँक् आदि के लिये जोड़ा गया है। सूत्र का उदाहरण यथा—

प्रकृत्य (भली भांति या अच्छी तरह कर के)। यहां पर कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभय० अनिट्) धातु से परे पूर्वकाल में **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७६) से क्त्वा प्रत्यय हो कर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध तथा कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का भी निषेध करने पर—कृ + क्त्वा = कृ + त्वा = कृत्वा। अब 'प्र' अव्यय के साथ 'कृत्वा' का **कुगतिप्रादयः** (९४६) से प्रादिसमास होता है। यह समास नित्य है अतः स्वपदविग्रह नहीं होता। 'प्र + कृत्वा' इस समास में 'प्र' यह अव्यय पूर्वपद में स्थित है, यह नञ् से भी भिन्न है अतः प्रकृतसूत्र से उत्तरपदस्थ कृत्वा के त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर—प्र + कृ + य। ल्यप् के पित् होने से **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से ह्रस्व ऋकार को तुँक् का आगम हो कर—प्र + कृत् + य = प्रकृत्य। अब समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा होने के कारण इस से परे प्रथमैकवचन सुँ लाया जाता है। परन्तु ल्यबन्त के अव्ययसंज्ञक होने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'प्रकृत्य' यह प्रयोग उपपन्न होता है। प्रकर्षेण कृत्वा—प्रकृत्य।

समास के पूर्वपद में यदि नञ् होगा तो उत्तरपदस्थ क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश न होगा। यथा—न कृत्वा—अकृत्वा (न कर के)। यहां 'कृत्वा' का 'नञ्' के साथ **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास किया गया है। 'न + कृत्वा' यहां पूर्वपद में नञ् है अतः प्रकृतसूत्र से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। अब **नलोपो नञः** (९४७) से नञ् के आदि नकार का लोप हो कर—अ + कृत्वा = अकृत्वा। समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का अव्ययत्वात् पूर्ववत् लुक् हो कर 'अकृत्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। **अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयाऽपि सुभोग्यया** (पञ्चतन्त्र ४.८०)।

अनाहूय, अनाहृत्य, अनुद्वीक्ष्य, असमीक्ष्य, अनागत्य, अनधिकृत्य—इत्यादि स्थानों पर नञ्समास में जो ल्यप् देखा जाता है वह नञ्समास से पूर्व प्रादिसमास के

कारण आदिष्ट हुआ समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थानों पर नञ्भिन्न से पहले प्रादिसमास हो चुकता है तब उस के साथ नञ्समास होता है । इस तरह नञ् ल्यबन्त के साथ समस्त होता है क्त्वान्त के साथ नहीं अतः कोई दोष प्रसक्त नहीं होता । यथा—'अनु+भूत्वा' में प्रादिसमास हो कर 'अनुभूय' बना । अब इस का नञ् के साथ नञ्तत्पुरुषसमास होता है—न अनुभूय=अननुभूय ।

क्त्वा और ल्यप् की प्रक्रिया में ध्यातव्य कुछ बातें—

[१] उदित् धातुओं से परे क्त्वा को **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् हो जाता है। इट्पक्ष में **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः धातु में गुण हो जाता है । दूसरे अनिट्पक्ष में कित्त्व के अक्षुण्ण रहने के कारण गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है । यथा—वृतुँ—वर्तित्वा, वृत्त्वा । वृधुँ—वर्धित्वा, वृद्ध्वा । दिवुँ—देवित्वा, द्यूत्वा । सिवुँ—सेवित्वा, स्यूत्वा ।

[२] **रधादिभ्यश्च** (६३५), **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) तथा **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) सूत्रों द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प किया जाता है । यथा—रध् (हिंसा करना, सिद्ध होना)—रधित्वा, रद्ध्वा । नश्—नशित्वा, नष्ट्वा, नंष्ट्वा । तृप्—तर्पित्वा, तृप्त्वा । क्षमूँ—क्षमित्वा, क्षान्त्वा । त्रपूँष्—त्रपित्वा, त्रप्त्वा । इष् (चाहना)—एषित्वा, इष्ट्वा । सह् (सहना)—सहित्वा, सोढ्वा । लुभ् (लोभ करना)—लुभित्वा-लोभित्वा, लुब्ध्वा ।

[३] **श्र्युकः किति** (६५०) सूत्र से श्रिञ् तथा एकाच् उगन्त सेट् धातुओं से परे भी क्त्वा में इट् का निषेध हो जाता है। यथा—श्रि—श्रित्वा । भू—भूत्वा । पू—पूत्वा । लू—लूत्वा । तॄ—तीर्त्वा । सू—सूत्वा[1] ।

[४] अपवादों को छोड़ कर सेट् क्त्वा **न क्त्वा सेट्** (८८०) सूत्रद्वारा कित् नहीं होता । अतः उस के परे रहते गुण आदि कार्य हो जाते हैं । यथा—दिवुँ—देवित्वा, द्यूत्वा । सिवुँ—सेवित्वा, स्यूत्वा । उदित्त्व के कारण **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् हो जाता है । इट् के अभाव में ऊठ् (८४३) हो जाता है । इस कित्त्वाभाव के कुछ प्रसिद्ध अपवाद यथा—

(क) मृड्, मृद्, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद्, वस्, रुद्, विद्, मुष्, ग्रह्—इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा भी कित् होता है[2] । यथा—मृड्—मृडित्वा । मृद्—मृदित्वा ।

---

१. यह निषेध **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इस विकल्प का भी बाध कर लेता है । यथा—स्वृ—स्वृत्वा । सू—सूत्वा । धूञ्—धूत्वा ।

२. **मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा** (१.२.७)—इन मृड् आदि धातुओं से परे क्त्वा प्रत्यय कित् होता है। **रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च** (१.२.८)—इन धातुओं से परे सन् और क्त्वा कित् होते हैं । स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् के लिये ही है क्योंकि ये धातुएं अनिट् हैं अतः इन से परे क्त्वा के कित्त्व का कोई बाधक नहीं ।

गुध्—गुधित्वा । कुष्—कुषित्वा । क्लिश्—क्लिशित्वा । वद्—उदित्वा । वस्—उषित्वा । रुद्—रुदित्वा । विद्—विदित्वा । मुष्—मुषित्वा । ग्रह्—गृहीत्वा[1] ।

(ख) जिस की उपधा में नकार हो ऐसी थकारान्त या फकारान्त धातु से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है[2] । कित्त्वपक्ष में उपधा के नकार का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से लोप हो जायेगा और कित्त्वाभाव में न होगा । यथा—गुम्फ्—गुफित्वा, गुम्फित्वा । श्रन्थ्—श्रथित्वा, श्रन्थित्वा । ग्रन्थ्—ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा ।

(ग) तृष्, मृष् और कृश् धातुओं से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है[3] । यथा—तृषित्वा, तर्षित्वा । मृषित्वा, मर्षित्वा । कृशित्वा, कर्शित्वा ।

(घ) हलादि रलन्त जिस धातु की उपधा में इकार या उकार हो उस से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् हो[4] । इस प्रकार कित्त्वपक्ष में गुणाभाव तथा कित्त्वाभाव में गुण हो जाता है । यथा—लिख्—लिखित्वा, लेखित्वा । रुच्—रुचित्वा, रोचित्वा । द्युत्—द्युतित्वा, द्योतित्वा ।

[५] णिजन्तों (स्वार्थ या हेतुमत्) में **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः णि को गुणद्वारा एकार हो कर अय् आदेश हो जाता है । यथा—चोरि+इट् त्वा=चोरे+इत्वा=चोरयित्वा । स्थापि+इट् त्वा=स्थापे+इत्वा=स्थापयित्वा । भक्षयित्वा । पाठयित्वा । कथयित्वा । गणयित्वा । क्षालयित्वा आदि ।

[६] णिजन्तों से परे यदि क्त्वा के स्थान पर ल्यप् किया जाये तो **णेरनिटि** (५२६) सूत्र से णि का लोप हो जाता है । यथा—सम्+चोरि+य (ल्यप्)=सञ्चोर्य । वि+चिन्ति+य=विचिन्त्य । प्र+क्षालि+य=प्रक्षाल्य । परन्तु णि के परे रहते जो वर्ण, उस की उपधा में यदि लघु वर्ण हो तो **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) सूत्र से णि को अय् आदेश हो जाता है । यथा—वि+गणि+य (ल्यप्)=विगणय्य । प्र+कथि+य(ल्यप्)=प्रकथय्य[5] ।

[७] ल्यप् (य) वलादि नहीं । क्त्वा (त्वा) का वलादित्व अल्धर्म है अतः स्थानिवद्भाव के कारण वह ल्यप् में सङ्क्रान्त नहीं होता । यही कारण है कि ल्यप् के परे रहते किसी धातु से परे इट् का आगम नहीं होता ।

---

१. वद्, वस् और ग्रह् में कित्त्व के कारण सम्प्रसारण हो जाता है ।

२. **नोपधात् थफान्ताद्वा** (१.२.२३)—नकारोपध थकारान्त या फकारान्त धातु से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् हो ।

३. **तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य** (१.२.२५) ।

४. **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** (८८१) ।

५. शिष्टप्रयोगों में यदि कहीं इस नियम का उल्लङ्घन दिखाई दे तो वहां **अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः** (चुरादिगणीय धातुओं से परे णिच् का विधान अनित्य है) का आश्रय कर समाधान करना चाहिये ।

[८] अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश (मन्, हन्, गम्, नम्, रम्, यम्) धातुओं तथा वन् और तनोत्यादि धातुओं से परे झलादि = अनिट् क्त्वा हो तो इन धातुओं के अन्त्य अनुनासिक का लोप हो जाता है[1]। यथा—मन्—मत्वा। हन्—हत्वा। गम्—गत्वा। नम्—नत्वा। रम्—रत्वा। यम्—यत्वा। वन्—वत्वा। तन्—तत्वा।

[९] परन्तु ल्यप् परे होने पर पूर्वोक्त धातुओं में से नकारान्त धातुओं के अन्त्य नकार का नित्य तथा मकारान्त धातुओं के अन्त्य मकार का विकल्प से लोप हो जाता है[2]। नकारान्तों से यथा—मन्—अवमत्य (नकार का लोप हो कर तुँक् आगम)। हन्—निहत्य। वन्—प्रवत्य। तन्—अवतत्य। मकारान्तों से यथा—गम्—आगत्य (तुँक्), आगम्य। नम्—प्रणत्य (तुँक्), प्रणम्य। रम्—विरत्य (तुँक्), विरम्य। यम्—नियत्य (तुँक्), नियम्य।

[१०] अनिट् क्त्वा के परे रहते जिन मकारान्त धातुओं में अन्त्य मकार का लोप नहीं होता वहां **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधादीर्घ होकर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को नित्य परसवर्ण (७९) हो जाता है। यथा—कम्—कमित्वा, कान्त्वा। क्लम्—क्लमित्वा, क्लान्त्वा। चम्—चमित्वा, चान्त्वा। भ्रम्—भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा। वम्—वमित्वा, वान्त्वा। शम्—शमित्वा, शान्त्वा। श्रम्—श्रमित्वा, श्रान्त्वा। ये धातुएं उदित् हैं अतः **उदितो वा** (८८२) से इट् का विकल्प होता है। अनिट्पक्ष में उपधादीर्घ हो जाता है।

[११] क्त्वा के परे रहते दो, सो, मा और स्था धातुओं को इत्व हो जाता है[3]। यथा—दो (तोड़ना)—दित्वा। सो (नष्ट करना)—सित्वा। मा—मित्वा। स्था—स्थित्वा। इसी प्रकार हा (छोड़ना) और धा (धारण या पोषण करना) धातुओं को क्त्वा के परे रहते 'हि' आदेश[4] तथा दा को दद्[5] आदेश हो जाता है—हा—हित्वा (छोड़ कर), धा—हित्वा (धारण कर के)। दा—दत्त्वा। गै, पा (पीना) तथा अन्य घुसंज्ञकों को ईत्व हो जाता है[6]। यथा—गै—गीत्वा (आत्व हो कर ईत्व), पा—पीत्वा। धेट्—धीत्वा (पी कर)। ध्यान रहे कि ल्यप् में **न ल्यपि** (६.४.६९) से निषेध हो जाता है।

---

१. **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९)।

२. **वा ल्यपि** (६.४.३८)। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन नान्तानां नित्यम्, मान्तानाञ्च विभाषया लोपोऽवसेयः।

३. **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०)—तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो दो, सो, मा, स्था धातुओं को इकार अन्तादेश हो जाता है।

४. **दधातेर्हिः** (८२९), **जहातेश्च क्त्वि** (८८३)।

५. **दो दद् घोः** (८२७)।

६. **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८)।

[१२] कई जगह धातु में उपसर्ग का भ्रम पड़ता है पर वहां क्त्वा को ल्यप् नही होता। यथा—संग्रामयित्वा, संकेतयित्वा, निवासयित्वा, अवधीरयित्वा, आन्दोलयित्वा आदि। इन स्थानों पर सङ्ग्राम, संकेत, निवास आदि सम्पूर्ण शुद्ध धातु ही समझनी चाहियें। इन में सम्, नि आदि अंश उपसर्ग नहीं अपितु धातु का ही अवयव है।

[१३] स्वार्थणिजन्त धातुओं की तरह हेतुमण्णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त तथा अन्य नामधातुओं से भी क्त्वा-ल्यप् हुआ करते हैं। यथा—(हेतुमण्णिजन्त)—पाठि—पाठयित्वा-सम्पाठ्य; स्थापि—स्थापयित्वा-संस्थाप्य; दापि—दापयित्वा-सन्दाप्य; चालि—चालयित्वा-संचाल्य; दर्शि—दर्शयित्वा-संदर्श्य; ज्ञापि—ज्ञापयित्वा-विज्ञाप्य; श्रावि—श्रावयित्वा-सुश्राव्य। (सन्नन्त)—चिकीर्ष—चिकीर्षित्वा-प्रचिकीर्ष्य; शुश्रूष—शुश्रूषित्वा-अनुशुश्रूष्य; तितीर्ष—तितीर्षित्वा-सन्तितीर्ष्य। (यङन्त)—लोलूय—लोलूयित्वा-विलोलूय्य; पोपूय—पोपूयित्वा-विपोपूय्य। आदि।

क्त्वा-ल्यप्सम्बन्धी ये सब साधारण कार्य कहे हैं, विशेष स्थलों पर विशेष कार्य भी होते हैं।

अब हम अर्थसहित साढ़े तीन सौ सुप्रसिद्ध धातुओं के क्त्वान्त और ल्यबन्त रूपों की तालिका दे रहे हैं। इस में स्थान स्थान पर विशेष कार्यों के लिये टिप्पणी दी गई है। विद्यार्थी यदि इस का अनुशीलन करेंगे तो निश्चय ही इस प्रक्रिया में निष्णात हो जाएंगे—

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
अट् (घूमना)	अटित्वा	पर्यट्य	अव् (बचाना)	अवित्वा	समव्य
अद् (खाना)	जग्ध्वा[1]	प्रजग्ध्य	अश् (खाना)	अशित्वा	प्राश्य
अन् (सांस लेना)	अनित्वा	प्राण्य[2]	अस् (होना)	भूत्वा[4]	अनुभूय
अय् (जाना)	अयित्वा	पलाय्य[3]	अस् (फेंकना)	असित्वा[5] / अस्त्वा	निरस्य
अर्च् (पूजना)	अर्चित्वा	समर्च्य			
अर्जि (कमाना)	अर्जयित्वा*	उपार्ज्य	आप् (पाना)	आप्त्वा	प्राप्य
अर्थि (मांगना)	अर्थयित्वा*	प्रार्थ्य	आस् (बैठना)	आसित्वा	उपास्य
अर्द् (मांगना)	अर्दित्वा	अभ्यर्द्य	इ [इङ्] (पढना)		अधीत्य[6]

१. अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२.४.३६) इति जग्ध्यादेशः।

२. अनितेः (८.४.१९) इत्युपसर्गनिमित्तकं णत्वं बोध्यम्।

३. उपसर्गस्यायतौ (५३५) इत्युपसर्गरेफस्य लत्वम्।

* क्त्वायां न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्त्वनिषेधाण्णेर्गुणेऽयादेशः। ल्यपि तु णेरनिटि (५२९) इति णेर्लोपः। एवंचिह्नितेषु सर्वत्रैवं बोध्यम्।

४. अस्तेर्भूः (५७६) इत्यार्धधातुकविषये 'भू' इत्यादेशः। श्र्युकः किति (६५०) इतीण्निषिध्यते।

५. असुं क्षेपणे (दिवा० प० अनिट्)। उदित्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट्।

६. इङ् अध्ययने (अदा० आ० अनिट्)। नित्यमधिपूर्वः। तेन विशुद्धक्त्वायां रूपा-

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
इ[ण्] (जाना)	इत्वा	उपेत्य	कर्णि (सुनना)	कर्णयित्वा*	आकर्ण्य
इष् (चाहना)	एषित्वा[1] इष्ट्वा	प्रेष्य	काङ्क्ष् (चाहना)	काङ्क्षित्वा	अभि-काङ्क्ष्य
ईक्ष् (देखना)	ईक्षित्वा	निरीक्ष्य	काश् (चमकना)	काशित्वा	प्रकाश्य
ईह् (चेष्टा करना)	ईहित्वा	समीह्य	कीर्ति (वर्णन करना)	कीर्तयित्व*	संकीर्त्य
उष् (जलाना)	ओषित्वा	उपोष्य	कुप् (क्रोध करना)	कुपित्वा[5] कोपित्वा	प्रकुप्य
ऊह् (तर्क करना)	ऊहित्वा	समुह्य[2]	कुर्द् (कूदना)	कूर्दित्वा[6]	संकूर्द्य
एज् (कांपना)	एजित्वा	प्रेज्य	कूज् (कूकना)	कूजित्वा	संकूज्य
एध् (बढ़ना)	एधित्वा	समेध्य	कृ (करना)	कृत्वा	अधिकृत्य
कथि (कहना)	कथयित्वा[3]	प्रकथय्य	कृत् (काटना)	कर्तित्वा[7]	विकृत्य
कम् (चाहना)	कामयित्वा कमित्वा कान्त्वा[4]	अभिकाम्य अभिकम्य	कृष् (खींचना)	कृष्ट्वा	आकृष्य
			कॄ (बिखेरना)	कीर्त्वा[8]	प्रकीर्य
कम्प् (कांपना)	कम्पित्वा	प्रकम्प्य	क्रन्द् (चिल्लाना)	क्रन्दित्वा	आक्रन्द्य

भावः । अधीत्येत्यत्र सवर्णदीर्घैकादेशस्य **षत्वतुकोरसिद्धः** (६.१.८६) इत्यसिद्धत्वाद् **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (७७७) इति तुक् । एवम् 'उपेत्य' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

१. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट् । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणः । अन्यत्र गुणाभावे ष्टुत्वम् ।

२. **उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः** (७.४.२३) इति ह्रस्वः ।

३. **क्त्वायामिटि न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणेऽयादेशः । ल्यपि तु **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.५६) इति णेरयादेशः ।

४. कमुँ कान्तौ (भ्वा० आ० सेट्) । **कमेर्णिङ्** (५२५). **आयादय आर्धधातुके वा** (४६६) इति वा णिङ् । णिङ्पक्षे --कामयित्वा । णिङोऽभावे **उदितो वा** (८८२) इति वेट् । इडभावे **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

५. कुप क्रोधे (दि० प०) । धातुरयं सेट् । **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** (८८१) इति कित्त्वं विकल्प्यते ।

६. **उपधायाञ्च** (८.२.७८) इति दीर्घः ।

७. कृतीँ छेदने (तुदा० प० सेट्) । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधस्तेन गुणः ।

८. कॄ विक्षेपे (तुदा० प० सेट्) । **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः । **ॠत इद्धातोः** (६६८) इत्यनेन इत्वे, रपरत्वे, **हलि च** (६१२) इति दीर्घः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
क्रम् (कदम बढ़ाना)	क्रमित्वा[1] क्रान्त्वा क्रन्त्वा	संक्रम्य
क्री (खरीदना)	क्रीत्वा	विक्रीय
क्रीड् (खेलना)	क्रीडित्वा	संक्रीड्य
क्रुध् (क्रोध करना)	क्रुद्ध्वा[2]	अभिक्रुध्य
क्रुश् (पुकारना)	क्रुष्ट्वा	आक्रुश्य
क्लम् (थकना)	क्लमित्वा[3] क्लान्त्वा	विक्लम्य
क्लिद् (गीला होना)	क्लेदित्वा[4] क्लिदित्वा क्लित्त्वा	विक्लिद्य
क्लिश् (तंग करना)	क्लिशित्वा[5] क्लिष्ट्वा	परिक्लिश्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
क्वण् (गूंजना)	क्वणित्वा	प्रक्वण्य
क्वथ् (उबालना)	क्वथित्वा	प्रक्वथ्य
क्षम् (सहना)	क्षमित्वा[6] क्षान्त्वा	प्रक्षम्य
क्षर् (टपकना)	क्षरित्वा	विक्षर्य
क्षालि (धोना)	क्षालयित्वा*	प्रक्षाल्य
क्षि (घटना)	क्षित्वा	प्रक्षीय[7]
क्षिप् (फेंकना)	क्षिप्त्वा	प्रक्षिप्य
क्षुध् (भूखा होना)	क्षुधित्वा[8] क्षोधित्वा	संक्षुध्य
क्षुभ् (क्षुब्ध होना)	क्षुभित्वा[9] क्षोभित्वा	संक्षुभ्य
खन् (खोदना)	खनित्वा[10] खात्वा	उत्खन्य उत्खाय

---

१. क्रमुँ पादविक्षेपे (भ्वा० प० सेट्)। उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इटोऽभावे **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इति नित्य उपधादीर्घे प्राप्ते **क्रमश्च क्त्वि** (६.४.१८) इति विकल्प्यते।

२. **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम्।

३. क्लमुँ ग्लानौ (दिवा० प० सेट्)। **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इडभावे उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

४. क्लिदूँ आर्द्रीभावे (दिवा० पर० सेट्)। ऊदित्त्वादिड्विकल्पः। इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्। इटोऽभावे कित्त्वाद् गुणाभाव.।

५. **क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः** (७.२.५०) इति वेट्। इट्पक्षे **मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा** (१.२.७) इति नित्यकित्त्वेन गुणाभावः।

६. क्षमूँ सहने (दिवा० प०)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इटोऽभावे—उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

७. **क्षियः** (६.४.५९) इति ल्यपि दीर्घः।

८. **वसति-क्षुधोरिट्** (७.२.५२) इति क्त्वायामिट्। **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पः। तेन रूपद्वयम्।

९. क्षुभँ सञ्चलने (भ्वा० आ० सेट्)। **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

१०. खनुँ अवदारणे (भ्वा० उ० सेट्)। **उदितो वा** (८८२) इति क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे **जन-सन-खनां सञ्झलोः** (६७६) इत्यात्त्वे सवर्णदीर्घः। ल्यपि **ये विभाषा** (६७५) इत्यात्त्वविकल्पः।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
खाद् (खाना)	खादित्वा	संखाद्य
खिद् (खिन्न होना)	खित्त्वा	संखिद्य
खेल् (खेलना)	खेलित्वा	संखेल्य
गणि (गिनना)	गणयित्वा	विगणय्य[1]
गद् (कहना)	गदित्वा	निगद्य
गम् (जाना)	गत्वा[2]	अवगत्य / अवगम्य
गर्ज् (गरजना)	गर्जित्वा	संगर्ज्य
गर्ह् (निन्दा करना)	गर्हित्वा	विगर्ह्य
गवेषि (ढूंढना)	गवेषयित्वा[*]	संगवेष्य
गाह् (नहाना)	गाहित्वा[3] / गाढ्वा	अवगाह्य
गुञ्ज् (गूंजना)	गुञ्जित्वा[4]	संगुञ्ज्य
गुप् (रक्षाकरना)	गोपायित्वा / गुपित्वा / गोपित्वा / गुप्त्वा[5]	संगोपाय्य / संगुप्य
गुम्फ् (गूंथना)	गुफित्वा[6] / गुम्फित्वा	संगुफ्य
गुह् (छिपाना)	गुहित्वा[7] / गोहित्वा / गूढ्वा	विगुह्य
गृध् (लालची होना)	गर्धित्वा[8] / गृद्ध्वा	प्रगृध्य
गॄ (निगलना)	गीर्त्वा[9]	संगीर्य

१. ल्यपि लघुपूर्वात् (६.४.३८) इति णेरयादेशः।

२. क्त्वायाम् अनुदात्तोपदेशवनति० (५५६) इत्यनुनासिकलोपः। ल्यपि तु वा ल्यपि (६.४.३८) इति लोपविकल्पः। लोपपक्षे ह्रस्वस्य पिति० (७७७) इति तुक्।

३. गाहूँ विलोडने (भ्वा० आ०)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इडभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः।

४. गुजिँ अव्यक्ते शब्दे (भ्वा० प० सेट्)। धातोरिदित्त्वान्नलोपो न।

५. गुपूँ रक्षणे (भ्वा० प० वेट्)। गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः (४६७), आयादय आर्धधातुके वा (४६९) इति आयविकल्पः। आयपक्षे इटि अतो लोपः (४७०)। आयाभावे ऊदित्त्वाद्वेट्। इट्पक्षे रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्। इटोऽभावे गुप्त्वेति।

६. गुम्फ ग्रन्थे (तु० प० सेट्)। नोपधात् थफान्ताद्वा (१.२.२३) इति सेट् क्त्वा वा कित्। कित्त्वपक्ष उपधानकारलोपस्तेन रूपद्वयम्। ल्यपि तु इटोऽभावान्नित्य-लोपः।

७. गुहूँ संवरणे (भ्वा० आ० वेट्)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इट्पक्षे रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वं विकल्प्यते। कित्त्वपक्षे ऊदुपधाया गोहः (६.४.८९) इत्युपधादीर्घः। कित्त्वाभावे लघूपधगुणः। इटोऽभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः। इत्थं समा-हृत्य त्रीणि रूपाणि जायन्ते।

८. गृधुँ अभिकाङ्क्षायाम् (दिवा० प० सेट्)। उदितो वा (८८२) इतीड्विकल्पः। इट्पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्त्वनिषेधेन लघूपधगुणः। इटोऽभावे धत्व-जश्त्वे।

९. श्र्युकः किति (६५०) इतीण्निषेधः। ॠत इद् धातोः (६६०)इति इत्वे रपरत्वे हलि च (६१२) इत्युपधादीर्घः।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
गै (गाना)	गीत्वा[1]	प्रगाय
ग्रन्थ् (बांधना)	ग्रथित्वा[2] / ग्रन्थित्वा	संग्रथ्य
ग्रस् (खाना)	ग्रसित्वा[3] / ग्रस्त्वा	संग्रस्य
ग्रह् (ग्रहण करना)	गृहीत्वा[4]	विगृह्य
ग्लै (खिन्न होना)	ग्लात्वा	प्रग्लाय
घोषि (घोषणा करना)	घोषयित्वा*	संघोष्य
घ्रा (सूंघना)	घ्रात्वा	विघ्राय
चक्ष् (कहना)	ख्यात्वा[5]	आख्याय
चम् (खाना)	चमित्वा[6] / चान्त्वा	आचम्य
चर् (चलना)	चरित्वा	आचर्य
चर्व् (चबाना)	चर्वित्वा	संचर्व्य
चल् (चलना)	चलित्वा	संचल्य
चि (चुनना)	चित्वा	संचित्य
चित् (समझना)	चितित्वा[7] / चेतित्वा	विचित्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
चिन्ति (चिन्ता करना)	चिन्तयित्वा*	विचिन्त्य
चुम्ब् (चूमना)	चुम्बित्वा[8]	संचुम्ब्य
चूर्णि (पीसना)	चूर्णयित्वा*	संचूर्ण्य
चेष्ट् (चेष्टा करना)	चेष्टित्वा	विचेष्ट्य
चोदि (प्रेरणा देना)	चोदयित्वा*	प्रचोद्य
चोरि (चुराना)	चोरयित्वा*	संचोर्य
च्युत् (गिरना)	च्युतित्वा / च्योतित्वा	संच्युत्य
छर्द् (वमन करना)	छर्दित्वा	प्रच्छर्द्य
छादि (ढांपना)	छादयित्वा*	प्रच्छाद्य
छिद् (काटना)	छित्त्वा	विच्छिद्य
जन् (पैदा होना)	जनित्वा	संजाय[9] / संजन्य
जप् (जपना)	जपित्वा	प्रजप्य
जल्प् (बकवाद करना)	जल्पित्वा	प्रजल्प्य
जागृ (जागना)	जागरित्वा[10]	प्रजागर्य
जि (जीतना)	जित्वा	विजित्य

१. आदेच उपदेशेऽशिति (४९३) इत्यात्वे घुमास्था० (५८८) इतीत्वम् ।

२. गुम्फितवदत्र प्रक्रिया बोध्या ।

३. ग्रसुँ अदने (भ्वा० आ०) । उदित्वाद् वेट् ।

४. रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च (१.२.८) इति कित्त्वम् । न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यस्यापवादः । कित्त्वे सम्प्रसारणम् । ग्रहोऽलिटि दीर्घः (६९३) इतीटो दीर्घः ।

५. चक्षिङः ख्याञ् (२.४.५४) इति ख्याञादेशः ।

६. चमुँ अदने (भ्वा० प०) । उदितो वा (८८२) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

७. चितीँ संज्ञाने (भ्वा० प० सेट्) । रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयं बोध्यम् । एवं 'च्युतित्वा-च्योतित्वा' इत्यत्रापि ।

८. चुबिँ वक्त्रसंयोगे (भ्वा० प० सेट्) । धातोरिदित्त्वान्नकारलोपो न ।

९. ल्यपि ये विभाषा (६७५) इति विकल्पेनात्वम् ।

१०. अयुकः किति (६५०) इत्यत्र 'एकाचः' इत्यनुवर्त्तनादिह इण्निषेधो न । न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वे गुणः सुतरां लभ्यते । ल्यपि कित्त्वेऽपि जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु (७.३.८५) इति गुणः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
जीव् (जीना)	जीवित्वा	अनुजीव्य
जुष् (सेवन करना)	जुषित्वा[1] / जोषित्वा	उपजुष्य
जृम्भ् (जंबाई लेना)	जृम्भित्वा[2]	विजृम्भ्य
जॄ (बूढा होना)	जरित्वा[3] / जरीत्वा	प्रजीर्य
ज्ञा (जानना)	ज्ञात्वा	विज्ञाय
ज्वल् (जलना)	ज्वलित्वा	प्रज्वल्य
डी (उड़ना)	डयित्वा[4]	उड्डीय
तक्ष् (छीलना)	तक्षित्वा[5] / तष्ट्वा	सन्तक्ष्य
तन् (विस्तार करना)	तनित्वा[6] / तत्वा	अवतत्य
तप् (तपना, तपाना)	तप्त्वा	सन्तप्य
तम् (थका होना)	तमित्वा[7] / तान्त्वा	सन्तम्य
तर्ज् (धमकाना)	तर्जित्वा	प्रतर्ज्य
तस् (क्षीण होना)	तसित्वा[8] / तस्त्वा	प्रतस्य
ताडि (पीटना)	ताडयित्वा	सन्ताड्य
तुद् (दुःख देना)	तुत्त्वा	सन्तुद्य
तुष् (प्रसन्न होना)	तुष्ट्वा	सन्तुष्य
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा[9] / तृप्त्वा	सन्तृप्य
तॄ (पार करना)	तीर्त्वा[10]	सन्तीर्य
तोलि (तोलना)	तोलयित्वा	सन्तोल्य
त्यज् (छोड़ना)	त्यक्त्वा	परित्यज्य

१. रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्वविकल्पनाद् रूपद्वयम् ।

२. जृभिँ गात्रविनामे (भ्वा० आ० सेट्) । इदित्त्वाल्ल्यपि नकारलोपो न ।

३. श्र्युकः किति (६५०) इतीण्निषेधे प्राप्ते जॄव्रश्च्योः क्त्वि (७.२.५५) इति नित्य-मिट् । वॄतो वा (६१५) इतीटो वा दीर्घः । ल्यपि इत्व-रपरत्वयोः हलि च (६१२) इति दीर्घः ।

४. डीङ् विहायसा गतौ (भ्वा० आ० सेट्) । न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्व-निषेधे गुणेऽयादेशः ।

५. तक्षूँ तनूकरणे (भ्वा० प० वेट्) । ऊदित्त्वाद्वेट् । इडभावे स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (३०९) इति संयोगादिककारलोपे ष्टुत्वे रूपसिद्धिः ।

६. तनुँ विस्तारे (तना० उ० सेट्) । उदितो वा (८८२) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे अनुदात्तोपदेश० (५५९) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु वा ल्यपि (६.४.३८) इति व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् मान्तानां नित्यमिति नित्योऽनुनासिकलोपः । लोपे तुंगागमः ।

७. तमुँ काङ्क्षायाम् (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् उदितो वा (८८२) इतीड्वि-कल्पः । इटोऽभावे उपधादीर्घे (७२७) अनुस्वारपरसवर्णौ ।

८. तसुँ उपक्षये (दिवा० प० सेट्) । उदितो वा (८८२) इति वेट्, तेन रूपद्वयम् ।

९. तृप प्रीणने (दिवा० प०) । रधादित्वाद् रधादिभ्यश्च (६३५) इति वेट् । इट्-पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः ।

१०. श्र्युकः किति (६५०) इतीण्निषेधे इत्वरपरत्वयोः हलि च (६१२) इति दीर्घः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
त्रप् (शर्माना)	त्रपित्वा[1] / त्रप्त्वा	अपत्रप्य	दह् (जलाना)	दग्ध्वा[8]	सन्दह्य
त्रस् (डरना)	त्रसित्वा	संत्रस्य	दा (देना)	दत्त्वा[9]	प्रदाय
त्रुट् (टूटना)	त्रुटित्वा[2]	प्रत्रुट्य	दिव् (चमकना)	देवित्वा[10] / द्यूत्वा	प्रतिदीव्य
त्रै (पालन करना)	त्रात्वा[3]	परित्राय	दिश् (देना)	दिष्ट्वा	उपदिश्य
त्वर् (जल्दी करना)	त्वरित्वा	प्रत्वर्य	दिह् (लेप करना)	दिग्ध्वा	उपदिह्य
दंश् (डंक मारना)	दष्ट्वा[4]	संदश्य	दीप् (चमकना)	दीपित्वा	संदीप्य
दण्ड (सजा देना)	दण्डयित्वा*	संदण्डय	दुष् (दूषित होना)	दुष्ट्वा	प्रदुष्य
दम् (दमन करना)	दमित्वा[5] / दान्त्वा	सन्दम्य	दुह् (दोहना)	दुग्ध्वा	संदुह्य
दम्भ् (दम्भ करना)	दम्भित्वा[6] / दब्ध्वा	प्रदभ्य	दू (दुःखी होना)	दूत्वा	प्रदूय
दय् (दया करना)	दयित्वा	संदय्य	दृ (आदर करना)	दृत्वा	आदृत्य
दल् (दलना)	दलित्वा	विदल्य	दृश् (देखना)	दृष्ट्वा[11]	सन्दृश्य
दस् (क्षीण होना)	दसित्वा[7] / दस्त्वा	उपदस्य	दॄ (फाड़ना)	दीर्त्वा	विदीर्य
			दो (तोड़ना)	दित्वा[12]	अवदाय
			द्युत् (चमकना)	द्युतित्वा / द्योतित्वा[13]	प्रद्युत्य

१. त्रपूँष् लज्जायाम् (भ्वा० आ० वेट्)। ऊदित्त्वाद्वेट्।

२. कुटादित्वेन गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित् (५८७) इति ङित्त्वाद् गुणो न।

३. आदेच उपदेशेऽशिति (४९३) इत्यात्वम्। एवं 'ग्लै, ध्यै, म्लै' आदिषु बोध्यम्।

४. दन्श दशने (भ्वा० प० अनिट्), नोपधो धातुः। अनिदितां हल० (३३४) इत्युपधानकारलोपे षत्वष्टुत्वे।

५. दमुँ उपशमे (दि० प० सेट्)। उदित्त्वाद् वेट्। इटोऽभावे उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

६. दन्भुँ दम्भने (स्वा० प० सेट्), नोपधो धातुः। उदित्त्वादिड्विकल्पः। इट्पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्त्वनिषेधादुपधानकारलोपो न। इटोऽभावे उपधानकारलोपे धत्वजश्त्वे। ल्यपि नकारलोपः।

७. दसुँ उपक्षये (दि० प० सेट्)। उदित्त्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट्।

८. दादेर्धातोर्घः (२५२) इति हकारस्य घत्वे धत्वजश्त्वे। एवं दिग्ध्वा-दुग्ध्वादिषु बोध्यम्।

९. दो दद् घोः (८२७) इति ददादेशः। चर्त्वम्।

१०. रूपसिद्धिः पूर्वं (८८२) सूत्रे द्रष्टव्या।

११. षत्वे (३०७) ष्टुत्वम् (६४)।

१२. आत्वे द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति (७.४.४०) इति इत्वम्। ल्यपि तु न ल्यपि (६.४.४०) इति ईत्वं निषिध्यते।

१३. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
द्रु (पिघलना)	द्रुत्वा	प्रद्रुत्य
द्रुह् (द्रोह करना)	द्रुहित्वा[1] द्रोहित्वा द्रुग्ध्वा द्रूढ्वा	प्रद्रुह्य
द्विष् (द्वेष करना)	द्विष्ट्वा	प्रद्विष्य
धा (धारण करना)	हित्वा[2]	सन्धाय
धाव् (दौड़ना)	धावित्वा	प्रधाव्य
धू (हिलाना)	धवित्वा[3] धूत्वा	आधूय
धृ (धारण करना)	धृत्वा	विधृत्य
धे (पीना, चूसना)	धीत्वा[4]	प्रधाय
ध्मा (फूंकना)	ध्मात्वा	सन्ध्माय
ध्यै (ध्यान करना)	ध्यात्वा	सन्ध्याय

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
ध्वंस् (नष्ट होना)	ध्वंसित्वा[5] ध्वस्त्वा	अपध्वस्य
नद् (गरजना)	नदित्वा	निनद्य
नन्द् (खुश होना)	नन्दित्वा[6]	प्रतिनन्द्य अभिनन्द्य
नम् (झुकना)	नत्वा[7]	प्रणत्य प्रणम्य
नर्द् (गरजना)	नर्दित्वा	उन्नर्द्य
नश् (नष्ट होना)	नशित्वा[8] नष्ट्वा नंष्ट्वा	प्रणश्य
नह् (बांधना)	नद्ध्वा[9]	सन्नह्य
निन्द् (निन्दा करना)	निन्दित्वा	सन्निन्द्य
नी (ले जाना)	नीत्वा	आनीय

१. रधादित्वाद् वेट् । इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम् । इटोऽभावे **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्** (२५४) इति वा घत्वम् । घत्वे धत्व-जश्त्वयोः द्रुग्ध्वेति रूपम् । घत्वाभावे **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घेषु द्रूढ्वेति । तदेवं चत्वारि रूपाणि ।

२. **दधातेर्हिः** (८२६) इति 'हि' आदेशः ।

३. **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इति वेट् । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः ।

४. **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) इति ईत्वम् । ल्यपि **न ल्यपि** (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

५. ध्वन्सुँ अवस्रंसने गतौ च (भ्वा० आ० सेट्) । उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति क्त्वायां वेट् । इट्पक्षे कित्त्वनिषेधान्न नकारलोपः । इटोऽभावे कित्त्वाल्लोपः ।

६. टुनदिँ समृद्धौ (भ्वा० प० सेट्) । इदित्त्वाल्ल्यपि नकारलोपो न ।

७. **अनुदात्तोपदेशवनति०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु **वा ल्यपि** (६.४.३८) इति विकल्प्यते । लोपे तुँगागमः (७७७) ।

८. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमि 'नंष्ट्वा' इति । **जान्तनशां विभाषा** (६.४.३२) इति क्त्वायां नकारस्य विकल्पेन लोपे 'नष्ट्वा' इत्यपि रूपम् । प्रणश्येत्यत्र **उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य** (४५९) इति णत्वम् ।

९. **नहो धः** (३५९) इति धातोर्हकारस्य धत्वे, प्रत्ययस्यापि **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश्झशि** (१९) इति जश्त्वम् ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
नु (स्तुति करना)	नुत्वा	सन्नुत्य
नुद् (प्रेरणा देना)	नुत्त्वा	अपनुद्य
नृत् (नाचना)	नर्तित्वा[1]	प्रनृत्य
पच् (पकाना)	पक्त्वा	प्रपच्य
पठ् (पढ़ना)	पठित्वा	प्रपठ्य
पत् (गिरना)	पतित्वा	निपत्य
पद् (जाना, पाना)	पत्त्वा	प्रतिपद्य
पा (पीना)	पीत्वा[2]	प्रपाय
पा (बचाना)	पात्वा	परिपाय
पालि (पालना)	पालयित्वा*	प्रपाल्य
पिष् (पीसना)	पिष्ट्वा	सम्पिष्य
पीडि (पीड़ा देना)	पीडयित्वा*	प्रपीड्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुष्ट्वा	सम्पुष्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुषित्वा[3] / पोषित्वा	सम्पुष्य
पू (पवित्र करना)	पूत्वा[4]	विपूय
पूजि (पूजना)	पूजयित्वा*	सम्पूज्य
पूरि (पूर्ण करना)	पूरयित्वा*	प्रपूर्य
पॄ (पूर्ण करना)	पूर्त्वा[5]	प्रपूर्य
प्रच्छ् (पूछना)	पृष्ट्वा[6]	आपृच्छ्य
प्रथ् (प्रसिद्ध होना)	प्रथित्वा	सम्प्रथ्य
प्रीणि (प्रसन्न करना)	प्रीणयित्वा*	सम्प्रीण्य
प्लु (तैरना)	प्लुत्वा	उत्प्लुत्य
फल् (फलना)	फलित्वा	संफल्य
बन्ध् (बांधना)	बद्ध्वा[7]	अनुबध्य
बाध् (दुःख देना)	बाधित्वा	प्रबाध्य
बुध् (जानना)	बुधित्वा[8] / बोधित्वा	संबुध्य
बुध् (जानना)	बुद्ध्वा[9]	सम्बुध्य
ब्रू (कहना)	उक्त्वा[10]	प्रोच्य

---

१. नृती गात्रविक्षेपे (दि० प० सेट्)। इट् **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः।

२. **घुमास्था०** (५८८) इतीत्वम्। ल्यपि **न ल्यपि** (६.४.६९) इति तन्निषिध्यते। **निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथाम्** (नैषधे १.१) इत्यादौ निपीयेति 'पीङ् पाने' (दिवा० आ० अनिट्) इत्यस्य रूपम्बोध्यम्।

३. क्रैयादिकोऽयं सेट्। **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्। पूर्वो दैवादिकस्त्वनिट्।

४. **अयुकः किति** (६५०) इतीण्निषिध्यते।

५. **अयुकः किति** (६५०) इतीण्निषेधे **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) इत्युत्वे रपरत्वे **हलि च** (६१२) इति दीर्घः।

६. क्त्वायां **ग्रहि-ज्या-वयि०** (६३४) इति सम्प्रसारणे **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति छकारस्य षकारे ष्टुत्वे च रूपनिष्पत्तिः। ल्यपि झल्परत्वाभावान्न षत्वम्।

७. **अनिदितां हलः०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः।

८. 'बुध बोधने' (भ्वा० प० सेट्) भौवादिकोऽयं सेट्, तेन **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

९. बुध अवगमे (दिवा० आ० अनिट्)। दैवादिकोऽयमनिट्। धत्वजश्त्वे।

१०. **ब्रुवो वचिः** (५९६)। क्त्वायां कित्त्वेन **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम्। एवं ल्यप्यपि ज्ञेयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
भक्षि (खाना)	भक्षयित्वा*	आभक्ष्य	भू (होना)	भूत्वा[2]	अनुभूय
भज् (सेवा करना)	भक्त्वा	विभज्य	भूषि (सजाना)	भूषयित्वा*	विभूष्य
भञ्ज् (तोड़ना)	भङ्क्त्वा[1] / भक्त्वा	प्रभज्य	भृ (पालना)	भृत्वा	सम्भृत्य
भण् (कहना)	भणित्वा	आभण्य	भ्रंश् (गिरना)	भ्रंशित्वा[3] / भ्रष्ट्वा	विभ्रश्य
भर्त्स (भिड़कना)	भर्त्सयित्वा*	संभर्त्स्य	भ्रम् (घूमना)	भ्रमित्वा[4] / भ्रान्त्वा	विभ्रम्य
भा (चमकना)	भात्वा	विभाय	भ्रस्ज् (भूनना)	भृष्ट्वा[5]	विभृज्ज्य
भाजि (बांटना)	भाजयित्वा*	विभाज्य	भ्राज् (चमकना)	भ्राजित्वा	विभ्राज्य
भाष् (कहना)	भाषित्वा	संभाष्य	मण्डि (सजाना)	मण्डयित्वा*	सम्मण्ड्य
भिक्ष् (मांगना)	भिक्षित्वा	संभिक्ष्य	मन् (मानना)	मत्वा[6]	अवमत्य
भिद् (तोड़ना)	भित्त्वा	विभिद्य	मन्त्रि (सलाह करना)	मन्त्रयित्वा*	संमन्त्र्य
भी (डरना)	भीत्वा	विभीय	मन्थ् (बिलोना)	मथित्वा[7] / मन्थित्वा	प्रमथ्य
भुज् (पालना, खाना)	भुक्त्वा	उपभुज्य			

१. जान्त-नशां विभाषा (६.४.३२) इति नकारलोपस्य विकल्पनात् क्त्वायां रूपद्वयम् । ल्यपि तु लोप एव ।

२. श्रयुकः किति (६५०) इतीण्निषेधः ।

३. भ्रंशुँ अवस्रंसने (दि० प० सेट्) । नोपध उदिदयं धातुः । उदितो वा (८८२) इति वेट् । इट्पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन न नकारलोपः । इटोऽभावे नकारलोपे षत्वे ष्टुत्वे च रूपसिद्धिः । ल्यपि कित्त्वेन नकारलोपः ।

४. भ्रमुँ अनवस्थाने (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट् । इटोऽभावे अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

५. क्त्वायां कित्त्वेन ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम् । स्कोः० (३०६) इति संयोगादिसकारलोपे व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् । ल्यपः स्थानिवत्त्वेन कित्त्वात् सम्प्रसारणे सकारस्य श्चुत्वे झलां जश्झशि (१६) इति जश्त्वम् ।

६. मन ज्ञाने (दि० आ० अनिट्) । क्त्वायाम् अनुदात्तोपदेश० (५५६) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि वा ल्यपि (६.४.३८) इत्यत्र व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद् नान्तानिटां नित्यमनुनासिकलोपः । मनुँ अवबोधने (तना० आ० सेट्) इति धातोरुदित्त्वाद् वेटि, इट्पक्षे 'मनित्वा' इटोऽभावे मत्वेति रूपद्वयम् । ल्यपि तु तत्रापि नित्यं नलोपः ।

७. मन्थ विलोडने (भ्वा० प० सेट्) । क्त्वायां नोपधात्थफान्ताद्वा (१.२.२३) इति कित्त्वविकल्पनात् पक्ष नलोपः । तेन रूपद्वयम् । यदा तु 'मथि' धातुरिदित् तदा कित्त्वविकल्पेऽपि मन्थित्वेत्येकमेव रूपम् । कित्त्वे सत्यपि धातोरिदित्त्वान्नकारलोपस्याप्राप्तेः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
मस्ज् (नहाना)	मङ्क्त्वा[1]	निमज्ज्य
मा (मापना)	मित्वा[2]	सम्माय
मानि (आदरकरना)	मानयित्वा*	सम्मान्य
मार्गि (ढूंढना)	मार्गयित्वा*	संमार्ग्य
मिद् (स्नेह करना)	मिदित्वा[3], मेदित्वा	प्रमिद्य
मिल् (मिलना)	मिलित्वा[4], मेलित्वा	सम्मिल्य
मिह् (मूतना)	मीढ्वा[5]	प्रमिह्य
मील् (नेत्र बन्द करना)	मीलित्वा	निमील्य
मुच् (छोड़ना)	मुक्त्वा	विमुच्य
मुद् (प्रसन्न होना)	मुदित्वा[6], मोदित्वा	प्रमुद्य
मुर्च्छ् (मूर्च्छित होना)	मूर्च्छित्वा[7]	संमूर्च्छ्य
मुष् (चुराना)	मुषित्वा[8]	सम्मुष्य
मुह् (व्याकुल होना)	मुहित्वा[9], मोहित्वा, मुग्ध्वा, मूढ्वा	परिमुह्य
मृ (मरना)	मृत्वा	अपमृत्य
मृगि (ढूंढना)	मृगयित्वा*	सम्मृग्य
मृज् (साफकरना)	मार्जित्वा, मृष्ट्वा[10]	परिमृज्य
मृष् (सहना)	मृषित्वा[11], मर्षित्वा	परिमृष्य
म्लै (मुरझाना)	म्लात्वा	प्रम्लाय
यज् (यज्ञ करना)	इष्ट्वा[12]	प्रेज्य
यत् (यत्न करना)	यतित्वा	प्रयत्य
यस् (यत्न करना)	यसित्वा[13], यस्त्वा	प्रयस्य

१. टुमस्जोँ शुद्धौ (तु० प० अनिट्)। धातोरनिट्त्वेन झलादिप्रत्ययपरकत्वात् **मस्जि-नशोर्झलि** (६३६) इति नुँमागमः। स च **मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुँम् वाच्यः** (वा०४४) इति धातुजकारात्पूर्वं भवति। तेन सकारस्य संयोगादिलोपे कुत्वे च रूपं निष्पद्यते। ल्यपि झल्परत्वाभावान्नुँम् न भवति। श्चुत्वे जश्त्वे च निमज्ज्येति।

२. मा माने (अदा० प० अनिट्)। **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) इति प्रकृतेरिकारादेशः। ल्यपि तु **न ल्यपि** (६.४.६९) इति तन्निषिध्यते।

३-४-६. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

५. **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

७. मुर्च्छाँ मोहसमुच्छ्राययोः (भ्वा प० सेट्)। इटि **उपधायां च** (८.२.७८) इत्युकारस्य दीर्घः। **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) इति छकारस्य वा द्वित्वम्। द्वित्वपक्षे चर्त्वेन छकारस्य चकारः। अत्र चकारो द्वित्वजन्यो न तु तुँग्जन्य इत्यवधेयम्।

८. **रुद-विद-मुष०** (१.२.८) इति नित्यं कित्त्वम्। तेन लघूपधगुणो न।

९. द्रुहित्वेत्यादिवत् प्रक्रिया बोध्या।

१०. मृजूँ शुद्धौ (अदा० प० वेट्)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् **मृजेर्वृद्धिः** (७७९) इति वृद्धिः। इटोऽभावे **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वे च मृष्ट्वेति रूपम्।

११. क्त्वायां **तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य** (१.२.२५) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

१२. कित्त्वाद् **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे षत्वे ष्टुत्वे च रूपम्। स्थानिवद्भावेन ल्यपोऽपि कित्त्वम्। तेन तत्रापि सम्प्रसारणम्।

१३. यसुँ प्रयत्ने (दि० प० सेट्)। उदित्त्वाद्वेट्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
या (जाना)	यात्वा	प्रयाय
याच् (मांगना)	याचित्वा	उपयाच्य
युज् (मिलाना)	युक्त्वा	संयुज्य
युध् (लड़ना)	युद्ध्वा	नियुध्य
रक्ष् (बचाना)	रक्षित्वा	संरक्ष्य
रचि (बनाना)	रचयित्वा[1]	विरचय्य
रञ्ज् (रंगना)	रक्त्वा[2]	उपरज्य
रट् (रटना)	रटित्वा	संरट्य
रभ् (शुरू करना)	रब्ध्वा[3]	आरभ्य
रम् (खेलना)	रमित्वा[4], रत्वा	विरत्य, विरम्य
राज् (चमकना)	राजित्वा	विराज्य
रु (शब्द करना)	रुत्वा	आरुत्य
रुच् (अच्छा लगना)	रुचित्वा[5], रोचित्वा	विरुच्य
रुद् (रोना)	रुदित्वा[6]	प्ररुद्य
रुध् (रोकना)	रुद्ध्वा	अवरुध्य
रुह् (चढ़ना)	रूढ्वा[7]	आरुह्य
लङ्घ् (लांघना)	लङ्घित्वा	विलङ्घ्य
लप् (बोलना)	लपित्वा	विलप्य
लभ् (पाना)	लब्ध्वा	उपलभ्य
लम्ब् (लटकना)	लम्बित्वा	अवलम्ब्य
लष् (चाहना)	लषित्वा	अभिलष्य
लस् (चमकना)	लसित्वा	विलस्य
लस्ज् (लज्जा करना)	लज्जित्वा[8]	विलज्ज्य
लिख् (लिखना)	लिखित्वा[9], लेखित्वा	आलिख्य
लिप् (लीपना)	लिप्त्वा	विलिप्य
लिह् (चाटना)	लीढ्वा[10]	संलिह्य
लुप् (काटना)	लुप्त्वा	विलुप्य
लुभ् (लोभ करना)	लुभित्वा[11], लोभित्वा, लुब्ध्वा	विलुभ्य

१. क्त्वायामिटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणेऽयादेशः। ल्यपि तु **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) इति णेरयादेशः। 'विरचय्य' इति प्रयोगस्तु 'अनित्य-ण्यन्ताश्चुरादयः' इत्याश्रित्य समाधेयः।

२. रञ्ज रागे (भ्वा० उ० अनिट्)। कित्त्वान्नकारस्य लोपः। एवं ल्यप्यपि।

३. धत्वजश्त्वयो रूपसिद्धिः। एवं रुद्ध्वा, लब्ध्वा इत्यादि।

४. रमँ क्रीडायाम् इत्येके, रमुँ क्रीडायाम् इत्यपरे। उदित्पक्षे **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पनाद् रूपद्वयम्। उदिदभावेऽनुनासिकलोपे रत्वेत्येकं रूपम्। ल्यपि **वा ल्यपि** (६.४.३८) इत्यनुनासिकलोपो वा। लोपपक्षे तुँक्।

५. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

६. **रुद-विद-मुष०** (१.२.८) इति नित्यकित्त्वेन लघूपधगुणो न।

७. **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

८. ओँलस्जीँ व्रीडने (तुदा० आ० सेट्)। इटि श्चुत्वे (६२) जश्त्वे (१९) च रूपसिद्धिः।

९. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयम्। ये त्वस्य कुटादित्वं मन्यन्ते तेषाम्मते ङित्त्वेन गुणनिषेधे लिखित्वेत्येकं रूपम्। परमिदमपाणिनीयम्।

१०. हस्य ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

११. **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) इतीड्विकल्पः। इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पः। तेन रूपत्रयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
लू (काटना)	लूत्वा[1]	विलूय
लोक् (देखना)	लोकित्वा	विलोक्य
लोच् (देखना)	लोचित्वा	आलोच्य
वच् (कहना)	उक्त्वा[2]	निरुच्य
वद् (बोलना)	उदित्वा[3]	अनूद्य
वन्द् (वन्दन करना)	वन्दित्वा	अभिवन्द्य
वप् (बोना, काटना)	उप्त्वा[4]	निरुप्य
वम् (वमन करना)	वमित्वा[5] / वान्त्वा	अभिवम्य
वर्णि (वर्णन करना)	वर्णयित्वा*	उपवर्ण्य
वस् (रहना)	उषित्वा[6]	प्रोष्य
वह् (ढोना)	ऊढ्वा[7]	प्रोह्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
वाञ्छ् (चाहना)	वाञ्छित्वा	अभिवाञ्छ्य
विद् (जानना)	विदित्वा[8]	संविद्य
विद् (होना)	वित्त्वा	संविद्य
विद् (पाना)	वित्त्वा	परिविद्य
विद् (सोचना)	वित्त्वा	संविद्य
विश् (घुसना)	विष्ट्वा[9]	प्रविश्य
वृ (चुनना)	वृत्वा[10]	विवृत्य
वृत् (होना)	वर्तित्वा[11] / वृत्त्वा	प्रवृत्य
वृध् (बढ़ना)	वर्धित्वा[12] / वृद्ध्वा	विवृध्य
वृष् (बरसाना)	वर्षित्वा[13] / वृष्ट्वा	अभिवृष्य

१. अयुकः किति (६५०) इतीण्निषेधः।

२. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणे चोः कुः (३०६) इति कुत्वम्।

३. न क्त्वा सेट् (८८०) इति प्रबाध्य मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१.२.७) इति नित्ये कित्त्वे सम्प्रसारणं बोध्यम्।

४. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम्।

५. टुवमुँ उद्गिरणे (भ्वा० प० सेट्)। उदित्त्वादिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधा-दीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ। केचिद् धातुमिममुदितं नोरीकुर्वन्ति तेषां मते वमित्वेत्येकं रूपम्।

६. वसतिक्षुधोरिट् (७.२.५२) इति क्त्वायामिडागमः। मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१.२.७) इति कित्त्वे सम्प्रसारणम्। शासिवसिघसीनां च (५५४) इति षत्वम्।

७. सम्प्रसारणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

८. विद ज्ञाने (अदा० प०)। सेडयं धातुस्तेन क्त्वायामिटि रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पं बाधित्वा रुद-विद-मुष० (१.२.८) इति नित्ये कित्त्वे एकमेव रूपं विदित्वेति। अन्ये सर्वेऽनिटस्तेषां वित्त्वेति।

९. व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुना ष्टुः (६४) इति ष्टुत्वम्।

१०. अयुकः किति (६५०) इतीण्निषिध्यते।

११. वृतुँ वर्तने (भ्वा० आ०)। उदित्त्वाद्वेट्। इटि न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः।

१२. वृतुँवत् प्रक्रिया। इटोऽभावे धत्वजश्त्वे

१३. वृषुँ सेचने (भ्वा० प० सेट्)। उदित्त्वाद्वेट्। वृतुँवत् प्रक्रिया।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
वे (बुनना)	उत्वा[1]	प्रवाय
वेप् (कांपना)	वेपित्वा	प्रवेप्य
वेष्ट् (लपेटना)	वेष्टित्वा	संवेष्टय
व्यध् (बींधना)	विद्ध्वा[2]	आविध्य
व्रज् (जाना)	व्रजित्वा	परिव्रज्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चित्वा[3]	संवृश्च्य
शंस् (स्तुति करना)	शंसित्वा[4] / शस्त्वा	प्रशस्य
शक् (समर्थ होना)	शक्त्वा	अतिशक्य
शङ्क् (शङ्का करना)	शङ्कित्वा	आशङ्क्य
शद् (नष्ट होना)	शत्त्वा	संशद्य
शप् (शाप देना)	शप्त्वा	अतिशप्य
शम् (शान्त होना)	शमित्वा[5] / शान्त्वा	प्रशम्य
शास् (पढ़ाना)	शासित्वा[6] / शिष्ट्वा	अनुशिष्य
शास्[7] (आशा करना)	—	आशास्य
शिक्ष् (सीखना)	शिक्षित्वा	प्रशिक्ष्य
शिष् (विशिष्ट करना)	शिष्ट्वा	विशिष्य
शी (सोना)	शयित्वा[8]	उपशय्य
शुच् (शोक करना)	शुचित्वा[9] / शोचित्वा	अनुशुच्य
शुभ् (शोभा पाना)	शुभित्वा[10] / शोभित्वा	विशुभ्य
शुष् (सूखना)	शुष्ट्वा	परिशुष्य
श्च्युत् (टपकना)	श्च्युतित्वा / श्च्योतित्वा[11]	प्रश्च्युत्य

१. वेञ् तन्तुसन्ताने (भ्वा० उ० अनिट्)। आदेच उपदेशे० (४९३) इत्यात्वे वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम्।

२. व्यध ताडने (दिवा० प० अनिट्)। ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६३४) इति सम्प्रसारणे धत्वजश्त्वे।

३. ओँव्रश्चूँ छेदने (तुदा० प० वेट्)। ऊदित्वात् प्राप्तमिड्विकल्पं बाधित्वा जॄव्रश्च्योः क्त्वि (७.२.५५) इति नित्यमिट्। न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणं न।

४. शंसुँ स्तुतौ (भ्वा० प० सेट्)। नोपधोऽयं धातुः। उदित्त्वेन उदितो वा (८८२) इति क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधानकारलोपः (३३४)। इट्पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन नकारलोपो न।

५. शमुँ उपशमे (दिवा० प०)। उदित्त्वात् क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधादीर्घे (७२७) अनुस्वारपरसवर्णौ।

६. शासुँ अनुशिष्टौ (अदा० प०)। उदित्त्वाद् वेट्। इटोऽभावे शास इदङ्हलोः (६.४.३४) इत्युपधाया इत्त्वे शासिवसिघसीनां च (५५४) इति सस्य षत्वे, ष्टुत्वे च कृते शिष्ट्वेति।

७. आङः शासुँ इच्छायाम् (अदा० आ० सेट्)। धातोर्नित्यमाङ्पूर्वकत्वात् क्त्वायां रूपं नास्ति। उदित्फलमाकरादौ द्रष्टव्यम्।

८. शीङ् स्वप्ने (अदा० आ० सेट्)। न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। ल्यपि अयङ् यि क्ङिति (७.४.२२) इत्ययङ् आदेशः।

९-१०-११. रलो व्युपधाद् (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
श्रम् (थकना)	श्रमित्वा[1] श्रान्त्वा	विश्रम्य
श्रि (आश्रय करना)	श्रित्वा[2]	आश्रित्य
श्रु (सुनना)	श्रुत्वा	संश्रुत्य
श्लाघ् (प्रशंसा करना)	श्लाघित्वा	प्रश्लाघ्य
श्लिष् (चिपटना)	श्लिष्ट्वा	प्रश्लिष्य
श्वस् (सांस लेना)	श्वसित्वा	प्रश्वस्य
श्वि (बढ़ना-सूजना)	श्वयित्वा[3]	उच्छ्रूय
ष्ठिव् (थूकना)	ष्ठेवित्वा[4] ष्ठ्यूत्वा	निष्ठीव्य
सद् (नष्ट होना)	सत्त्वा	आसद्य
सह् (सहना)	सहित्वा[5] सोढ्वा	प्रसह्य
सान्त्व (दिलासा देना)	सान्त्वयित्वा*	उपसान्त्व्य
सिच् (सींचना)	सिक्त्वा	प्रसिच्य
सिध् (जाना)	सेधित्वा[6] सिधित्वा सिद्ध्वा	निषिध्य
सिव् (सीना)	सेवित्वा[7] स्यूत्वा	प्रसीव्य
सू (पैदा करना)	सूत्वा[8]	प्रसूय
सूचि (सूचना देना)	सूचयित्वा*	संसूच्य

१. श्रमुँ तपसि खेदे च (दिवा० प० सेट्)। उदित्त्वाद् वेट्। इटोऽभावे **अनुनासिकस्य क्वि०** (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

२. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

३. टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वा० प० सेट्)। इटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणेऽयादेशः। ल्यपि कित्त्वेन **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे **हलः** (८१९) इति दीर्घः।

४. ष्ठिवुँ निरसने (भ्वा० प० सेट्)। षादिरुदिदयं धातुः। उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इटोऽभावे **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति वकारस्य ऊठि, यणि च कृते ष्ठ्यूत्वेति। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः।

५. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट्। अनिट्पक्षे **'हो ढः'** (२५१) इति हकारस्य ढकारे **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति प्रत्ययतकारस्य धत्वे, ष्टुत्वे, ढो ढे लोपे **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्यकारस्य उकारे गुणे च कृते सोढ्वेति सिध्यति।

६. षिधुँ गत्याम् (भ्वा० प० सेट्)। **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनेन रूपद्वयम्। इटोऽभावे धत्वजश्त्वे।

७. षिवुँ तन्तुसन्ताने (दिवा० प० सेट्)। उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। इटोऽभावे **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति वकारस्य ऊठि, यणि च कृते रूपसिद्धिः। ल्यपि **हलि च** (६१२) इति दीर्घः।

८. षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (अदा० आ० वेट्)। **स्वरतिसूति०** (४७६) इति बाधित्वा **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सृ (सरकना)	सृत्वा	अनुसृत्य
सृज् (पैदा करना)	सृष्ट्वा[1]	उत्सृज्य
सेव् (सेवा करना)	सेवित्वा	आसेव्य
सो (नष्ट करना)	सित्वा[2]	अवसाय
स्खल् (लड़खड़ाना)	स्खलित्वा	विस्खल्य
स्पर्ध् (स्पर्धा करना)	स्पर्धित्वा	प्रतिस्पर्ध्य
स्तु (स्तुति करना)	स्तुत्वा	प्रस्तुत्य
स्था (ठहरना)	स्थित्वा[3]	प्रस्थाय
स्ना (नहाना)	स्नात्वा	प्रस्नाय
स्निह् (स्नेह करना)	स्निहित्वा, स्नेहित्वा, स्निग्ध्वा, स्नीढ्वा[4]	प्रस्निह्य
स्पृश् (छूना)	स्पृष्ट्वा	संस्पृश्य
स्पृहि (चाहना)	स्पृहयित्वा*	उपस्पृह्य
स्फुट् (खिलना)	स्फुटित्वा[5]	प्रस्फुट्य
स्फुर् (फरकना)	स्फुरित्वा	संस्फुर्य
स्मृ (स्मरण करना)	स्मृत्वा	विस्मृत्य
स्यन्द् (बहना)	स्यन्दित्वा[6], स्यन्त्वा	प्रस्यद्य
स्रु (बहना)	स्रुत्वा	विस्रुत्य
स्वप् (सोना)	सुप्त्वा[7]	प्रसुप्य
हन् (मारना)	हत्वा[8]	निहत्य
हस् (हंसना)	हसित्वा	विहस्य
हा (छोड़ना)	हित्वा[9]	विहाय
हिंस् (मारना)	हिंसित्वा[10]	विहिंस्य
हु (यज्ञ करना)	हुत्वा	आहुत्य

१. व्रश्चभ्रस्जसृज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् ।

२. षो अन्तकर्मणि (दिवा० प० अनिट्) । आत्वे द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (७.४.४०) इति इत्वम् । ल्यपि तु न ल्यपि (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

३. पूर्ववद् इत्वम् ।

४. रधादित्वादिड् विकल्प्यते । इट्पक्षे रलो व्युपधात्० (८८१) इति कित्वविकल्पेन रूपद्वयम् । इटोऽभावे वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम् (२५४) इति वा घत्वम् । घत्वपक्षे धत्वजश्त्वे । घत्वाभावे हो ढः (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः ।

५. कुटादित्वाद् ङित्वेन लघूपधगुणो न । एवं स्फुरित्वेत्यत्रापि बोध्यम् ।

६ स्यन्दू प्रस्रवणे (भ्वा० आ० वेट्) । ऊदित्वाद्वेट् । न क्त्वा सेट् (८८०) इति सेटः क्त्वायाः कित्वनिषेधादुपधानकारलोपो न । इटोऽभावे क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः (६.४.३१) इति नलोपो निषिध्यते । ल्यपि तु कित्वाल्लोप एव ।

७. ञिष्वप शये (अदा० प० अनिट्) । क्त्वायाः कित्वेन वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम् ।

८. हन हिंसागत्योः (अदा० प० अनिट्) । अनुदात्तोपदेश० (५५६) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु वा ल्यपि (६.४.३८) इति व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद् नित्यलोपे तुगागमः ।

९. जहातेश्च क्त्वि (८८३) इति हिभावः । ल्यपि घुमास्था० (५८८) इति ईत्वे प्राप्ते न ल्यपि (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

१०. हिसिँ हिंसायाम् (रुधा० प० सेट्) । ल्यपः कित्वेऽपि धातोरिदित्वादुपधानकारलोपो न । क्त्वायां न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्वेन न लोपप्राप्तिः

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
हृ (हरना)	हृत्वा	आहृत्य	ह्री (शरमाना)	ह्रीत्वा	विह्रीय
हृष् (प्रसन्न होना)	हर्षित्वा[1]	प्रहृष्य	ह्वे (बुलाना)	हूत्वा[2]	आहूय

क्त्वा-ल्यप्प्रत्ययान्तों के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजु० ४०.१४)।

(२) भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति (केनोप० २.५)।

(३) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० उप० २.१५)।

(४) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (कठोप० २.३.१४)।

(५) निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन (गीता १.३६)।

(६) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् (गीता २.३७)।

(७) आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् (गीता १.२)।

(८) न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति (हितोप० १.७)।

(९) अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् (हितोप० ४.५२)।

(१०) उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद् भयमुपस्थितम् (हितोप० १.४)।

(११) अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते (हितोप० १.२०)।

(१२) सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ (हितोप० १.२२)

(१३) आस्वाद्यतोया प्रवहन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ (हितोप० प्रस्तावना ४७)

(१४) माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्। (हितोप० १.१०२)

(१५) नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति। (हितोप० ४.१३)

(१६) स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः। (रघु० २.४०)।

(१७) सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते (मृच्छकटिक १.१०)।

(१८) प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः (भर्तृ० नीति० ७२)।

(१९) पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्। (भर्तृ० वैराग्य० ४३)।

(२०) अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया। (रघु० १.३५)।

(२१) आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति (सुभाषित)।

(२२) अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते (माघ २.३४)।

---

१. हृष तुष्टौ (दिवा० प० सेट्)। इटि न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। हृष्ट्वेति रूपं तु 'हृषु अलीके' (भ्वा० प० सेट्) इति भौवादिकस्य बोध्यम्। उदित्त्वाद्वेट्।

२. यजादित्वात्सम्प्रसारणे हलः (८१६) इति दीर्घत्वम्।

(२३) कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् । (हितोप० ३.४८) ।
(२४) मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि । (रघु० २.६२) ।
(२५) यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह वाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ।
(स्वप्न० ४.६) ।
(२६) मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च ।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते ।। (सि० कौ० आदौ)

अब णमुँल् प्रत्यय का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—(८८५) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२।।

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुँल् स्यात् क्त्वा च ।।

अर्थः—समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में जो धात्वर्थ पूर्वकाल में स्थित हो तथा उस का बार बार होना भी द्योतित हो रहा हो तो उस के वाचक धातु से परे णमुँल् और क्त्वा प्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं ।

व्याख्या—आभीक्ष्ण्ये ।७।१। णमुँल् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समानकर्तृकयोः ।६।२। पूर्वकाले ।७।१। (**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** से) । क्त्वा ।१।१। (**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं । अभीक्ष्णम्=पुनः पुनः (मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत् समाः—इत्यमरः) । अभीक्ष्णमित्यस्य भावः—आभीक्ष्ण्यम्=पौनःपुन्यम्, भावे ष्यञ्, **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** इति टिलोपः । बार बार होने को 'आभीक्ष्ण्य' कहते हैं । अर्थः—(आभीक्ष्ण्ये) बार बार होना द्योत्य हो तो (समानकर्तृकयोः) समान कर्त्ता वाले दो धात्वर्थों में से जो धात्वर्थ दूसरे की अपेक्षा (पूर्वकाले) पूर्वकाल में स्थित हो उस धात्वर्थ के वाचक (धातोः) धातु से (परः) परे (णमुँल्) णमुँल् (च) और (क्त्वा) क्त्वा (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है ।

णमुँल् प्रत्यय में आदि णकार **चुटू** (१२६) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक है उकार भी उच्चारणार्थक अत एव इत् है । इस प्रकार अनुबन्धों का लोप कर 'णमुँल्' का 'अम्' मात्र ही शेष रहता है । णकार अनुबन्ध वृद्धि एवं युँक् आगम आदि कार्यों के लिये तथा लकार लिति (६.१.१८७) द्वारा उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पठित होने से णमुँल् भी कृत्संज्ञक होता है । णमुल्प्रत्ययान्त शब्द **कृन्मेजन्तः** (३६६) से अव्ययसंज्ञक होते हैं अतः **अव्ययकृतो भावे** इस भाष्यवचन (३.४.६९ पर) से यह प्रत्यय भी पूर्वोक्त क्त्वाप्रत्यय की तरह भाव अर्थ में ही होता है । उदाहरण यथा—

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (शिव को बार बार स्मरण कर नमस्कार करता है) । यहां स्मृ (स्मृ चिन्तायाम्; भ्वा० प० अनिट्) तथा नम् (णम प्रह्वत्वे शब्दे च; भ्वा० प०) दो समानकर्तृक धातुएं हैं । इन में स्मृ धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित

है, किञ्च स्मृ के अर्थ का बार बार होना भी द्योत्य है अतः प्रकृतसूत्र से स्मृ धातु से परे णमुँल् और क्त्वा दोनों प्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं। णमुँल्पक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर 'स्मृ+अम्' इस स्थिति में णमुँल् के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्त अङ्ग को वृद्धि (आर्) करने पर—स्मार्+अम्='स्मारम्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। यह **कृन्मेजन्तः** (३६९) से अव्ययसंज्ञक है अतः इस से परे औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'स्मारम्' यह पदसंज्ञक हो जाता है। अब अग्रिमसूत्र से इस के स्थान पर आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८६) नित्य-वीप्सयोः ।८।१।४॥

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये[1] पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसञ्ज्ञककृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्॥

अर्थः—बार बार होना अथवा वीप्सा द्योत्य हो तो पद के स्थान पर दो शब्द रूप आदेश हो। **आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेषु**—'बार बार होना' तिङन्तों या अव्ययसञ्ज्ञक कृदन्तों में ही सम्भव है।

व्याख्या—नित्य-वीप्सयोः ।७।२। पदस्य ।६।१। (**पदस्य** इस आगे आने वाले अधिकार का पीछे अपकर्षण किया जाता है)। सर्वस्य ।६।१। द्वे ।१।२। (**सर्वस्य द्वे** यह अधिकृत है)। नित्यं च वीप्सा च नित्य-वीप्से, तयोः = नित्यवीप्सयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। किसी क्रिया का बार बार होना यहां 'नित्य' शब्द से अभिप्रेत है। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। किसी गुण या क्रिया के द्वारा अनेक पदार्थों को व्याप्त कर एक साथ कहने की इच्छा को यहां 'वीप्सा' कहा गया है। अर्थः—(नित्य-वीप्सयोः) बार बार होना द्योत्य हो या वीप्सा द्योत्य हो तो (सर्वस्य पदस्य) सम्पूर्ण पद के स्थान पर (द्वे) दो शब्दरूप आदेश हो जाते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से स्थान तथा अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) के कारण दो शब्दरूप उसी शब्द के आदिष्ट होते हैं जिस पर आदेश किया जाता है। दूसरे शब्दों में उस पदसंज्ञक शब्द की द्विरावृत्ति अर्थात् दो बार प्रयोग किया जाता है।

'बार बार होना' क्रिया का ही धर्म हो सकता है अतः क्रिया जिन में प्रधान होती है उन पदों को ही द्विर्वचन होगा। क्रिया की प्रधानता आख्यातों (तिङन्तों) तथा अव्ययसंज्ञक कृदन्तों में ही सम्भव है (**क्रियाप्रधानम् आख्यातम्; अव्ययकृतो भावे**)। अतः यहां नित्य =बार बार होना अर्थ में द्वित्व केवल तिङन्तों को या अव्ययसंज्ञक कृदन्तों को ही होगा। यथा (तिङन्तों में)—पचति पचति (बार बार पकाता है);

---

१ आभीक्ष्ण्यं द्योत्यं भवति वीप्सा तु द्योत्या। द्योत्यं च द्योत्या च द्योत्यम् [**नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** (१.२.६९) इति नपुंसकत्वमेकवद्भावश्च]। तस्मिन् = द्योत्ये।

पठति पठति (बार बार पढ़ता है); खादति खादति (बार बार खाता है); जल्पति जल्पति (बार बार बकवाद करता है)। अव्ययसंज्ञक कृदन्तों का उदाहरण प्रकृत में यथा—

स्मारं स्मारं नमति शिवम्। यहां 'स्मारम्' इस अव्ययसंज्ञक कृदन्त को द्वित्व हो गया है। यह द्वित्व पद के स्थान पर हुआ है अतः स्थानिवद्भाव के कारण वह भी पदसंज्ञक होता है[1]। इस प्रकार 'स्मारं स्मारं नमति शिवम्' में **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार सिद्ध हो जाता है।

आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च (८८५) इस पूर्वसूत्र में णमुँल् के साथ क्त्वा प्रत्यय का भी विधान कहा गया है। अतः 'बार बार होना' अर्थ में यदि क्त्वा करेंगे तो 'स्मृत्वा' इस पद को प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर—'स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्' बनेगा[2]।

इसीप्रकार—'पा पाने' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में णमुँल् (अम्) करने पर **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर—पा युँक् + अम् = 'पायम्' बनेगा। पुनः प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर 'पायं पायम्' बनेगा। पायं पायं काव्यरसं नन्दन्ति सचेतसः (काव्यरस को बार बार पी कर सहृदय लोग प्रसन्न होते हैं)। क्त्वापक्ष में—पीत्वा पीत्वा काव्यरसं नन्दन्ति सचेतसः। यहां **घुमास्था०** (५८८) से पा के आकार को ईकार हो जाता है। भोजं भोजम्—यहां भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः, रुधा० प०) धातु से णमुँल् हो कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपध-गुण हो जाता है पुनः 'भोजम्' इस अव्ययसंज्ञक पद को प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो जाता है—भोजं भोजम्। पूरा वाक्य होगा—भोजं भोजं परान्नं प्रसीदति कृपणः। क्त्वापक्ष में—भुक्त्वा भुक्त्वा परान्नं प्रसीदति कृपणः। श्रावं श्रावम्—यहां 'श्रु श्रवणे' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से णमुँल् प्रत्यय ला कर **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि कर

---

१. यहां पर दो पक्ष सुप्रसिद्ध हैं। एक तो यह है कि पद के स्थान पर दो शब्दरूप आदेश होते हैं। दूसरा यह है कि उस पद का पुनः दूसरी बार प्रयोग होता है। प्रथमपक्ष में यह दोष प्रसक्त होता है कि यदि दो शब्दरूपों वाला एक आदेश मानते हैं तो स्थानिवद्भाव से वह समुदितरूपेण पदसंज्ञक होगा पृथग्रूपेण नहीं। इस प्रकार प्रथमांश के पदसंज्ञक न होने से उस में 'मोऽनुस्वारः' (७७) की प्रवृत्ति न हो सकेगी। इस का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि अधिकारसूत्र में 'द्वे' इस द्विवचनान्तनिर्देश के कारण दो आदेश मान कर स्थानिवद्भाव के कारण दोनों को पदसंज्ञक मान लेने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। दूसरे पक्ष में तो उस पद का दूसरी बार प्रयोग किया जाता है अतः दोनों के पदत्व के अक्षुण्ण रहने से कोई दोष प्राप्त ही नहीं होता। इस प्रकार प्रथमांश के भी पदसंज्ञक होने से 'अभवन्नभवन्' में **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८६) द्वारा ङमुँट् का आगम, 'अग्रेऽग्रे' में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप, 'वृक्षान् वृक्षान्' में प्रथमांश के अन्त्य नकार को **पदान्तस्य** (१३६) द्वारा णत्वनिषेध आदि कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

२. दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्। (स्वप्न० ४.६)

आवादेश करने से 'श्रावम्' यह अव्ययसंज्ञक पद सिद्ध होता है। पुनः इसे प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर— श्रावं श्रावम्। पूरा वाक्य होगा—श्रावं श्रावं हरिकथां तुष्यन्ति सन्तः। क्त्वापक्ष में—श्रुत्वा श्रुत्वा हरिकथां तुष्यन्ति सन्तः। इसी तरह—

स्थायं स्थायं क्वचिद् यान्तं क्रान्त्वा क्रान्त्वा स्थितं क्वचित्।
वीक्षमाणो मृगं रामश्चित्रवृत्तिं विसिष्मिये॥

(भट्टि० ५.५१)

(कहीं पर ठहर ठहर कर चलते हुए तथा कहीं पर चल चल कर ठहरते हुए उस सुन्दर चेष्टा करने वाले मृग को देख कर राम विस्मित हुए)। यहां पर स्था धातु से णमुँल् प्रत्यय हो कर युँक् का आगम कर 'स्थायम्' बना कर पुनः द्वित्व किया गया है। इसी प्रकार 'क्रान्त्वा क्रान्त्वा' में क्रम् धातु के क्त्वान्त रूप को द्वित्व हुआ है।

ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम्॥ (प्रौढमनोरमाऽऽदौ)

यहां 'ध्यायं ध्यायम्' में 'ध्यैं चिन्तायाम्' (भ्वा० प० अनिट्) धातु का प्रयोग किया गया है। णमुँल् में धातु को आत्व कर युँक् का आगम कर द्वित्व किया गया है। स्मारं स्मारम्—में स्मृ धातु से णमुँल् में वृद्धि कर द्वित्व किया गया है।

यहां यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिये कि आभीक्ष्ण्य (बार बार होना) में णमुँल् करने पर द्विर्वचन करना आवश्यक कार्य है इसे वैकल्पिक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। णमुँल् और द्विर्वचन दोनों से ही आभीक्ष्ण्य का द्योतन होता है केवल एक से नहीं।

वीप्सा अर्थ में द्वित्व के उदाहरण यथा—

ग्रामो ग्रामो रमणीयः (प्रत्येक गांव सुन्दर है)। वृक्षं वृक्षं सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति (प्रत्येक पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है)। इन में गुण या क्रिया द्वारा अनेक पदार्थों को एक साथ कहने की वीप्सा प्रकट हो रही है[1]। इस के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** (हमारी प्रत्येक अभिलाषा पर बादल बरसे)—(यजु० २२.२२)।

(२) **आदित्यस्य गताऽऽगतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्** (भर्तृ०वैराग्य० ४३)।

(३) **पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।**
धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि॥

(नैषध० १.१३२)

(४) **दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकम्** (नैषध० १.६०)।

(५) **काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य**
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्। (मेघदूत १२)

---

१. ध्यान रहे कि वीप्सा के उदाहरण केवल सुँबन्त ही होते हैं तिङन्त नहीं।

(६) **मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना कुण्डे कुण्डे नवं पयः।**
जातौ जातौ नवाचारा नवा वाणी मुखे मुखे ।। (सुभाषित)

अब हम विद्यार्थियों के अभ्यासार्थ कुछ धातुओं के आभीक्ष्ण्य (पौनःपुन्य) में रूप दे रहे हैं—

(१) दृश्—दर्शं दर्शम् । दृष्ट्वा दृष्ट्वा । (बार बार देख कर) ।
(२) पठ्—पाठं पाठम् । पठित्वा पठित्वा । (बार बार पढ़ कर) ।
(३) ग्रह्—ग्राहं ग्राहम् । गृहीत्वा गृहीत्वा । (बार बार ग्रहण कर) ।
(४) गम्—गामं गामम् । गत्वा गत्वा । (बार बार जा कर) ।
(५) घ्रा—घ्रायं घ्रायम् । घ्रात्वा घ्रात्वा । (बार बार सूंघ कर) ।
(६) खन्—खानं खानम् । खनित्वा खनित्वा । (बार बार खोद कर) ।
(७) स्ना—स्नायं स्नायम् । स्नात्वा स्नात्वा । (बार बार नहा कर) ।
(८) खाद्—खादं खादम् । खादित्वा खादित्वा । (बार बार खा कर) ।
(९) हन्—घातं घातम्[1] । हत्वा हत्वा । (बार बार मार कर) ।
(१०) कथ्—कथं कथम्[2] । कथयित्वा कथयित्वा । (बार बार कह कर) ।
(११) दा—दायं दायम् । दत्त्वा दत्त्वा । (बार बार दे कर) ।
(१२) पुष्—पोषं पोषम् । पुष्ट्वा पुष्ट्वा । (बार बार पाल कर) ।
(१३) रुद्—रोदं रोदम् । रुदित्वा रुदित्वा । (बार बार रो कर) ।
(१४) दह्—दाहं दाहम् । दग्ध्वा दग्ध्वा । (बार बार जला कर) ।
(१५) लू—लावं लावम् । लूत्वा लूत्वा । (बार बार काट कर) ।
(१६) पू—पावं पावम् । पूत्वा पूत्वा । (बार बार शुद्ध कर) ।
(१७) गै—गायं गायम् । गीत्वा गीत्वा । (बार बार गा कर) ।
(१८) वि √लोक्—विलोकं विलोकम् । विलोक्य विलोक्य । (बार बार देखकर)
(१९) चिन्त्—चिन्तं चिन्तम् । चिन्तयित्वा चिन्तयित्वा । (बार बार सोच कर) ।
(२०) जि—जायं जायम् । जित्वा जित्वा । (बार बार जीत कर) ।
(२१) लिख्—लेखं लेखम् । लिखित्वा लिखित्वा । (बार बार लिख कर) ।
(२२) कृ—कारं कारम् । कृत्वा कृत्वा । (पुनः पुनः कर के) ।
(२३) स्था—स्थायं स्थायम् । स्थित्वा स्थित्वा । (बार बार ठहर कर) ।
(२४) प्रच्छ्—प्रच्छं प्रच्छम् । पृष्ट्वा पृष्ट्वा । (बार बार पूछ कर) ।

---

१. **अत उपधायाः** (४५५) इत्युपधावृद्धौ, **हो हन्तेः०** (२८७) इति घत्वे, **हनस्तोऽचिण्णलोः** (७.३.३२) इति नकारस्य तत्वम् ।

२. अदन्तश्चौरादिकोऽयं धातुः । णौ **अतो लोपः** (४७०) इत्यकारलोपः । तस्य च **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (६९६) इति स्थानिवत्त्वेन नोपधावृद्धिः । **णेरनिटि** (५२९) इति णमुलि णेर्लोपः ।

(२५) पच्—पाचं पाचम् । पक्त्वा पक्त्वा । (बार बार पका कर) ।

अब एक अन्य सूत्र द्वारा णमुँल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८८७) अन्यथैवं-कथमित्थंसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् ।३।४।२७।।**

एषु कृञो णमुँल् स्यात्, सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवम्भूतश्चेत् कृञ् । व्यर्थत्वात् प्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथाकारम् । एवंकारम् । कथंकारम् । इत्थंकारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।।

अर्थः—अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्थम् इन चार अव्ययों में से किसी अव्यय के उपपद रहते कृञ् धातु से परे णमुँल् प्रत्यय हो यदि कृञ् धातु अर्थहीन होने से प्रयोग के अयोग्य प्रतीत होती हो ।

व्याख्या—अन्यथैवं-कथम्-इत्थंसु ।७।३। सिद्धाऽप्रयोगः ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । कृञः ।५।१। (**कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुँञ्** से) । णमुँल् ।१।१। (**स्वादुमि णमुँल्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । अन्यथा च एवं च कथं च इत्थं च = अन्यथैवंकथमित्थमः, तेषु = अन्यथैवंकथमित्थंसु, इतरेतरद्वन्द्वः । सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार ये चारों उपपद हैं। न प्रयोगः = अप्रयोगः । नञ्तत्पुरुषसमासः । सिद्धोऽप्रयोगो यस्य सः = सिद्धाऽप्रयोगः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अन्यथैवंकथमित्थंसु) अन्यथा, एवम्, कथम् या इत्थम् ये उपपद हों तो (कृञः) कृञ् (धातोः) धातु से (परः) परे (णमुँल्) णमुँल् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (चेत्) यदि कृञ् (सिद्धाऽप्रयोगः) का अप्रयोग सिद्ध हो तो । सूत्र का अभिप्राय यह है कि यदि निष्पद्यमान शब्द में कृञ् धातु का अर्थ अन्वित न हो रहा हो अर्थात् उस का प्रयोग व्यर्थ निष्प्रयोजन सा लग रहा हो तो अन्यथा आदियों के उपपद रहते कृञ् धातु से णमुँल् प्रत्यय होता है । पूर्ववत् णमुँल् का अम् ही शेष रहता है । उदाहरण यथा—

अन्यथाकारं भुङ्क्ते (वह अन्यथा = अन्य प्रकार से खा रहा है) । यहां अन्यथा के उपपद रहते कृ (डुकृञ् करणे; तना० उ० अनिट्) धातु से परे प्रकृतसूत्रद्वारा णमुँल् प्रत्यय हो कर—अन्यथा + कृ + णमुँल् = अन्यथा + कृ + अम् = अन्यथा + कारम् [**अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि] । अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से 'अन्यथा' और 'कारम्' का उपपदसमास हो कर समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो औत्सर्गिक सुँ विभक्ति लाने पर **कृन्मेजन्तः** (३६९) द्वारा अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) सूत्र से सुँ का लुक् हो जाता है । इस प्रकार 'अन्यथाकारम्' प्रयोग सिद्ध होता है । 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' का वही अभिप्राय है जो 'अन्यथा भुङ्क्ते' का है । इस में कृ धातु का अर्थ अन्वित नहीं हो रहा वह व्यर्थ सा लग रहा है अतः वह सिद्धाऽप्रयोग है । इसलिये यहां णमुँल् हुआ है । भाषा के प्रवाह में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिन का कोई प्रयोजन नहीं होता, आडम्बरप्रेमी उन का प्रयोग किया ही करते हैं। परन्तु व्याकरण-

शास्त्र तो प्रयोगों का अनुसरण करता है उसे तो ऐसे शब्द भी सिद्ध करने पड़ते हैं। अत: यहां इन की सिद्धि की गई है[1]।

इसी प्रकार —एवंकारं भुङ्क्ते (वह इस प्रकार खाता है), कथंकारं भुङ्क्ते (वह कैसे खाता है)। इत्थंकारं भुङ्क्ते (वह इस तरह खाता है)। इन सब स्थानों पर कृञ् का प्रयोग व्यर्थ सा प्रतीत होता है। वह केवल शब्दसाधुत्व के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अर्थ के साथ सम्बद्ध नहीं। इस का साहित्यगत उदाहरण यथा —

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ (माघ २.५२)

(शत्रुओं के उन्नत मस्तक पर पैर रखे विना आश्रय से हीन हुई कीर्ति कैसे स्वर्ग पर चढ़ सकती है ?)।

यदि कृञ् का अर्थ अन्वित हो रहा हो तो प्रकृतसूत्र से णमुँल् प्रत्यय न होगा। यथा – शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते (सिर को दूसरी तरफ कर भोजन आदि खाता है)। यहां 'अन्यथा' के उपपद रहते हुए भी कृञ् से णमुँल् नहीं होता क्योंकि वक्ता के अभिप्राय के अनुसार कृञ् सिद्धाप्रयोग (निष्प्रयोजन) नहीं अपितु सिद्धप्रयोग (सप्रयोजन) है। यहां कृञ् को यदि निष्प्रयोजन या निरर्थक मानते हैं तो वक्ता का सारा अभिप्राय ही बदल जायेगा। तब 'अन्यथा' यह 'भुङ्क्ते' के साथ सम्बद्ध हो जायेगा। और 'भुङ्क्ते' का 'शिर:' कर्म बन कर 'सिर को अन्यथा खाता है' यह अनर्थ प्रतीत होने लगेगा और वक्ता का अभिप्रेत अर्थ लुप्त हो जायेगा। अत: वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को दृष्टि में रखते हुए यहां कृञ् का प्रयोग प्रयोजनहीन नहीं अपितु सप्रयोजन है। इस लिये वक्ता के अभिप्रायानुसार भुज् धात्वर्थ की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती धात्वर्थ होने के कारण कृञ् से **समानकर्तृकयो: पूर्वकाले** (८७९) द्वारा क्त्वा प्रत्यय हो जाता है।

इस णमुँल् प्रत्यय का विधान करने वाले अष्टाध्यायी में अन्य भी अनेक सूत्र हैं जो काशिका या सिद्धान्तकौमुदी मे देखने चाहियें।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम्

(यहां उत्तरकृदन्तप्रकरण समाप्त होता है)

अभ्यास (१३)

[१] निम्नस्थ प्रश्नों का समझा कर उत्तर दीजिये

(क) वस् धातु अनिट् है पुन: 'उषित्वा' में इट् कैसे ?

(ख) व्रश्च् धातु ऊदित् है पुन: 'व्रश्चित्वा' में नित्य इट् कैसे ?

(ग) भूत्वा, पूत्वा आदि सेट् धातुओं से क्त्वा में इट् क्यों नही ?

(घ) जागरित्वा में 'श्र्युक: किति' से इण्निषेध क्यों नहीं होता ?

---

१. वस्तुतोऽत्र कृञ: सिद्धाऽप्रयोगताऽऽपातत एव बोध्या। शाब्दबोधे तु भेदो भवत्येवेति प्रौढमनोरमायां दीक्षितेन सविस्तरं प्रत्यपादि। विशेषं बुभुत्सुभिस्तत्रैवावलोकनीयम्।

(ङ) 'हित्वा' प्रयोग किस किस धातु से बनाया जा सकता है ?
(च) 'अनधीत्य' में नञ्समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् कैसे ?

[२] प्रतिषेधार्थक माङ् के उपपद रहते धातु से क्त्वा क्या पाणिनिसम्मत है ?

[३] अन्तर स्पष्ट करें—
पीत्वा-पात्वा; निपाय-निपीय; उत्वा-उक्त्वा; उषित्वा-ओषित्वा; दित्वा-दत्त्वा; हुत्वा-हूत्वा; भात्वा-भीत्वा; विदित्वा-वित्त्वा ।

[४] ल्यप् में निम्नस्थ धातुओं के अनुनासिक का कहां नित्य और कहां वैकल्पिक लोप होता है
गम्, नम्, तन्, हन्, रम्, मन्, वन्, यम् ।

[५] सेट् क्त्वा के परे रहते कुटादियों में गुण होगा या नहीं ? स्पष्ट करें ।

[६] क्त्वा में इट् की स्थिति पर सोदाहरण टिप्पण करें—
(क) उदित् धातुओं से । (ख) रधादि धातुओं से । (ग) ऊदित् धातुओं से (घ) सह्, लुभ्, इष् धातु से ।

[७] क्त्वा के कित्त्व-अकित्त्व पर नोट लिखें—
(क) सेट् क्त्वा । (ख) इकार-उकार उपधा वाली हलादि रलन्त धातु से क्त्वा । (ग) थकारान्त फकारान्त नोपध धातु से क्त्वा । (घ) वद्, वस्, रुद्, विद्, मुष् और ग्रह् धातु से क्त्वा ।

[८] रलो व्युपधाद्० सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण प्रदर्शित करें।

[९] 'अमैवाऽव्ययेन' नियम की सोदाहरण व्याख्या करें ।

[१०] 'अलं दत्त्वा' में उपपदसमास क्यों नहीं होता ? यदि कर भी दें तो क्या दोष प्रसक्त होगा ?

[११] 'अलं दत्त्वा' की तरह 'खलु पीत्वा' उदाहरण न देकर वरदराज ने 'पीत्वा खलु' उदाहरण क्यों दिया है; विवेचन करें ।

[१२] निषेधार्थक अलम् और खलु के उपपद रहते क्त्वान्त प्रयोगों के साहित्यगत दो उदाहरण दीजिये ।

[१३] कृञ् के सिद्धाप्रयोग और सिद्धप्रयोग का अभिप्राय स्पष्ट करें ।

[१४] 'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते' में णमुँल् क्यों नहीं होता ? विवेचन करें ।

[१५] निम्नस्थ धातुओं के णमुँलन्त प्रयोगों का अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिये—
श्रु, प्रच्छ्, पठ्, स्था, गै, दा, ग्रह्, स्मृ, ध्यै, पा ।

[१६] 'नित्य-वीप्सयोः' में नित्य और वीप्सा का अभिप्राय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें और यह भी लिखें कि ये कहां कहां पाये जाते हैं ?

[१७] 'नित्य-वीप्सयोः' पर द्वित्वसम्बन्धी दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए प्रथमपक्ष में आने वाले दोष का परिहार कीजिये ।

[१८] ससूत्र सिद्धि करें—
अन्यथाकारं भुङ्क्ते, स्मारं स्मारम्, ध्यायं ध्यायम् ।

[१९] निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करते हुए यथासम्भव वैकल्पिक रूप भी प्रदर्शित करें--

१. जग्ध्वा । २. इष्ट्वा । ३. क्षान्त्वा । ४. कामयित्वा । ५. क्रान्त्वा । ६. खात्वा । ७. गत्वा । ८. गाढ्वा । ९. गृहीत्वा । १०. गीत्वा । ११. स्थित्वा । १२. घोषयित्वा । १३. दुग्ध्वा । १४. तष्ट्वा । १५. तीर्त्वा । १६. पीत्वा । १७. नंष्ट्वा । १८. नद्ध्वा । १९. रूढ्वा । २०. मुग्ध्वा। २१. रब्ध्वा। २२. सोढ्वा। २३. सृष्ट्वा। २४. शिष्ट्वा। २५. दत्त्वा । २६. द्यूत्वा । २७. मङ्क्त्वा । २८. स्नीढ्वा । २९. बद्ध्वा । ३० सुप्त्वा ।

[२०] निम्नस्थ ल्यबन्त रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. अधीत्य । २. आकर्ण्य । ३. पलाय्य । ४. प्रजग्ध्य । ५. उत्खाय । ६. विगृह्य । ७. अनूद्य । ८. प्रसीव्य । ९. निहत्य । १०. अवगम्य । ११. आहूय । १२. संजाय । १३. विगणय्य । १४. समुह्य । १५. उपशय्य ।

[२१] सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—

समासेऽनञ्पूर्वे०, अन्यथैवंकथमित्थंसु०, अलंखल्वोः०, समानकर्तृकयोः०, उदितो वा, आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च ।

इति कृदन्तप्रकरणम् ।

(यहां कृदन्तप्रकरण समाप्त होता है)

— —:०:——

अथ विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्

अब विभक्त्यर्थप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

व्याख्या—पीछे सुँबन्तप्रकरण (षड्लिङ्ग) में सुँ-औ-जस् आदि सात विभक्तियों का विधान दिखा चुके हैं अब उन विभक्तियों का विशेष अर्थ बतलाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है । **विभक्तिश्च** (१३०) सूत्रद्वारा यद्यपि सुँप् और तिङ् उभयविध प्रत्ययों की विभक्तिसंज्ञा कही गई है तथापि यहां विभक्त्यर्थप्रकरण में विभक्ति से सुँपों का ही ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि तिङ्विभक्तियों का अर्थ तिङन्तप्रकरण में पहले ही बताया जा चुका है। इस प्रकरण को 'सुँबर्थप्रकरण' या 'कारकप्रकरण' भी कहा जाता है । क्रियां करोति निर्वर्तयतीति कारकम् । जो क्रिया को सिद्ध करे—निष्पादन करे उसे कारक कहते हैं । अत एव **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्** ऐसा लक्षण वैयाकरणों में प्रसिद्ध है । कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण —ये

छः कारक कहलाते हैं। इन से किसी न किसी रूप में क्रिया की निष्पत्ति होती है[1]। सम्बन्ध-विभक्ति को कारक नहीं मानते क्योंकि वह क्रिया की निष्पत्ति में अन्यथासिद्ध होती है। देवदत्तस्य पुत्रोऽधीते—में देवदत्त का क्रिया की सिद्धि में कोई साक्षात् योगदान नहीं अतः वह कारक नहीं है। अत एव कहा है

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट्॥

इस प्रकरण में यद्यपि कारकों से भिन्न अन्य भी अनेक उपपदविभक्तियों का वर्णन है तथापि **प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति** (प्रधानता के कारण ही नामकरण किया जाता है) इस न्याय से कारकबहुल होने के कारण इस प्रकरण को कारकप्रकरण ही कहा जाता है।

---

१. यथा—पुरुषः खादति। यहां पुरुषद्वारा खादनक्रिया की निष्पत्ति हो रही है अतः पुरुष कर्तृकारक है। बालश्चन्द्रं पश्यति—यहां दर्शन क्रिया की सिद्धि में चन्द्र का भी निमित्त होना स्पष्ट है अतः चन्द्र कर्मकारक है। असिना छिनत्ति, कुठारेण भिनत्ति—यहां छेदन-भेदनक्रिया की सिद्धि में असि और कुठार निमित्त हैं अतः ये करणकारक हैं। राजा विप्राय गां ददाति—यहां दानक्रिया की निष्पत्ति में विप्र भी निमित्त है अतः वह सम्प्रदानकारक है। वृक्षात् पर्णं पतति—यहां पतन-क्रिया की सिद्धि में वृक्ष भी सहायक है अतः वृक्ष अपादानकारक है। कटे शेते (चटाई पर सोता है) यहां शयनक्रिया की निष्पत्ति में कट भी निमित्त है अतः वह अधिकरणकारक है। परन्तु यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि मुख्य कारक कर्त्ता ही होता है क्योंकि उसी के अधीन क्रिया हुआ करती है। अन्य क्रियानिष्पादक निमित्त कर्त्ता के अधीन रह कर ही क्रिया का निष्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों में अन्य निमित्त कर्त्ता को क्रियानिष्पत्ति में सहायता प्रदान करते हैं—इतने से ही वे कारक समझे जाते हैं। पाणिनीयतन्त्र में मुख्य-अमुख्य कारकों में कोई भेद नहीं दिखाया गया। कारकत्वेन सब कारक एक ही हैं।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि वक्ता जिस प्रकार किसी को प्रयुक्त करना चाहता है प्रस्तुत करता है यह उस की इच्छा पर निर्भर है—**विवक्षातः कारकाणि भवन्ति** (वक्ता की इच्छा पर ही कारक निर्भर हुआ करते हैं)। इससे कई बार वक्ता की इच्छानुसार वस्तुस्थिति मे परिवर्त्तन आ जाने से कारकों की दशा भी बदल जाती है। जैसे—स्थाली पचति; स्थाल्या पचति; स्थाल्यां पचति। यहां प्रथम वाक्य में स्थाली कर्त्ता, द्वितीय वाक्य में स्थाली करण तथा तृतीयवाक्य में स्थाली अधिकरण के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार—असिश्छिनत्ति, असिना छिनत्ति; अग्निः पचति, अग्निना पचति आदियों में समझना चाहिये। [परमियं विवक्षापि शिष्टप्रयोगानुसारिण्येव न तु स्वेच्छयेत्यपि नाऽत्र विस्मरणीयम्]।

यह प्रकरण वाक्यज्ञान के लिये महोपकारक है। हम इसे समझाने का पूरा पूरा प्रयत्न करेंगे। यह प्रकरण वरदराज ने अतीव संक्षिप्त लिखा है अतः लघुकौमुदी के प्रणयन में इसे एक त्रुटि माना जाता है। इस प्रकरण के अन्त में हम इस प्रकरण के अन्य भी अनेक उपयोगी सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं आशा है इस से इस ग्रन्थ की यह कथित त्रुटि बहुत हद तक दूर हो जायेगी।

अब सब से पहले प्रथमाविभक्ति का अर्थ निर्दिष्ट करने के लिये सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(८८८) प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६॥

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये[1] संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे—तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। वचनं सङ्ख्या। एकः। द्वौ। बहवः॥

अर्थः—किसी शब्द के उच्चारण करने पर नियम से जिस अर्थ की उपस्थिति (प्रतीति) होती है उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। सूत्रगत 'मात्र' शब्द प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण और वचन (संख्या)—इन चारों के साथ सम्बद्ध होता है। प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थ से लिङ्ग या परिमाण अर्थमात्र के अधिक होने में तथा संख्यामात्र अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है।

व्याख्या—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे ।७।१। प्रथमा ।१।१। प्रातिपदिकस्य अर्थः—प्रातिपदिकार्थः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं च—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनानि। इतरेतरद्वन्द्वः। प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनान्येव—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रम्, तस्मिन्—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे। यहां अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) 'मात्र' शब्द के साथ मयूरव्यंसकादिसमास होता है। यह समास नित्य है अतः स्वपदविग्रह न दिखा कर अस्वपदविग्रह दिखाया गया है। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** (द्वन्द्वसमास के अन्त मे पठित शब्द द्वन्द्वान्तर्गत प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होता है) इस न्याय से मात्रशब्द का प्रातिपदिकार्थ आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। किसी शब्द से केवल लिङ्ग या केवल परिमाण का बोध नहीं होता अपितु प्रातिपदिकार्थ+लिङ्ग या प्रातिपदिकार्थ+परिमाण की प्रतीति होती है अतः यहां लिङ्गमात्र या परिमाणमात्र का अभिप्राय प्रातिपदिकार्थ से अधिक लिङ्गमात्र या परिमाणमात्र से समझना चाहिये। अर्थः—(प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे)

---

१. कई संस्करणों में यहां 'परिमाणमात्रे' पाठ पाया जाता है जो अशुद्ध है। क्योंकि 'लिङ्गमात्राद्याधिक्ये' में जब 'आदि' शब्द लगा लिया तो फिर यहां इस की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अर्थ या परिमाणमात्र अर्थ की अधिकता में तथा वचनमात्र में (प्रथमा) विभक्ति होती है।

प्रातिपदिकार्थमात्रे (प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा होती है)—प्रातिपदिकस्यार्थः —प्रातिपदिकार्थः। प्रातिपदिक के अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। प्रातिपदिकार्थ किसी शब्द का वाच्यार्थ होता है। इसे शक्यार्थ भी कहते हैं। दीक्षितजी इस को इस तरह निर्दिष्ट करते हैं—नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। नियता निश्चिता नियमबद्धा वा उपस्थितिः प्रतीतिर्यस्यार्थस्य असौ—नियतोपस्थितिकः। तात्पर्य यह है कि—यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः। अर्थात् जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति (प्रतीति) होती है उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं[1]। यह शब्द का सीधा-साधा वाच्यार्थ (शक्यार्थ) ही होता है[2]। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा का उदाहरण यथा—उच्चैः (ऊँचे), नीचैः (नीचे), कृष्णः (वासुदेव), श्रीः (लक्ष्मी), ज्ञानम् (भावे ल्युट्, जानना)। इन उदाहरणों में प्रथम दो उच्चैस् और नीचैस् स्वरादिगणपठित होने से अव्यय हैं। इन से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा का एकवचन सुँ प्रत्यय ला कर उस का **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से लुक् कर दिया जाता है। पुनः प्रत्ययलक्षणद्वारा पदसंज्ञा हो जाने से **स-सजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँत्व तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश हो जाता है—उच्चैः, नीचैः। इन अव्ययों के आगे प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय के लाने का प्रयोजन पदसंज्ञा कर इन को प्रयोग के योग्य बनाना है—**अपदं न प्रयुञ्जीत** (किसी अपद अर्थात् जिस की पदसंज्ञा नहीं—का प्रयोग नहीं करना चाहिये)। किञ्च इन के पदसंज्ञक हो जाने से—उच्चैस्ते गृहम्, नीचैर्मे गृहम् इत्यादियों में पद से परे ते, मे आदि आदेश भी सिद्ध हो जाते हैं। कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्

---

१. भट्टोजिदीक्षित के गुरु सुप्रसिद्ध वैयाकरण शेषश्रीकृष्ण प्रक्रियाकौमुदी की प्रकाश-व्याख्या में प्रातिपदिकार्थ की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

यस्माच्छब्दाद् योऽर्थो नियमेन भासते, यमर्थं प्रातिपदिकं न व्यभिचरति, येन विना प्रातिपदिकस्याऽप्रयोगः, स इह प्रातिपदिकार्थो विवक्षितः।

सम्भवतः दीक्षित जी का **नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः** यह वचन अपने गुरुवचनों का सार ही है।

२. यदि प्रातिपदिकार्थ से शक्यार्थ (वाच्यार्थ) ही लिया जाये तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि लक्ष्यार्थ के बोधस्थलों में प्रथमा कैसे उपपन्न हो सकेगी?—यह यहां शङ्का करनी उचित नहीं क्योंकि शक्यार्थ को ले कर प्रथमा के आ जाने पर जब दूसरे पदों के साथ समभिव्याहार में वह अर्थ अन्वित नहीं होता तो वाच्यार्थ के बाध हो जाने पर ही लक्ष्यार्थ का बोध हुआ करता है पूर्व नहीं। जैसा कि कहा गया है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (साहित्यदर्पण २.५)

ये भी प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा के उदाहरण हैं। इन में प्रथमा विभक्ति के एकवचन सुँ को पूर्ववत् रुँत्व आदि कार्य हो जाते हैं। ज्ञानशब्द से परे सुँप्रत्यय को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश हो कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है। एकवचन में उदाहरण निदर्शनार्थ दिये गये हैं। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी समझ लेने चाहियें —पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः। कन्या,कन्ये, कन्याः। फलम्, फले, फलानि आदि। अव्यय और निश्चित-एकलिङ्गी शब्द ही प्रातिपदिकार्थ के उदाहरण समझे जाते हैं।

लिङ्गमात्रे—(लिङ्गमात्र में प्रथमा होती है)। कोई शब्द केवल अपने लिङ्ग को नहीं कह सकता अपितु लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ को ही कहता है। यथा—पुरुषशब्द पुंस्त्वविशिष्ट मनुष्यरूप प्रातिपदिकार्थ को, कन्याशब्द स्त्रीत्वविशिष्ट लड़की-रूप प्रातिपदिकार्थ को, तथा फलशब्द नपुंसकत्वविशिष्ट फलरूप प्रातिपदिकार्थ को कहता है। इस प्रकार लिङ्ग भी प्रातिपदिकार्थ में ही गृहीत हो जाता है। जब प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा कह दी तो लिङ्ग में अपने आप हो गई क्योंकि वह प्राति-पदिकार्थ के अन्तर्गत ही है। अतः यहां शङ्का उत्पन्न होती है कि सूत्र में पुनः लिङ्ग-मात्र में प्रथमा के विधान का यत्न कैसा ? इस का समाधान यह है कि कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जिन के प्रातिपदिकार्थ में लिङ्ग का ग्रहण नहीं हो सकता। यथा 'तट' शब्द त्रिलिङ्गी है। 'तट' का उच्चारण करने पर तीररूप प्रातिपदिकार्थ की तो प्रतीति निश्चितरूपेण होती है पर उस के साथ किसी निश्चित लिङ्ग की प्रतीति नहीं होती। अतः उस लिङ्ग की प्रतीत्याधिक्य के लिये सूत्र में पुनः प्रथमा का विधान किया गया है ताकि प्रातिपदिकार्थ के साथ तत्तल्लिङ्ग की भी प्रतीति प्रथमा विभक्ति से हो सके। इस प्रकार यहां 'लिङ्गमात्र' का ग्रहण प्रातिपदिकार्थ+लिङ्ग अथवा प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त लिङ्गमात्र के आधिक्य के लिये है। इस के उदाहरणों में द्विलिङ्गी या त्रिलिङ्गी अर्थात् अनिश्चितलिङ्गी शब्द ही आते हैं। यथा— तटः, तटी, तटम्। शुक्लः, शुक्ला, शुक्लम्। कृष्णः, कृष्णा, कृष्णम्[1]। गौरयम्। गौरियम्। अशनिरयम्। अश-निरियम्। इन में प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र अर्थ के अधिक होने पर भी प्रकृतसूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

परिमाणमात्रे—(परिमाणमात्र[2] में प्रथमा होती है)। कहीं पर भी किसी शब्द से केवल परिमाण की अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती अपितु प्रातिपदिकार्थ+परि-माण की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है अतः यहां पर भी पूर्ववत् 'परिमाणमात्रे प्रथमा' का तात्पर्य 'परिमाणाधिक्ये प्रथमा' से समझना चाहिये। जब किसी शब्द से प्राति-

---

१. यहां पर शुक्ल, कृष्ण आदि शब्द तत्तद्वर्णविशिष्ट वस्तु को निर्दिष्ट करते हैं अतः त्रिलिङ्गी हैं। प्रातिपदिकार्थ के उदाहरणों में पूर्वोक्त कृष्णशब्द वासुदेव का वाचक नियतपुंलिङ्ग था—इन दोनों का पारस्परिक यह भेद ध्यान में रखना चाहिये।

२. यहां परिमाणग्रहण मानमात्र के उपलक्षणार्थ है अतः लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि सब प्रकार के मानों का यहां ग्रहण अभीष्ट है।

पदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाण अर्थ की प्रतीति हो रही हो तो उस में प्रथमा विभक्ति होती है—यह यहां 'परिमाणाधिक्ये' का आशय है। उदाहरण यथा—द्रोणो व्रीहिः[1] (द्रोणपरिमाण भर चावल)। द्रोण पुराने काल का लकड़ी या लोहे से बना एक माप था जिस में भर कर धान्य आदि को मापा जाता था। इस में मागध मान के अनुसार १०२४ तोले वस्तु आ जाती थी। यहां द्रोणशब्द से परिमाणसामान्य अर्थ में प्रथमा हुई है। द्रोण स्वयं परिमाणविशेष है इस से परिमाण-सामान्य में प्रथमा हो कर विशेष और सामान्य का परस्पर अभेद अन्वय हो जाता है। अतः इसका अर्थ हुआ—द्रोणरूप जो परिमाणसामान्य। अब इस का 'व्रीहिः' के साथ अन्वय होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव की प्रतीति होने लगती है। यहां परिच्छेदक 'द्रोणः' विशेषण तथा परिच्छेद्य 'व्रीहिः' विशेष्य है। अर्थ हुआ—द्रोणरूप जो सामान्य-परिमाण उस से परिच्छिन्न अर्थात् मापे हुए व्रीहि। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि द्रोणशब्द से केवल प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा लाते तो क्या 'द्रोणो व्रीहिः' बन कर यह अर्थ द्योतित न होता? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि यदि द्रोणशब्द से केवल प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा लाते तो उस का व्रीहि के साथ सम्बन्ध होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध व्यक्त न हो सकता था अतः उस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये ही यहां परिमाणसामान्य मे प्रथमा विधान की गई है[2]।

वचनमात्रे—(वचन अर्थात् संख्यामात्र में प्रथमा होती है)। पाणिनि से पूर्व-वर्त्ती आचार्य 'वचन' शब्द से एक-दो आदि संख्याओं का ग्रहण करते थे, यहां पाणिनि

---

१. 'व्रीहिः' में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा तथा जाति में **जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचन-मन्यतरस्याम्** (१.२.५८) से एकवचन समझना चाहिये। इस तरह 'व्रीहिः' का अर्थ यहां 'व्रीहिराशि' है। वैसे व्यक्तिविवक्षा में बहुवचन का भी प्रयोग हो सकता है—द्रोणो व्रीहयः।

२. 'द्रोणो व्रीहिः' में अन्वय का द्वैविध्य समझना बहुत आवश्यक है। प्रथम—द्रोण-रूप विशेष परिमाण का प्रथमा के अर्थ परिमाणसामान्य के साथ अन्वय। इस में प्रकृत्यर्थ विशेषण तथा प्रत्ययार्थ विशेष्य रहता है। विशेषण-विशेष्य का अभेद हो कर 'द्रोणरूप जो सामान्यपरिमाण' यह अर्थ यहां बोधित होता है। दूसरा अन्वय है 'द्रोणः' और 'व्रीहिः' के मध्य। यहां 'द्रोणः' विशेषण तथा 'व्रीहिः' विशेष्य होता है। इन का अभेद हो कर परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भावरूप सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अर्थात् व्रीहि परिच्छेद्य—नापे जाने वाली वस्तु तथा द्रोण परिच्छेदक—नापने वाला परिमाण प्रतीत होता है। दीक्षित आदि वैयाकरणों का कहना है कि इसी सम्बन्ध को द्योतित करने के लिये ही परिमाण में प्रथमा का विधान किया गया है। अन्यथा 'द्रोणः' और 'व्रीहिः' के मध्य अर्थ की संगति न हो सकेगी। **द्रोणरूपं यत् परि-माणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः** —(सि० कौमुदी)।

ने भी उसी अर्थ में वचनशब्द का प्रयोग किया है। संख्यामात्र को द्योतित करने के लिये प्रथमा का प्रयोग होता है। यथा—एकः, द्वौ, बहवः। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एकत्व आदि संख्या तो प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत ही आ जाती है जैसे 'कृष्णः' कहने से एकत्वविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ का ग्रहण होता है पुनः इस में प्रथमा लाने का यत्न कैसा ? इस का उत्तर यह है कि जब 'एक' शब्द से प्रथमा आयेगी तो वह कैसे एकत्व संख्या को द्योतित कर सकेगी ? क्योंकि वह एकत्वरूप अर्थ तो एकशब्द से पहले ही कहा जा चुका है। **उक्तार्थानामप्रयोगः** अर्थात् जो अर्थ एक बार किसी शब्द से कह दिया गया हो तो पुनः उस के कहने के लिये शब्दान्तर प्रयोगरूप यत्न नहीं करना चाहिये। इस तरह एकः, द्वौ, बहवः' में प्रथमाविभक्ति आ ही नहीं सकती थी और उसके विना पद-संज्ञा न हो सकती अतः उस के लिये सूत्र में 'वचन' का ग्रहण किया गया है।

सूत्र मे 'मात्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यदि प्रातिपदिकार्थ आदि से कर्म आदि अर्थों की अधिकता प्रतीत होगी तो प्रथमा विभक्ति न होगी। यथा— कटं करोति।

नोट—यह सूत्र बहुत प्राचीन काल से ही विवादास्पद रहा है। कात्यायन ने तथा आगे चल कर भाष्यकार ने भी इस में कई संशोधन प्रस्तुत किये हैं। इस सूत्र की व्याख्या भी भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न भिन्न प्रकारेण की है। भट्टोजि ने प्रौढमनोरमा तथा शब्दकौस्तुभ में इस सूत्र की कड़ी आलोचना की है। कात्यायन का कहना है कि यहां **तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा** इस प्रकार सूत्र बनाना चाहिये। कृष्णः, ज्ञानम्, श्रीः, तटः तटी, तटम्, द्रोणः, एकः—आदि इन सब स्थानों पर अप्रयुक्त भी अस्ति, भवति आदि क्रियाओं का सम्बन्ध मान कर तिङ् के समानाधिकरण में प्रथमा हो जायेगी कहीं कोई दोष प्रसक्त न होगा।

अब सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८९) सम्बोधने च ।२।३।४७॥

प्रथमा स्यात्। हे राम ! ॥

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

व्याख्या—सम्बोधने ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। प्रथमा ।१।१। (**प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** से)। सम् सम्मुखीकृत्य बोधनम्—ज्ञापनं सम्बोधनम्। किसी व्यक्ति को (कुछ बताने के लिये) अपनी ओर अभिमुख करना सम्बोधन कहाता है। अर्थः- (सम्बोधने) प्रातिपदिकार्थ से सम्बोधन अर्थ के अधिक होने पर (च) भी (प्रथमा) प्रथमा विभक्ति होती है। पीछे **प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०** (८८८) सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया था अतः प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा प्राप्त थी यहां प्रातिपदिकार्थ से सम्बोधन अर्थ के आधिक्य में वह प्राप्त न होती थी अतः

यह सूत्र बनाना पड़ा है। उदाहरण यथा—हे राम ! यहां राम को अपनी ओर अभिमुख कर कुछ निवेदन करना है और अभिमुखीकरण ही सम्बोधन है अतः सम्बोधन में 'राम' शब्द से प्रथमाविभक्ति(सुँ) ला कर **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (१३४) से उस का लोप हो जाता है। हे, भोः, रे आदि अव्यय सम्बोधन को व्यक्त करने के लिये लगाये जाते हैं और नहीं भी—**रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्** (भर्तृ० नीति० ५१); **अम्ब ! देहि मेऽम्बु** (वा० मु०); **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते** (गीता २.३); **अहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो** (नैषध० १.१३५); **पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस !** (नैषध० ३.९४)। हे राम ! यहां राम को अभिमुख कर 'मां पालय' आदि कुछ विज्ञाप्य का अध्याहार करना चाहिये। यहां सम्बोधन प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य तथा क्रिया के प्रति विशेषण समझा जाता है[1]। 'हे राम ! मां पाहि' इस वाक्य का 'रामसम्बन्धिसम्बोधनविषयक मत्कर्मकरक्षण' अर्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार 'व्रजानि देवदत्त !' (देवदत्त ! मैं चलता हूं) का 'देवदत्तसम्बन्धिसम्बोधनविषयक मत्कर्तृकगमन' अर्थ होता है। इस का विस्तार सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं में देखें।

नोट—यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्बोधन के एकवचन अर्थात् सुँप्रत्यय की सम्बुद्धिसंज्ञा होती है—**एकवचनं सम्बुद्धिः** (१३२) तथा सम्बोधन प्रथमान्त पद को 'आमन्त्रित' पद कहते हैं—**साऽऽमन्त्रितम्** (२.३.४८)। सम्बोधन के आगे आजकल स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये '!' इस प्रकार का चिह्न लगाया जाता है। परन्तु संस्कृतकाव्यों में इस प्रकार का कोई चिह्न नहीं होता अत एव सम्बोधनान्त के साथ सन्धि कर दी जाती है—**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन** (गीता ३.२२)।

अब द्वितीया विभक्ति का अवतरण करने के लिये कर्मसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८९०) कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९।।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेषरूप से प्राप्त करना चाहता है उस कारक की कर्मसंज्ञा हो।

व्याख्या—कर्तुः ।६।१। ईप्सिततमम् ।१।१। कर्म ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। आप्तुमिष्यत इति—ईप्सितम्

---

१ क्रिया के प्रति विशेषण होने से ही **आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्** के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' यह एक वाक्य समझा जाता है तब समानवाक्य में विधीयमान **आमन्त्रितस्य च** (८.१.१९) द्वारा निघातस्वर सिद्ध हो जाता है। अत एव वाक्यपदीय में कहा है—

> **सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् ।**
> **व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥** (२.५)

सन्नन्ताद् आप्नोते: **मति-बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) इति वर्त्तमाने क्त:[1]। मतिरिह इच्छा। अतिशयेन ईप्सितम्—ईप्सिततमम्। **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१४) इति तमप् प्रत्यय:। **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) इत्यनेन 'कर्तु:' इत्यत्र षष्ठी। 'ईप्सिततम' का अर्थ है - जो प्राप्त करने के लिये विशेषरूप से इष्ट है। दूसरे शब्दों में कर्त्ता जिसे प्राप्त करने के लिये विशेष चाहता है उसे ईप्सिततम कहते हैं। किस से ? इस का उत्तर **कारके** अधिकार के कारण सुतरां यही प्राप्त होता है कि 'क्रिया के द्वारा'। **अर्थ:**—(कर्तु:) कर्ता का उस की क्रिया के द्वारा (ईप्सिततमम्) पाने के लिये जो अत्यन्त अभीष्ट (कारकम्) कारक होता है वह (कर्म) कर्मसञ्ज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि किसी क्रिया का कर्त्ता उस अपनी क्रिया के द्वारा जिसे पाने के लिये अत्यन्त उत्सुक या लालायित रहता है उस की कर्मसंज्ञा होती है। जैसे कटं करोति (चटाई बनाता है)। यहां कर्त्ता करणक्रिया के द्वारा 'कट' के लिये विशेष उत्सुक रहता है अत: 'कट' की प्रकृतसूत्र से कर्मसञ्ज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) इस अग्रिमसूत्र से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। मातरं पश्यति (माता को देखता है)। इस वाक्य में दर्शनक्रिया के द्वारा कर्त्ता विशेषरूप से माता को प्राप्त करना चाहता है या उसे अपनी दर्शनक्रिया से सम्बद्ध करना चाहता है अत: 'मातृ' शब्द की दर्शनक्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा होकर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। तण्डुलान् पचति (चावलों को पकाता है)। इस वाक्य में पाकक्रिया के द्वारा कर्त्ता तण्डुलों को विशेषरूप से सम्बद्ध करना चाहता या पचन का विषय बनाना चाहता है अत: 'तण्डुल' की पचनक्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा हो कर पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

इस सूत्र में 'कर्तु:' इसलिये कहा है कि कर्त्ता के इष्टतम की ही कर्मसंज्ञा हो किसी अन्य के इष्टतम की नहीं। यथा मापेष्वश्वं बध्नाति (माष=उडद के खेत में विचरण करते हुए अश्व को देखकर उसका स्वामी इस भय से कि कहीं मेरा घोड़ा उड़द भक्षण से रोगी न हो जाये उसे अन्यत्र बांधता है)— यहां 'बध्नाति' क्रिया के कर्त्ता को घोडा अभीष्टतम है उड़द नहीं अत: अश्व की ही कर्म संज्ञा हो जाती है उड़दों की नहीं। उड़द तो घोड़े को प्रिय हैं जो 'बध्नाति' क्रिया का कर्म है।

सूत्र में 'ईप्सित' न कह कर 'ईप्सिततम' कहा गया है इससे ईप्सितों में भी जो विशेष ईप्सित होगा उस की ही कर्मसंज्ञा होगी ईप्सितमात्र की नहीं। यथा—पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से चावल खाता है)। यहां भुजक्रिया के द्वारा कर्ता पय: और ओदन दोनों को प्राप्त करता है दोनों उसे ईप्सित हैं, परन्तु वह केवल दूध पीने से सन्तुष्ट नहीं होता अपितु दूध मिला कर भात खा कर ही प्रसन्न होता है अत: इन में

---

१ यहां पर वर्त्तमानत्व अविवक्षित है अत एव 'कटं कृतवान्, कटं करिष्यति' इत्यादि स्थलों पर भूत और भविष्यत् काल में भी ईप्सिततम की कर्मसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

प्रधानता ओदन की है पयः तो ओदन का केवल संस्कारक द्रव्य (उपसेचक) है विशेष ईप्सित तो ओदन ही है उसकी ही कर्मसंज्ञा होती है संस्कारक या सहायक पयः की नहीं। अतः हेतु या करण होने से उसमें तृतीया हो जाती है[1]।

पीछे इस व्याख्या के द्वितीय भाग में भूधातु की व्याख्या करते हुए यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक धातु के अर्थ के दो विभाग होते हैं – फल और व्यापार। फल का आश्रय 'कर्म' और व्यापार का आश्रय 'कर्त्ता' हुआ करता है। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई क्रिया की जाती है वह उद्देश्य उस क्रिया का फल कहाता है। यथा पचनक्रिया (पकाना) तण्डुल आदियों की विक्लित्ति (गलना) के उद्देश्य से की जाती है अतः 'विक्लित्ति' पचनक्रिया का फल है। इसी प्रकार गमनक्रिया ग्राम आदि के संयोग के लिये की जाती है अतः ग्राम आदि का संयोग गमनक्रिया का फल है। फल की सिद्धि के लिये जो जो क्रिया-चेष्टा-हरकत की जाती है उसे व्यापार कहते हैं। यथा पचन में आग जलाने से ले कर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारने तक जो जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब पच्धातुवाच्य व्यापार है। इसी प्रकार गमन में ग्रामादिसंयोगरूप फल की सिद्धि के लिये जो कदम बढ़ाने आदि की क्रिया की जाती है वह गम्धातुवाच्य व्यापार है।

फल कर्म में और व्यापार कर्ता में रहता है। पचन में विक्लित्ति रूप फल का आश्रय तण्डुल है अतः वह कर्म है; और उस विक्लित्ति के साधक आग जलाना, पात्र ऊपर धरना आदि क्रियारूप व्यापार का आश्रय देवदत्त आदि है अतः वह कर्त्ता है।

जिन धातुओं में फल और व्यापार के आश्रय भिन्न भिन्न हों उन धातुओं को 'सकर्मक' कहते हैं **फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्**। यथा पच्धातु का विक्लित्तिरूप फल तण्डुलों में तथा तदनुकूल (उस विक्लित्ति को पैदा करने वाला) व्यापार देवदत्त आदि कर्त्ता में रहता है।

जिन धातुओं में फल और व्यापार का आश्रय एक ही हो उन धातुओं को अकर्मक कहते हैं– **फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्**। यथा शीङ् धातु, इस का फल विश्राम तथा तदनुकूल व्यापार लेटना आदि दोनों एक ही आश्रय देवदत्त आदि में रहते हैं। पुरुषः शेते, बालो हसति, स क्रीडति, अनाथो म्रियते, वर्धते शत्रुगणः –इत्यादि धातुएं अकर्मक हैं इन का कर्म नहीं होता।

अब कर्म में द्वितीया विभक्ति के विधान के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं –

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि यदि 'ओदन' की तरह 'पयः' भी ईप्सिततम होगा तो– 'पय ओदनञ्च भुङ्क्ते' प्रयोग होगा। और यदि 'ओदन से दूध पीता है' इस प्रकार कहना विवक्षित होगा तो 'ओदनेन पयः पिबति' प्रयोग किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि **विवक्षातः कारकाणि भवन्ति** के अनुसार वक्ता की जैसी विवक्षा होगी तदनुसार प्रयोग होगा परन्तु इतना निश्चित है कि सर्वत्र ईप्सिततम की ही कर्म-संज्ञा होगी।

[लघु०] विधि-सूत्रम् (८९१) **कर्मणि द्वितीया ।२।३।२।।**

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा । हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितः ।।

अर्थः अनुक्त (किसी से न कहे हुए) कर्म मे द्वितीया विभक्ति हो । **अभिहिते तु** – उक्त कर्म आदि में तो प्रथमा होती है ।

व्याख्या -कर्मणि ।७।१। द्वितीया ।१।१। अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत है)। न अभिहितम् (उक्तम्) --अनभिहितम्, तस्मिन्=अनभिहिते, नञ्तत्पुरुषः । जो किसी से कहा हुआ नहीं उसे 'अनभिहित' कहते हैं । अर्थः — (अनभिहिते) न कहे हुए (कर्मणि) कर्म में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है । तात्पर्य यह है कि ऐसे कर्म में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है जो किसी से अभिहित- उक्त कहा गया न हो । जब कर्म तिङ्, कृत् आदि से कह दिया जाता है तब उस में द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति ही होती है । उदाहरण यथा—हरिं भजति (भक्त हरि को भजता है) । यहां भजनक्रिया के द्वारा भक्त हरि को प्राप्त करना या संतुष्ट करना चाहता है अतः 'हरि' कर्त्ता का ईप्सिततम होने से **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) द्वारा कर्मसंज्ञक है । हरि का कर्मत्व किसी तिङ्-कृत् आदि से कहा भी नहीं गया । 'भजति' में प्रयुक्त लँट् (तिप्) कर्त्ता अर्थ में हुआ है अतः वह कर्म को नहीं कहता । इस प्रकार अनभिहित या अनुक्त कर्म 'हरि' में प्रकृतसूत्र से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—हरिं भजति[1] । इसी प्रकार **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्; नमामि रामं रघुवंशनाथम्; जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ** (रघु० १.१); **आपदर्थे धनं रक्षेत्** (हितोप० १.४२); **विद्या ददाति विनयम्** (हितोप० प्र० ६); **अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्** (हितोप० प्र० ३); **न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति** (सुभाषित) — इत्यादियों मे ईप्सिततम अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है[2] ।

---

१. भजनक्रिया का फल आराध्य को अपने अनुकूल करना या प्रसन्न करना है तथा व्यापार हस्तपादादिद्वारा वन्दन या स्तुति करना आदि है । यहां फल का आश्रय होने से 'हरि' कर्म एवं व्यापार का आश्रय होने से भक्त कर्त्ता समझना चाहिये ।

२. ध्यान रहे कि विशेष्य-विशेषण का अभेद मान कर विशेष्य में जिस सूत्र से जो विभक्ति की जाती है विशेषण से भी उसी सूत्र द्वारा वही विभक्ति हो जाती है । यथा —कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् (मैं जगद् गुरु कृष्ण को नमस्कार करता हूं) —यहां वन्दनक्रिया का 'कृष्ण' अनुक्त कर्म है, इस में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति की गई है । अतः तदनुसार इस के विशेषण 'जगद्-गुरु' से भी इसी सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो जाती है । जैसा कि कहा गया है

यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ।।

इस विषय का विशेष विवेचन व्युत्पत्तिवाद (प्रथमाप्रकरण) तथा लघुमञ्जूषा आदि में देखें । शब्दाऽपशब्द-विवेक की भूमिका में भी इसका अच्छा विवेचन देखा जा सकता है ।

(ल० तृ० २०)

यदि कर्म तिङ्, कृत् आदि किसी के द्वारा उक्त (कहा गया) होगा तो उस में प्रकृतसूत्र से द्वितीया नहीं होगी। यथा—लक्ष्म्या हरिः सेव्यते (लक्ष्मी द्वारा हरि सेवन किया जाता है)। यहां सेवनक्रिया की कर्त्ता 'लक्ष्मी' है। कर्त्ता को क्रिया-द्वारा ईप्सिततम 'हरि' है अतः **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) के अनुसार वह कर्म है। परन्तु कर्म होते हुए भी वह तिङ् के द्वारा उक्त है। 'सेव्यते' में लँट् का आदेश तिङ् (ते) कर्म को कह रहा है। इसीलिये कर्मवाची आर्धधातुक 'ते' के परे रहते यक् प्रत्यय हुआ है। उक्त हो जाने से उस में प्रकृतसूत्र से द्वितीया नहीं होती। अब कर्मणि लँट् द्वारा 'हरि' का कर्मत्व तो उक्त है ही शेष उस का प्रातिपदिकार्थमात्र बच रहता है इस में **प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०** (८८८) सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है- -(लक्ष्म्या) हरिः सेव्यते।

लक्ष्म्या सेवितो हरिः (लक्ष्मी द्वारा सेवन किया गया हरि)। यहां कर्ता लक्ष्मी का सेवनक्रियाद्वारा ईप्सिततम 'हरि' है अतः वह कर्मसंज्ञक है। परन्तु वह कर्म 'सेवितः' में क्तप्रत्यय के द्वारा उक्त है क्योंकि यहां क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार कर्म में हुआ है। इस प्रकार उक्त होने के कारण कर्मसंज्ञक होते हुए भी 'हरि' में प्रकृतसूत्र से द्वितीया विभक्ति नही होती। पूर्ववत् प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति होकर—'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

तिङ् और कृत् की तरह तद्धित या समास के द्वारा भी कर्म उक्त हो जाता है। तब भी उस में द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है। तद्धितद्वारा कर्म के उक्त हो जाने का उदाहरण -शतेन क्रीतः शत्योऽश्वः (सौ से खरीदा हुआ घोड़ा आदि)। यहां **तेन क्रीतम्** (११४१) के अर्थ में **शताच्च ठन्यतावशते** (५.१.२१) सूत्र से तृतीयान्त शतशब्द से 'क्रीत=खरीदा हुआ' अर्थ में यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् (७२१) तथा भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर—'शत्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां 'शत्य' (सौ से खरीदा हुआ) यद्यपि खरीदना-क्रिया का कर्म है तथापि तद्धितप्रत्यय यत् के द्वारा उस का कर्मत्व कह दिया गया है (तद्धित-प्रत्यय 'क्रीत=खरीदा हुआ' अर्थ में हुआ है, यहां 'क्रीत' में क्त कर्म में प्रयुक्त हुआ है) अतः कर्म के उक्त होने के कारण यहां द्वितीया विभक्ति न हो कर प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा ही हो जाती है। समासद्वारा कर्म के उक्त होने का उदाहरण है प्राप्त आनन्दो यम् स प्राप्तानन्दो जनः (जिस को आनन्द प्राप्त हो गया है ऐसा मनुष्य)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६५) सूत्र से प्राप्त और आनन्द इन दो सुँबन्तों का अन्यपदार्थ अर्थात् द्वितीया विभक्ति के अर्थ कर्म में बहुव्रीहिसमास किया गया है। इस प्रकार समास द्वारा कर्म के उक्त हो जाने से द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है---प्राप्तानन्दो जनः। इसी प्रकार 'प्राप्तोदको ग्रामः' में जानें।

तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के अतिरिक्त कहीं कहीं पर किसी निपात के द्वारा भी कर्म उक्त हो जाता है। यथा—**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** (कुमार० २.५५)। विषवृक्ष को भी स्वयं बढ़ा कर फिर उसे काटना उचित

नहीं होता । न साम्प्रतम् असाम्प्रतम्, न युज्यत इत्यर्थः । यहां 'असाम्प्रतम्' निपात के योग के कारण 'विषवृक्ष' जो वर्धन और छेदन क्रिया का कर्म है, उक्त हो जाता है अतः उस में द्वितीया नहीं होती । इसी प्रकार- **अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे** (रघु० १४.४०) । रामचन्द्र जी कह रहे हैं कि मैं यद्यपि सीता को निष्पाप समझता हूं तथापि लोकापवाद मुझे प्रबल प्रतीत होता है । यहां 'इति' निपात के कारण जानना-क्रिया के कर्म 'अनघा' के उक्त हो जाने से उस में द्वितीया विभक्ति नहीं होती । **क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः** (माघ १.३) । —इस प्रकार क्रम से जान लिया कि यह नारदजी है । यहां भी 'इति' निपात के कारण बोधनक्रिया के कर्म 'नारद' में द्वितीया विभक्ति नहीं होती[1] ।

अब कर्मसंज्ञा के प्रसंग में सुप्रचलित एक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् **(८९२) अकथितं च ।१।४।५१।।**

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम् ।
कर्मयुक्[2] स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्-वहाम् ।।१।।

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । तण्डुलान् ओदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा । अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि ।।

अर्थः—जब किसी कारक की अपादान आदि विशेष संज्ञा न कहनी हो तो उस की भी कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

दुह्याच्—(१) दुह् (दोहना), (२) याच् (मांगना), (३) पच् (पकाना), (४) दण्ड् (जुर्माना वसूल करना), (५) रुध् (रोकना), (६) प्रच्छ् (पूछना), (७) चि (चुनना), (८) ब्रू (कहना), (९) शास् (उपदेश देना), (१०) जि (जीतना), (११) मथ् (बिलोकर निकालना), (१२) मुष् (लूटना) —इन बारह धातुओं तथा

---

१. अत एव वामन काव्यालङ्कारसूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखते हैं—**निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात्** ।५।२।२२।। 'अनभिहिते' इत्यत्र सूत्रे 'तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैः' इति परिगणनं कृतम् । तस्य प्रायिकत्वाद् निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिर्भवति । यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति ।

२. कर्मणा—प्रधानकर्मणा—मुख्यकर्मणा युज्यत इति कर्मयुक्, **सत्सूद्विष०** (३.२.६१) इति क्विप् । अन्ये तु कर्मशब्देन क्रियामाहुः । कर्मणा=क्रियया यद् युक्तं तत् । क्रियान्वयि इति तेषामाशयः ।

(१) नी (ले जाना), (२) हृ (ले जाना), (३) कृष् (खींचना-ले जाना), (४) वह् (पहुँचाना-ले जाना) इन चार धातुओं अर्थात् कुल सोलह[1] धातुओं के प्रधानकर्म से युक्त = सम्बद्ध कारक की अपादान आदि विशेष संज्ञाओं की विवक्षा न होने पर कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—यह कर्मसंज्ञा अर्थ के आश्रित है । (केवल इन धातुओं के स्वरूप के आश्रित नहीं । अतः इन धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी हो जाती है) ।

व्याख्या—अकथितम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । कर्म ।१।१। (**कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** से) । कथितम् =अभिहितम् =उक्तम् । न कथितम् =अकथितम् । नञ्तत्पुरुषसमासः । न कहे गये को 'अकथित' कहते हैं । प्रश्न उत्पन्न होता है कि—केन अकथितम् ? (किस से न कहा गया ?) । इस का उत्तर सुतरां यही प्राप्त होता है कि इस सूत्र से पूर्व **कारके** (१.४.२३) के अधिकार में जो कारक की अपादान, सम्प्रदान, करण और अधिकरण संज्ञाएं की गई हैं उन से अकथित । अर्थः — (कारकम्) जब कोई कारक (अकथितम्) अपादान, सम्प्रदान, करण और अधिकरण के रूप में कहना अभीष्ट न हो तो वह (च) भी (कर्म) कर्मसंज्ञक हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जब वक्ता अपादान आदि कारकों को तत्तद्रूप में निर्दिष्ट न कर कारकत्व मात्र की विवक्षा से प्रवृत्त होता है तब कारक सामान्य की भी कर्मसंज्ञा हो जाती है । परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता, उपर्युक्त दुह् आदि सोलह धातुओं के योग में या तत्समानार्थक धातुओं के योग में ही होता है । उदाहरण यथा—

दुह्—गोर्दोग्धि पयः (गाय से दूध दोहता है) । यहां 'गो' अपादान तथा पयः ईप्सिततम कर्म है । परन्तु यदि वक्ता 'गो' में अपादानत्व की अविवक्षा से प्रवृत्त हो तो प्रकृतसूत्र से गो की कर्मसंज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया हो जायेगी—गां दोग्धि पयः । यहां वक्ता 'गो' को अपादानरूप मे कहना नहीं चाहता अपितु उपयुज्यमान 'पयः' के प्रति निमित्त मानता है । इस प्रकार अपादानरूप की अविवक्षा होने पर 'गो' की कर्मसंज्ञा हो जाती है । यहां 'पयः' यह प्रधान कर्म पहले से मौजूद है दूसरा कर्म इस सूत्र से आ गया इस प्रकार दुह् के दो कर्म हो जाने से वह द्विकर्मक हो जाती है । इन दो कर्मों में 'पयः' तो ईप्सिततम होने से **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) से प्रधानकर्म है ही और यह दूसरा 'गो' अप्रधान या गौण कर्म माना जाता है । दोनों कर्म अनुक्त हैं अतः **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से दोनों में द्वितीया-विभक्ति हो जाती है । हिन्दी में 'गां दोग्धि पयः' आदि के अनुवाद के लिये उपयुक्त

---

१. दुह् आदि बारह तथा नी आदि चार इस प्रकार यहां धातुओं के दो विभाग किये गये हैं । इन का यह विभाग **गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नी-हृ-कृष्वहाम्** इस में सुविधा के लिये किया गया है । यह सब आगे इसी सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्पष्ट किया जायेगा ।

शब्द नहीं मिलते अतः 'गोर्दोग्धि पयः' तथा 'गां दोग्धि पयः' दोनों का 'गाय से दूध दोहता है' ऐसा अर्थ किया जाता है परन्तु इन दोनों के कहने में वक्ता का अभिप्राय भिन्न भिन्न है।

याच्—बलेर्याचते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी को मांगता है)। यहां **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (८६६) से अवधिभूत 'बलि' अपादान है अतः **अपादाने पञ्चमी** (६००) से उस में पञ्चमी हो जाती है। परन्तु जब वक्ता 'बलि' को अपादानरूप में न मान कर याच्यमान वसुधा का निमित्त मात्र मानता है तब प्रकृतसूत्र से 'बलि' की कर्मसंज्ञा हो कर पूर्ववत् **कर्मणि द्वितीया** (८६१) से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है — बलिं याचते वसुधाम्। यहां याच् धातु द्विकर्मक हो गई है। 'वसुधाम्' यह इस का प्रधान कर्म तथा 'बलिम्' अप्रधान या गौण कर्म है। इस वाक्य का हिन्दी में ठीक-ठीक अनुवाद तो नहीं पर 'बलि को पृथ्वी मांगता है' कुछ इस प्रकार का हो सकेगा।

पच्—तण्डुलैरोदनं पचति (चावलों से भात पकाता है)। यहां **साधकतमं करणम्** (८६४) के अनुसार 'तण्डुल' पचनक्रिया के करण हैं अतः **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८६५) से इन में तृतीया विभक्ति आती है। परन्तु जब वक्ता को तण्डुलों का करणत्व कहना अभीष्ट नहीं होता किन्तु कारकत्वमात्र अभीष्ट है तब प्रकृतसूत्र से उन की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है — तण्डुलान् ओदनं पचति। यहां पच् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'ओदनम्' इस का प्रधानकर्म तथा 'तण्डुल' इस का अप्रधान कर्म होता है। 'चावलों को भात पकाता है' कुछ इस प्रकार से संस्कृतवाक्य का हिन्दी में अभिप्राय व्यक्त किया जा सकेगा।

दण्ड् (जुर्माना वसूल करना)—गर्गेभ्यः शतं दण्डयति (गर्गों से सौ रु० दण्ड प्राप्त करता है)। यहां अवधिभूत होने से 'गर्ग' अपादान हैं अतः इन में **अपादाने पञ्चमी** (६००) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। परन्तु जब वक्ता को गर्गों का अपादानत्व कहना अभीष्ट नहीं होता किन्तु कारकत्व मात्र अभीष्ट है तब प्रकृतसूत्र से उन की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—गर्गान् शतं दण्डयति। यहां दण्ड् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'शतम्' इस का प्रधानकर्म तथा 'गर्गान्' इस का अप्रधान कर्म होता है। 'गर्गों को सौ रु० दण्डित कर वसूल करता है' कुछ इस प्रकार से संस्कृतवाक्य का अभिप्राय हिन्दी में व्यक्त किया जा सकेगा।

रुध्—व्रजे[1] अवरुणद्धि गाम् (गाय को बाड़े=गोष्ठ में रोकता है)। यहां **आधारोऽधिकरणम्** (६०२) से 'व्रज' अधिकरण है अतः **सप्तम्यधिकरणे च** (६०३) सूत्र से उस में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। परन्तु वक्ता को जब 'व्रज' का अधिकरणत्व कहना अभीष्ट न हो कर कारकत्व मात्र कहना अभीष्ट होता है तब 'व्रज' की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—व्रजमवरुणद्धि गाम्। यहां रुध् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'गो' इस का मुख्य कर्म तथा 'व्रज' इस का अप्रधान या गौणकर्म होता है। हिन्दी वाग्धारा के अनुसार संस्कृतवाक्य का अभिप्राय व्यक्त

---

१. **व्रजः स्याद् गोकुलं गोष्ठम्** इति वैजयन्ती।

नहीं किया जा सकता ।

प्रच्छ् —माणवकात् पन्थानं पृच्छति (बच्चे से मार्ग पूछता है)। यहां 'माणवक' अपादान है अतः उस में पञ्चमी विभक्ति हुई है[1] । परन्तु जब वक्ता इसे अपादानरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र कहना चाहता है तब प्रकृतसूत्र से इस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है —माणवकं पन्थानं पृच्छति । यहा 'प्रच्छ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । कर्त्ता का ईप्सिततम होने से 'पथिन्' इस का मुख्य कर्म है तथा 'माणवक' इस का अप्रधान या गौणकर्म । हिन्दी में इस संस्कृतवाक्य का 'बच्चे को मार्ग पूछता है' इस प्रकार भाव व्यक्त किया जा सकता है ।

चि—वृक्षाद् अवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को चुनता या तोड़ता है) । यहां 'वृक्ष' अपादान है अतः इस से पञ्चमी हुई है । परन्तु जब वक्ता वृक्ष को अपादानरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र कहना चाहता है तब प्रकृतसूत्र से उस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—वृक्षमवचिनोति फलानि । यहां 'चिञ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । 'फल' इस का प्रधानकर्म तथा 'वृक्ष' अप्रधानकर्म है । हिन्दी मे संस्कृतवाक्य का भाव प्रकट नहीं किया जा सकता ।

ब्रू, शास्— माणवकाय धर्मं ब्रूते शास्ति वा (बच्चे के लिये धर्म को कहता या सिखाता है) यहां 'माणवक' सम्प्रदान है अतः उस में **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८६७)से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। परन्तु जब वक्ता 'माणवक' को सम्प्रदान के रूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र रूप में कहना चाहता है तो प्रकृतसूत्र से उस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । यहां 'ब्रू' और 'शास्' दोनों धातुएं द्विकर्मक हो जाती हैं । इन का प्रधान कर्म 'धर्म' तथा गौण कर्म 'माणवक' है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का अनुवाद होगा—बच्चे को धर्म कहता या सिखाता है ।

जि—शतं जयति देवदत्तात् (देवदत्त से सौ जीतता है) । यहां 'देवदत्त' अपादान है अतः उस में पञ्चमी विभक्ति हुई है। परन्तु जब वक्ता 'देवदत्त' को अपादानरूप में न कह कर कारकत्व मात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है -शतं जयति देवदत्तम् । यहां 'जि' धातु द्विकर्मक हो जाती है। इस का प्रधानकर्म 'शत' तथा गौणकर्म 'देवदत्त' है । हिन्दी मे संस्कृतवाक्य का टूटा-फूटा अनुवाद 'देवदत्त को सौ जीतता है' इस प्रकार होगा ।

मथ्—सुधां क्षीरनिधेर्मथ्नाति (क्षीरसागर से अमृत मथकर निकालता है) । यहां 'क्षीरनिधि' अवधिभूत होने से अपादान है अतः इस में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

---

१. 'माणवकात् मार्गोपदेशं जिघृक्षति' इस प्रकार अर्थ मानकर यहां 'माणवक' को अपादान माना जाता है । परन्तु कुछ लोग इसे अपादान न मानकर करण और सम्प्रदान भी मानते हैं । इस विषय का विवेचन आकरग्रन्थों मे देखना चाहिये। बालोपयोगी यहां इतना ही पर्याप्त है।

परन्तु जब वक्ता इसे अपादानरूप में न कह कर कारकत्वमात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । यहां 'मथ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । इस का प्रधान कर्म 'सुधा' तथा गौणकर्म 'क्षीरनिधि' है । हिन्दी में इस संस्कृतवाक्य का ठीक-ठीक भाव व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

मुष्—देवदत्तात् शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रु० छीनता है) । यहां 'देवदत्त' अपादान है अतः इस में पञ्चमी विभक्ति हुई है । परन्तु जब वक्ता इसे अपादान रूप में प्रस्तुत न कर कारकत्वमात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८६१) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—देवदत्तं शतं मुष्णाति । यहां 'मुष्' धातु द्विकर्मक है इस का प्रधानकर्म 'शत' तथा अप्रधानकर्म 'देवदत्त' है । हिन्दी में इस का टूटा-फूटा अनुवाद इस प्रकार किया जा सकेगा—देवदत्त को सौ लूटता है[1] ।

नी, हृ, कृष्, वह्—ग्रामेऽजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (गांव में बकरी को ले जाता या पहुंचाता है) । यहां 'ग्राम' अधिकरण है अतः इस में सप्तमी विभक्ति होती है । परन्तु जब वक्ता इसे अधिकरणरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व रूप मे कहना चाहता है तो इसकी प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—ग्राममजां हरति नयति कर्षति वहति वा । यहां नी, हृ, कृष् और वह् चारों धातुएं द्विकर्मक हो जाती हैं । इन का प्रधानकर्म 'अजा' तथा गौणकर्म 'ग्राम' है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का अनुवाद होगा—बकरी को गांव ले जाता या पहुंचाता है ।

अर्थनिबन्धना इयं सञ्ज्ञा । यह संज्ञा अर्थ को निमित्त मान कर होती है । तात्पर्य यह है कि इस सूत्रद्वारा प्रतिपादित कर्मसंज्ञा केवल दुह् आदि सोलह धातुओं के योग में ही नहीं होती बल्कि दुह् आदि के समानार्थक अन्य धातुओं के योग में भी हो जाती है । यथा दुह् आदियों मे 'याच्' धातु का उल्लेख आया है । परन्तु यह संज्ञा याच् धातु के समान अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी हो जाती है—बलिं भिक्षते वसुधाम् (बलि को पृथ्वी मांगता है) । यहां अपादान की अविवक्षा में 'बलि' की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां भिक्ष् धातु द्विकर्मक हो गई है । इस का प्रधानकर्म 'वसुधा' तथा अप्रधानकर्म 'बलि' है । इसी प्रकार—दुह् आदियों में 'ब्रू' का उल्लेख आया है परन्तु 'भाष्, वच्, अभि+धा' आदि तत्समानार्थक धातुओं के योग में भी प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है । यथा—माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्ति वा (बच्चे के लिये धर्म कहता है) । यहां भाष्, वच् और अभि+धा धातुएं द्विकर्मक हो गई हैं । इन का प्रधानकर्म 'धर्म' तथा गौणकर्म 'माणवक' है । इसी तरह—

---

१. 'मुष्' धातु का छीनना या लूटना अर्थ भी होता है । यथा—**मा न आयुः प्रमोषीः** (ऋ० १.२४.११; हमारी आयु न छीनिये); **हा प्रमुषिताः स्मः** (हाय हम लुट गये) । (व्या० च०)

(१) **स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ।** (रघु० ५.१७)
[तेरा कल्याण हो, जलरहित शरत्कालीन बादल से चातक भी (जल) नहीं मांगा करता] । यहां याच् की समानार्थक 'अर्द्' धातु के योग में अपादानत्वेन अविवक्षित 'शरद्घन' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । ध्यान रहे कि यहां प्रधान कर्म 'अम्बु' है जो अध्याहार-लभ्य है ।

(२) **तोयदादितरं नैव चातको वनुते जलम्** । (सुभाषित)
[चातक बादल से अतिरिक्त किसी अन्य से जल नहीं मागता] । यहां याच् की समानार्थक 'वन्' (वनुँ याचने, तना० आ०) धातु के योग में अपादान रूप से अविवक्षित 'तोयदादितर' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'जल' है ।

(३) **सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम्** । (नैषध० ३.२५)
अर्थात् ऐसे कौन लोग हैं जो सदा सन्तुष्ट रहने वाले पृथ्वीपति नल से अपनी इष्ट वस्तु की याचना न करते हों ? । यहां भी याच् की समानार्थक 'नाथ्' (नाथृँ याच्ञादिषु, भ्वा० प०) धातु के योग मे अपादानरूप से अविवक्षित 'लोकनाथ' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'इष्टानि' है ।

(४) **अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये** । (रामा० २.१२.१६)
[यदि तू भरत का प्रिय और अप्रिय मुझ से जानना चाहती हो] । यहां प्रच्छ् की समानार्थक 'जिज्ञास' धातु के योग मे अपादान रूप से अविवक्षित 'अस्मद्' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'प्रियाप्रिये' है ।

(५) **शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव** । (रघु० २.५१)
[ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो पर्वत भी राजा से वही बात प्रेम से कह रहा हो] । यहां ब्रू' की समानार्थक 'भाष्' धातु के योग मे सम्प्रदानरूप से अविवक्षित 'क्षितिपाल' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'अर्थ' है[1] ।

दुह् आदि धातुएं द्विकर्मक हैं, तिङ् के कर्मवाचक होने पर अर्थात् कर्म के वाच्य होने पर इन के किस कर्म मे लकार किया जाये ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का निर्णय महाभाष्य मे इस प्रकार किया गया है -

---

१. **अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा** तथा दुह् आदि के परिगणन पर विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन **न्यास-पर्यालोचन** नामक हमारे शोध-प्रबन्ध (२.५) में देखें । यह ग्रन्थ अभी हाल मे **भैमीप्रकाशन, ५३७ लाजपतरायमार्केट, दिल्ली** से प्रकाशित हुआ है ।

गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी-हृ-कृष्-वहाम् ।

अर्थात् दुह् आदि धातुओं के गौण कर्म में तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार हुआ करते हैं । जिस कर्म में लकार होगा वह कर्म उक्त हो जायेगा तब उस में प्रथमा विभक्ति आयेगी । दूसरा कर्म अनुक्त होने से यथापूर्व रहेगा । उदाहरण यथा —

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
	अप्रधाने कर्मणि—
(१) [सः] **गां** दोग्धि पयः ।	(१) [तेन] **गौर्दु**ह्यते पयः ।
(२) [सः] **बलिं** याचते वसुधाम् ।	(२) [तेन] **बलिर्याच्यते** वसुधाम् ।
(३) [सः] **तण्डुलानोदनं** पचति ।	(३) [तेन] **तण्डुला** ओदनं पच्यन्ते ।
(४) [राजा] **गर्गान्** शतं दण्डयति ।	(४) [राज्ञा] **गर्गाः** शतं दण्डयन्ते ।
(५) [गोपः] **व्रजमवरुणद्धि** गाम् ।	(५) [गोपेन] **व्रजो**ऽवरुध्यते गाम् ।
(६) [सः] **माणवकं** पन्थानं पृच्छति ।	(६) [तेन] **माणवकः** पन्थानं पृच्छ्यते ।
(७) [बटुः] **वृक्षमवचिनोति** फलानि ।	(७) [बटुना] **वृक्षो**ऽवचीयते फलानि ।
(८) [गुरुः] **माणवकं** धर्मं ब्रूते ।	(८) [गुरुणा] माणवको धर्ममुच्यते ।
(९) [गुरुः] **माणवकं** धर्मं शास्ति ।	(९) [गुरुणा] **माणवको** धर्मं शिष्यते ।
(१०) [सः] शतं जयति **देवदत्तम्** ।	(१०) [तेन] शतं जीयते **देवदत्तः** ।
(११) [सः] सुधां **क्षीरनिधिं** मथ्नाति ।	(११) [तेन] सुधां **क्षीरनिधिर्मथ्यते**[1] ।
(१२) [चौरः] **देवदत्तं** शतं मुष्णाति ।	(१२) [चौरेण] **देवदत्तः** शतं मुष्यते ।
	प्रधाने कर्मणि—
(१३) [सः] ग्राममजां नयति ।	(१३) [तेन] ग्रामम् **अजा** नीयते ।
(१४) [सः] ग्राममजां हरति ।	(१४) [तेन] ग्रामम् **अजा** ह्रियते ।
(१५) [सः] ग्राममजां कर्षति ।	(१५) [तेन] ग्रामम् **अजा** कृष्यते ।
(१६) [सः] ग्रामम् **अजां** वहति ।	(१६) [तेन] ग्रामम् **अजा** उह्यते ।

१. 'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति' — यहां पर महामहोपाध्याय गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, महामहोपाध्याय परमेश्वरानन्दशास्त्री, श्रीबालकृष्णशर्मपञ्चोली, श्रीधरानन्द शास्त्री आदि अनेक विद्वान् भ्रान्त हैं । वे 'सुधा' को अप्रधानकर्म तथा 'क्षीरनिधि' को प्रधानकर्म लिखते है । उन का कथन है कि 'सुधायै' इस प्रकार सम्प्रदान की अविवक्षा में यहां प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हुई है । परन्तु यदि ऐसा मानने लगें तो कर्मवाच्य में **गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नीहृकृष्वहाम्** के अनुसार गौणकर्म 'सुधा' में लकार प्रसक्त होगा जो सकल संस्कृतसाहित्य के विपरीत है कविलोग यहां 'सुधा' को गौणकर्म न मानकर 'क्षीरनिधि' को ही गौणकर्म मानते हुए उस में ही लकार का प्रयोग करते है । जैसाकि भारवि का प्रयोग है—**देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे** (किरात० ५.३०) । अत एव दीक्षित ने यहां प्रौढमनोरमा में स्पष्ट लिखा है—**अत्रामृतं मुख्यम् उद्देश्यत्वात् । अम्बुनिधिस्तु गौणः** ।

अब तृतीया विभक्ति का प्रकरण प्रारम्भ होता है। तृतीया विभक्ति मुख्यतया कर्त्ता और करण कारकों में ही होती है। अतः सर्वप्रथम कर्त्ता और करण संज्ञा बतलाने के लिये अग्रिम दो सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(८९३) स्वतन्त्रः कर्त्ता ।१।४।५४।।[1]

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ।।

अर्थः—क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्रतया = मुख्यतया विवक्षित (कहा जाने वाला) कारक कर्तृसंज्ञक हो।

व्याख्या—स्वतन्त्रः ।१।१। कर्त्ता ।१।१। पीछे अष्टाध्यायी में **कारके** का अधिकार चलाया जा चुका है। **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**—क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। इस प्रकार 'क्रियायाम्' पद उपलब्ध हो जाता है। **विवक्षातः कारकाणि भवन्ति**—कारक वक्ता की इच्छा के अधीन हुआ करते हैं, इस से 'विवक्षितोऽर्थः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(क्रियायाम्) क्रिया की सिद्धि मे (स्वतन्त्रः) स्वतन्त्ररूपेण (विवक्षितोऽर्थः) कहा जाने वाला कारक (कर्त्ता) कर्तृसंज्ञक होता है।

क्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) में जो जो साधक = जनक = निमित्त होते हैं उन को कारक कहते हैं। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि क्रिया के साधक होने से कारक कहाते हैं; परन्तु इन सब कारकों (क्रियानिष्पादकों) में जो कारक स्वतन्त्रतया-मुख्यतया-प्रधानतया-अगौणतया विवक्षित (वक्ता को अभीष्ट) होता है उस की प्रकृतसूत्र से कर्तृसंज्ञा की जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य कारक कर्त्ता से प्रेरित हो कर क्रिया का निष्पादन करते हैं वैसे कर्त्ता अन्य कारकों से प्रेरित हो कर क्रिया का निष्पादन नहीं करता अपितु स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है। कर्त्ता के स्वातन्त्र्य पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अत्यन्त सुन्दर कहा है—

> **प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।**
> **तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात् ।।** (३.७.१०१)
> **अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।**
> **आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्तुरिष्यते ।।** (३.७.१०२)

अर्थात् अन्य कारक तो कर्त्ता से युक्त हो कर क्रिया की सिद्धि मे करण आदि शक्ति को प्राप्त करते हैं परन्तु कर्त्ता पहले ही उन की अपेक्षा किये बिना स्वतन्त्ररूपेण क्रिया का जनक होता है। अन्य कारकों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति कर्त्ता के अधीन होती है परन्तु कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। अन्य कारकों का प्रतिनिधि हो सकता है किन्तु कर्त्ता का नहीं। अन्य कारकों के न होने पर कर्त्ता की प्रवृत्ति देखी जाती है (यथा—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः शेते आदि) परन्तु कर्त्ता के अभाव में करण आदि की नहीं। इन सब कारणों से कर्त्ता को 'स्वतन्त्र' कहा जाता है।

---

१. यह सूत्र ण्यन्त प्रक्रिया (६९८) में पहले भी आ चुका है परन्तु आवश्यक होने से इसे यहां पुनः निर्दिष्ट किया जा रहा है। हम ने भी अत एव इस की पुनः यहां व्याख्या प्रकाशित की है।

विवक्षातः कारकाणि भवन्ति अर्थात् कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं। अतः पचनक्रिया में जब देवदत्त की स्वतन्त्रता या प्रधानता विवक्षित होगी तो 'देवदत्तः पचति' में देवदत्त की, स्थाली की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तो 'स्थाली पचति' में स्थाली की कर्तृसंज्ञा हो जायेगी। इसी प्रकार काष्ठ आदियों की प्रधानता विवक्षित होने पर 'काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति' आदि में काष्ठ आदियों की कर्तृसंज्ञा हो जाती है।

अन्य वैयाकरण क्रिया में स्वतन्त्रता का अभिप्राय धातु के अर्थ फलानुकूल व्यापार का आश्रय होना मानते हैं। धात्वर्थ व्यापार अनेक व्यापारों का समूह होता है। वक्ता को जिस व्यापार की प्रधानता कहनी अभीष्ट होती है उस व्यापार के आश्रय की कर्तृसंज्ञा हो जाती है। जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है—**धातूपात्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते**। देवदत्तः पचति, स्थाली पचति, काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति—आदि मे तत्तद्व्यापार के भेद से ही कर्तृसंज्ञा का भेद हुआ है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् **(८९४) साधकतमं करणम्।१।४।४२॥**

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्॥

अर्थः—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक कारक करणसंज्ञक हो।

व्याख्या— साधकतमम्।१।१। करणम्।१।१। कारकम्।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। साध्नोतीति साधकम्, कर्त्तरि ण्वुल्[1]। **कारके** अधिकार के कारण 'क्रियासिद्धि' का अध्याहार किया जाता है। अतिशयेन साधकम्—साधकतमम्, **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१४) इति तमप्। इस प्रकार 'साधकतमम्' का अर्थ हुआ—क्रिया की सिद्धि मे अत्यन्त उपकारक। अर्थः—(साधकतमम्) क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक हो ऐसा (कारकम्) कारक (करणम्) करणसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो सभी कारक क्रिया की सिद्धि में अपनी अपनी जगह उपकारक होते हैं परन्तु जो कारक सब से अधिक उपकारक हो उस को करणसंज्ञा होती है। परन्तु कैसे पता चले कि यह कारक क्रिया की सिद्धि में सब से अधिक उपकारक है? इस की पहचान क्या है? इस का उत्तर यह है कि जिस कारक के व्यापार के तुरन्त बाद क्रिया की सिद्धि हो जाती है उसे प्रकृष्ट या सब से अधिक उपकारक मानना चाहिये। यथा—रामेण बाणेन हतो बाली (राम से बाण द्वारा बाली मारा गया)। यहां बाण के व्यापार बाली के शरीर में प्रवेश के तत्काल बाद हननक्रिया का फल सिद्ध हो जाता है अतः यहां हननक्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) में अत्यन्त उपकारक होने से 'बाण' करण है। असिना छिनत्ति (तलवार से काटता है)। यहां तलवार के व्यापार के तुरन्त बाद छेदनक्रिया का फल (कट जाना, टुकड़े

---

१. अनेकैर्व्याख्यातृभिरत्र 'साध्नोत्यनेनेति साधकम्, बाहुलकात्करणे ण्वुल्' इत्येवं व्याख्यातम्। परं नास्ति कापि आवश्यकतेदृशे कल्पने। करणे प्रत्ययकल्पना तु प्रकृष्टोपकारकमिति व्याख्यानेनापि विरुध्यते।

टुकड़े हो जाना) सिद्ध हो जाता है अतः छेदनक्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक होने से 'असि' **करण** है। जैसाकि कहा गया है—

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ (वाक्यपदीय ३.७.९०)

अर्थात् जिस के व्यापार के अनन्तर क्रिया की फलसिद्धि जब जहां विवक्षित होती है तब वहां उसे करण माना जाता है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि करणसंज्ञा भी विवक्षाधीन होती है। जब वक्ता किसी को करणरूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो वह करण बन जाता है। यथा लोक में पचनक्रिया की सिद्धि में स्थाली आधार होने से अधिकरण मानी जाती है परन्तु जब वक्ता उसे प्रकृष्टोपकारक के रूप में कहना चाहता है तो वह करण बन जाती है—स्थाल्या पचति। अत एव भर्तृहरि कहते हैं—

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ॥ (वाक्यपदीय ३.७.९१)

अर्थात् जैसे घटत्व आदि प्रतिघट मे निश्चितरूप से रहते है वैसे करणत्व किसी एक वस्तु मे व्यवस्थितरूप से नहीं रहता। यह वक्ता की विवक्षा के अधीन होता है वह जिसे चाहता है करणरूप मे कह देता है। यथा– स्थाल्या पच्यते। यहा आधार को भी करण माना गया है। इसी प्रकार—चक्षुः पश्यति, चक्षुषा पश्यति; दात्रं लुनाति, दात्रेण लुनाति; अग्निः पचति, अग्निना पचति; काष्ठानि पचन्ति, काष्ठैः पचति आदि के विषय में जानना चाहिये।

अब अनुक्त कर्ता और करण में तृतीयाविभक्ति के विधान के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८९५) कर्तृकरणयोस्तृतीया ।२।३।१८॥

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

अर्थः—अनभिहित (अनुक्त) कर्त्ता और करण मे तृतीया विभक्ति हो।

व्याख्या—कर्तृ-करणयोः ।७।२। तृतीया ।१।१। अनभिहितयोः ।७।२। (**अनभिहिते** इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है)। कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणे, तयोः=कर्तृकरणयोः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(अनभिहितयोः) अनुक्त (कर्तृ-करणयोः) कर्त्ता और करण मे (तृतीया) तृतीया विभक्ति हो जाती है। उदाहरण यथा—

रामेण बाणेन हतो बाली (राम से बाणद्वारा बाली मारा गया)। यहां हननक्रिया में स्वतन्त्रतया विवक्षित होने से **स्वतन्त्रः कर्ता** (८९३) द्वारा 'राम' कर्त्ता है। इसी प्रकार हननक्रिया में प्रकृष्टोपकारक होने से **साधकतमं करणम्** (८९४) से 'बाण' करण है। कर्त्ता और करण यहां दोनों अनभिहित या अनुक्त है अर्थात् किसी

से कहे नहीं गये। तथाहि—'हतः' में क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार कर्म में आया है अतः कर्म (बाली) उक्त है कर्त्ता और करण दोनों अनुक्त। इन अनुक्तों में प्रकृत **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र से तृतीया विभक्ति हो जाती है—**रामेण** बाणेन हतो बाली।

जब कर्त्ता और करण उक्त होंगे तो उन में तृतीया न हो कर प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा विभक्ति ही आयेगी। यथा—रामो रावणं हन्ति; **जघान कंसं किल वासुदेवः; वितरति नृपो नोचितमहो; सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः, वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम्; न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्** इत्यादियों में उक्त कर्त्ता में प्रथमा हुई है। स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्, खनत्यनेनेति खनित्रम्, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः—इत्यादियों में करण कृत्प्रत्यय द्वारा उक्त है अतः उस में प्रथमा हुई है। इसी प्रकार ऊढो रथो येन सः =ऊढरथोऽनड्वान्—यहां बहुव्रीहिसमासद्वारा करण के उक्त होने से प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हो जाती है।

अनभिहित कर्त्ता में तृतीया के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **यथाऽऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।**
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ (पञ्च० २.१२२)

(२) **सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितैर्निजेऽपि देहे न नियोजितैः क्वचित्।**
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरैरेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते॥
(पञ्च० २.१२१)

(३) **बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।** (हितोप० १.५२)

(४) **उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते।** (हितोप० २.४९)

(५) **विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ।** (हितोप० १.२१)

(६) **नियतिः केन लङ्घ्यते।** (व्या० च०)

(७) **मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।** (गीता ११.३३)

(८) **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।** (मनु० ७.५५)

अनभिहित करण में तृतीया के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा।** (हितोप० ४.८७)

(२) **न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।** (कठोप० ६.९)

(३) **यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।**
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ (मनु० २.२१८)

(४) **येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।**
तमश्चाऽज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः॥ (पाणिनीयशिक्षा ५८)

(५) **शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।**
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं प्रज्ञा कुलं च विभवं च यशश्च हन्ति॥
(पञ्च० ३.२४१)

(६) **वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्।** (पञ्च० १.२३)

(७) **शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ।**

(रघु० २.४०)

(८) **अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।**
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ (मनु० ५.१०६)

(६) **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ।** (कठो० २.२३)

अब चतुर्थी विभक्ति के अवतरणार्थ सम्प्रदानसंज्ञा का विधान करते हैं —

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् —(८९६) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।१।४।३२॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—दानक्रिया के कर्म के साथ कर्त्ता जिसे सम्बद्ध या युक्त करना चाहता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो ।

व्याख्या—कर्मणा ।३।१। (करणे तृतीयाऽत्र बोध्या) । यम् ।२।१। अभिप्रैति —इतिक्रियापदम् (अभि+प्र+इण् गतौ, लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तम्) । सः ।१।१। सम्प्रदानम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । कर्मणा=कर्म के द्वारा, किस क्रिया के कर्म के द्वारा ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का समाधान यह है कि यहां आचार्य ने घु, टि आदि के समान कोई छोटी संज्ञा न कर 'सम्प्रदान' यह जो बडी संज्ञा की है इस से वे इस संज्ञा को अन्वर्थ=सार्थक सिद्ध करना चाहते हैं—सम् सम्यक् दीयते प्रकर्षेण अस्मै इति सम्प्रदानम्, अर्थात् जिसे कुछ दिया जाये और वापस न लिया जाये वह सम्प्रदान होता है । उपसर्गद्वय के योग से इस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार यहां 'दानक्रिया के कर्म के द्वारा' ऐसा उपलब्ध हो जाता है । 'अभिप्रैति' में लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतः 'कर्त्ता' पद भी यहां उपस्थित हो जाता है । अर्थः— (कर्त्ता) कर्त्ता (कर्मणा) दानक्रिया के कर्म के साथ (यम्) जिस की (अभिप्रैति) ओर विशेष रूप से जाता है अर्थात् जिसे दान का उद्देश्य बनाना चाहता है (सः) वह कारक (सम्प्रदानम्) सम्प्रदानसंज्ञक होता है । तात्पर्य यह है कि देने वाला वापस न लेने की दृष्टि से जिसे कुछ देना चाहता है वह यहां 'सम्प्रदान' कहाता है । यथा— विप्राय गां ददाति (वह ब्राह्मण को गौ देता है) । यहां कर्त्ता दानक्रिया के कर्म (गो) से विप्र को सम्बद्ध करना चाहता है अतः 'विप्र' यहां सम्प्रदान है । सम्प्रदानसंज्ञा हो जाने से अग्रिमसूत्र **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८६७) से इस में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । दान (देना) अर्थ वाली अन्य धातुओं के विषय में भी यही समझना चाहिये । यथा—वितरति पारितोषिकं छात्राय (छात्र को इनाम देता है); **अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्** (ऋ० १०.४८.१; मैं हविर्दाता को भोजन देता हूं); गुरुर्योग्याय शिष्याय विद्या प्रतिपादयति (गुरु योग्य शिष्य को विद्या देता है) आदि ।

धोबी या कपड़ा रंगने वाले को कपड़े धोने या रगने के लिये दिये जाते है

और उन्हें देने वाला वापस लेता है अतः धोबी या रजक सम्प्रदान नहीं होता क्योंकि सम्प्रदान तो तब होता है जब दी हुई वस्तु वापस न ली जाये या प्रदत्त वस्तु पर अपना स्वत्व हटा कर दूसरे (लेने वाला) का स्वत्व स्वीकार किया जाये। सम्प्रदानाभाव में रजक में चतुर्थी न होकर सम्बन्धविवक्षा में **षष्ठी शेषे** (९०१) से षष्ठी हो जाती है —**रजकस्य वस्त्राणि ददाति**[1]।

अब सम्प्रदान में चतुर्थी का विधान करते हैं-

[लघु०] विधि-सूत्रम्- (८९७) चतुर्थी सम्प्रदाने।२।३।१३।।

विप्राय गां ददाति ।।

अर्थः-- अनभिहित (अनुक्त) सम्प्रदान मे चतुर्थी विभक्ति हो।

व्याख्या—चतुर्थी।१।१। सम्प्रदाने।७।१। अनभिहिते।७।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(अनभिहिते) अनुक्त (सम्प्रदाने) सम्प्रदाने में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। उदाहरण यथा -विप्राय गां ददाति (ब्राह्मण को गौ देता है)। यहां दानक्रिया का कर्म 'गो' है। इस कर्म के द्वारा कर्त्ता 'विप्र' को उद्देश्यत्वेन सम्बद्ध करना चाहता है अतः 'विप्र' की **कर्मणा यमभिप्रैति०** (८९६) से सम्प्रदानसंज्ञा होकर प्रकृतसूत्र से उस में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है[2]। ध्यान रहे कि यहां 'ददाति' में लँट् कर्त्ता अर्थ में लाया गया है अतः कर्त्ता उक्त है और सम्प्रदान (विप्र) अनुक्त।

---

१. यह मत वृत्तिकारों का है जो 'सम्प्रदान' को अन्वर्थ मानकर इस प्रकार का व्याख्यान करते हैं। भाष्यकार इस से सहमत प्रतीत नहीं होते। अत एव भाष्यकार का प्रयोग है- खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति (महाभाष्य १.१.१; बालाध्यापक शिष्य को थप्पड़ मारता है)। यहां देने की कोई बात ही नहीं है। अतः भाष्यानुसार 'रजकाय वस्त्रं ददाति' प्रयोग भी बन सकता है। 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में शेष की विवक्षा मे **षष्ठी शेषे** (९०१) से षष्ठी विभक्ति हुई है। किसी भी धातु के कर्ममात्र से अभिप्रेयमाण की सम्प्रदानसंज्ञा होने से -गुरवे पत्रं लिखति, देवदत्ताय कूपाज्जलमानयति आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। 'ग्राममजां नयति' इत्यादियों मे 'ग्राम' की सम्प्रदानसंज्ञा इसलिये नहीं होती कि सूत्र में 'यम् अभिप्रैति' कहा है। यहां वक्ता का अभिप्राय यह नहीं कि वह ग्राम को अजा के साथ सम्बद्ध कहना चाहता है। दूसरे शब्दों में यहां 'ग्राम' का शेषित्व उद्देश्यत्व प्रतीत कराना अभीष्ट न होने से सम्प्रदानसंज्ञा नही होती। इस विषय का विस्तार प्रौढमनोरमा आदि मे देखना चाहिये।

२. दानार्थक धातुओं के प्रयोग मे कहीं कहीं सम्प्रदान के बजाय अधिकरण की विवक्षा में सप्तमी का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—**वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे** (उत्तर० २.४); **दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** (हितोप० १.१५); **अर्थिजने च किमिव नाऽतिसृजन्ति महान्तः** (महापुरुष याचकों को क्या नहीं दे देते)। (देखें व्या० च० कारक प्रकरण)

सम्प्रदान यदि उक्त होगा तो उसमें चतुर्थी न हो कर **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** (८८८) से प्रथमा विभक्ति ही होगी। यथा—दीयतेऽस्मै इति दानीयो विप्रः। यहां **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण 'दा' धातु से सम्प्रदान कारक में अनीयर् प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार कृत् (अनीयर्) द्वारा उक्त होने से सम्प्रदान में चतुर्थी नहीं होती। इसी तरह उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः। दत्तं भोजनं यस्मै स दत्तभोजनः सेवकः। इन में समासद्वारा सम्प्रदान के उक्त होने से चतुर्थी नहीं होती।

क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्। यह वार्त्तिक है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्त्ता कर्म के साथ नहीं अपितु क्रिया के साथ किसी को उद्देश्यत्वेन सम्बद्ध करना चाहता है तो उस की भी सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति आ जाती है। यथा—युद्धाय सन्नह्यते (युद्ध के लिये तैयार हो रहा है)—यहां सन्नहनक्रिया के साथ उद्देश्यत्वेन युद्ध को सम्बद्ध किया गया है अतः यहां 'युद्ध' सम्प्रदान है। श्राद्धाय निगर्हते (श्राद्ध की निन्दा करता है)—यहां निगर्हणक्रिया के साथ उद्देश्यत्वेन श्राद्ध को सम्बद्ध किया गया है अतः 'श्राद्ध' यहां सम्प्रदान है। पत्ये शेते (पति के लिये शयन करती है)—यहां शयनक्रिया के साथ उद्देश्य 'पति' को सम्बद्ध किया गया है अतः वह सम्प्रदान है। इसी प्रकार—**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे** (गीता २.७)। व्या० च० में सुझाया गया महाभारत का यह उदाहरण निश्चय ही इस विषय में अतीव सुन्दर है—

धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते।
शयानं सलिले सर्वं कथयामो धनुर्भृते॥ (महा० ९.३१.३३)

गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत (गौतम धर्म० १.९.२४)। **यजमानाय पुराणमाचष्टे पौराणिकः** इत्यादि भी व्या० च० में इस विषय के अच्छे उदाहरण हैं।

अब 'नमः' आदि के योग में उपपदविभक्ति[1] चतुर्थी का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८९८) नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्-योगाच्च॥ ।२।३।१६॥

एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा॥

---

१. किसी पद के समीप रहने से जो विभक्ति विधान की जाती है उसे उपपदविभक्ति कहते हैं। यथा—'सह' के योग में तृतीया, 'नमः' के योग में चतुर्थी, 'ऋते' के योग में पञ्चमी—इत्यादि उपपद विभक्ति है। यह कारकविभक्ति से नितान्त भिन्न होती है। उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति दोनों के प्राप्त होने पर कारक विभक्ति को ही अन्तरङ्ग होने से बलवान् माना जाता है। जैसा कि कहा गया है—**उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी**। इस का उदाहरण अगले सूत्र की टिप्पणी में देखें।

अर्थः—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट् —इनके साथ योग में चतुर्थी विभक्ति हो।

व्याख्या—नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । चतुर्थी ।१।१। (**चतुर्थी सम्प्रदाने** से) । नमश्च स्वस्ति च स्वाहा च स्वधा च अलं च वषट् च = नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्, तेषां योगः = नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगः, तस्मात् = नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात् । सप्तम्यर्थे पञ्चमी। युज्यत इति योगः, कर्मणि घञ् । अर्थः—(नमः—वषड्योगात्) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्—इन से युक्त शब्द में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। नमः आदि सब अव्यय हैं। 'स्वस्ति' को अव्यय और अनव्यय[1] दोनों प्रकार का माना जाता है। इनके क्रमशः उदाहरण यथा—

नमः—हरये नमः (हरि के लिये नमस्कार)। यहां 'हरि' शब्द 'नमः' से युक्त या सम्बद्ध है क्योंकि हरि को ही नमस्कार किया गया है। अतः प्रकृतसूत्र से 'हरि' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।[2]

स्वस्ति—प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)। यहां 'प्रजा' शब्द 'स्वस्ति' से युक्त या सम्बद्ध है क्योंकि प्रजाओं का ही कल्याण कहा जा रहा है अतः प्रकृतसूत्र से 'प्रजा' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।[3]

स्वाहा—अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये हविर्दान)। यहां 'अग्नि' शब्द 'स्वाहा' से युक्त या सम्बद्ध है अतः उसमें प्रकृतसूत्र से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

स्वधा—पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये भोजन)। यहां 'पितृ' शब्द 'स्वधा' से युक्त या सम्बद्ध है अतः उस में चतुर्थी हो जाती है।

अलम्—इस के स्पष्टीकरण के लिये अग्रिम वार्त्तिक देखें।

वषट्—इन्द्राय वषट् (इन्द्रदेव के लिये हविर्दान)। यहां 'इन्द्र' शब्द 'वषट्' युक्त है अतः उस में चतुर्थी हो जाती है।

अब 'अलम्' को स्पष्ट करने के लिये वार्तिक का अवतरण करते हैं—

---

१. अनव्यय यथा—**स्वस्तिर्भवतु ते नित्यं सुखं चानुत्तमं तथा** (भविष्योत्तरे)।

२. 'नमः' के योग में तो चतुर्थी होती है पर नमस्कृ (नमस्कार करना), नमस्य (क्यजन्त) आदि के प्रयोग में नहीं। यथा—नमस्करोति देवान्, मुनित्रयं नमस्कृत्य; नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः (भर्तृ० नीति० ९१)। यहां पर उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी इस परिभाषा के अनुसार कर्म में होने वाली कारकविभक्ति (द्वितीया) उपपदविभक्ति का बाध कर लेती है।

३. सूत्र में 'च' का ग्रहण बाधकबाधनार्थ माना जाता है। अतः 'स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात्' 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' 'स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यो भूयात्' इत्यादि आशीर्वाद के स्थलों में **चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः** (२.३.७३) से प्राप्त षष्ठी का बाध हो कर प्रकृतसूत्र से चतुर्थी हो जाती है। विस्तार के लिये काशिका या सि० कौ० देखें।

[लघु०] वा०—(५२) अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् ॥

तेन दैत्येभ्यो हरिरलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ॥

अर्थः—पूर्वसूत्र (८९८) में 'अलम् शब्द से 'समर्थ' अर्थ वाले शब्दों का ग्रहण अभीष्ट है।

व्याख्या—अलम् ।१।१। इति इत्यव्ययपदम् । पर्याप्त्यर्थग्रहणम् ।१।१। पर्याप्तिः (सामर्थ्यम्) अर्थो येषां ते पर्याप्त्यर्थास्तेषां ग्रहणम् = पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । बहुव्रीहिगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः । 'अलम्' शब्द के निषेध, सजाना आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु वार्त्तिककार का कहना है कि **नमःस्वस्ति०** (८९८) सूत्र में आये 'अलम्' शब्द से पर्याप्त्यर्थक = समर्थ अर्थ वाले अलम् शब्द का तथा उसके अन्य पर्यायों का भी ग्रहण करना चाहिये। इस तरह इस वार्त्तिक से दो कार्य सिद्ध हो जाते हैं—

(१) समर्थ अर्थ वाले 'अलम्' शब्द का ही यहां ग्रहण होता है और उस के योग में ही चतुर्थी विभक्ति होती है।

(२) समर्थ अर्थ वाले प्रभुः, शक्तः, समर्थः आदि अन्य शब्दों या धातुओं के योग में भी चतुर्थी सिद्ध होती है[1]।

उदाहरण यथा—दैत्येभ्यो हरिरलम् (दैत्यों के प्रति हरि समर्थ या प्रबल है)। यहां 'दैत्य' शब्द पर्याप्त्यर्थक 'अलम्' शब्द से युक्त या सम्बद्ध है अतः प्रकृत-वार्त्तिक के आलोक में **नमःस्वस्ति०** (८९८) सूत्र से दैत्य शब्द में चतुर्थी हो जाती है। इसी प्रकार—'दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः', 'दैत्येभ्यो हरिः समर्थः', 'दैत्येभ्यो हरिः शक्तः' आदियों में जान लेना चाहिये। इसके कुछ विशेष उदाहरण यथा—

(क) **नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।** (भर्तृ० नीति० ९१)

(ख) **तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।**
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ (रघु० २.३९)

(ग) **अलम्मल्लो मल्लाय** (काशिका)। यह पहलवान उस पहलवान के लिये समर्थ है।

(घ) **विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः ।** (कुमार० ६.९२)
(सज्जनों के द्वारा जोड़े गये सम्बन्ध विकार को प्राप्त नहीं होते)

(ङ) **पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय ।** (महाभाष्य १.४.२३)
(एक कण भी समग्र स्थालीगत तण्डुलादियों की अवस्था बतलाने मे समर्थ होता है)।

अब अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति का विधान करने के लिये अपादान संज्ञा का निरूपण करते हैं—

---

१. भट्टोजिदीक्षित का कहना है कि **तस्मै प्रभवति०** (५.१.१०१), **स एषां ग्रामणीः** (५.२.७८) इन निर्देशों से प्रभु आदि शब्दों के योग में ('अलम्' के नहीं) कहीं कहीं षष्ठी विभक्ति भी प्रयुक्त होती है; यथा—**प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य** (माघ० १.४९)। व्या० च० में इस का विशेष विवेचन देखा जा सकता है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् – (८९९) **ध्रुवमपायेऽपादानम्** ।१।४।२४।।

अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये यद् ध्रुवम् अवधिभूतं कारकं तद पादानं स्यात् ।।

अर्थः—विश्लेष—वियोग=जुदाई या अलग होने को अपाय कहते हैं। अपाय में जो अवधि बना हो वह कारक अपादानसंज्ञक होता है।

व्याख्या—ध्रुवम् ।१।१। अपाये ।७।१। अपादानम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अपाये) जुदा होने में (ध्रुवम्) अवधि बना हुआ (कारकम्) कारक (अपादानम्) अपादान-संज्ञक होता है।

जब किसी का किसी से विश्लेष होता है तो हम उस विश्लेष को किसी अवधि के द्वारा ही प्रकट करते हैं। यथा अश्वात् पतति (घोड़े से गिरता है)—यहां घुड़-सवार और घोड़े का विश्लेष कहा जा रहा है। इस विश्लेष में घोड़ा अवधि बना हुआ है क्योंकि वक्ता घोड़े से अलग होना कहना चाहता है। किञ्च पतनक्रिया का जनक होने से यह कारक भी है अतः 'अश्व' अपादान है। अपादान होने से इस में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार वृक्षात् पर्णं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है)—यहां वृक्ष और पर्ण के वियोग में 'वृक्ष' अपादान है। धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है)—यहां वियोग में दौड़ता हुआ घोड़ा अवधि है अतः वह अपादान है।

'ध्रुव' शब्द लोक में यद्यपि 'स्थिर' अर्थ में प्रचलित है तथापि यहां उस का अवधिभूत अर्थ किया गया है। इस का कारण यह है कि स्थिर अर्थ करने से 'धावतोऽश्वात् पतति' में अश्व की अपादानसंज्ञा न हो सकती थी क्योंकि वह स्थिर नहीं है दौड़ रहा है। अब अवधिभूत अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता क्योंकि चाहे वह दौड़ रहा है पर गिरने में अवधि तो है ही[1]।

---

१. इस विषय में भर्तृहरि की निम्नस्थ कारिकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं—

> **अपाये यद् उदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।**
> **ध्रुवमेवाऽतदावेशात् तदपादानमुच्यते ।।१।।**
> **पततो ध्रुव एवासौ यस्माद् अश्वात् पतत्यसौ ।**
> **तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ।।२।।**
> **मेषान्तरक्रियापेक्षम् अवधित्वं पृथक् पृथक् ।**
> **मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक् ।।३।।**

अपाय-जुदा होने में जो उदासीन अर्थात् अपायजनक व्यापार का आश्रय नहीं वह चल हो या अचल 'ध्रुव' ही होता है। क्योंकि वियोगजनक व्यापार का वह आश्रय नहीं अतः 'अपादान' कहाता है। कुड्यात् पततोऽश्वात् पतति देवदत्तः (भित्ति से गिरते हुए घोड़े से देवदत्त गिरता है)—यहां गिरते हुए घोड़े से गिरने में 'गिरता हुआ घोड़ा' भी 'ध्रुव' ही माना जाता है। क्योंकि देवदत्त के गिरने में

अब अपादान में पञ्चमी विभक्ति के विधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् **(९००) अपादाने पञ्चमी ।२।३।२८।।**

ग्रामाद् आयाति । धावतोऽश्वात् पततीत्यादि ।।

अर्थः—अनभिहित (अनुक्त) अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो ।

व्याख्या—अपादाने ।७।१। पञ्चमी ।१।१। अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(अनभिहिते) जो कृत् या समास आदि के द्वारा उक्त नहीं ऐसे (अपादाने) अपादान में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है । उदाहरण यथा—

ग्रामाद् आयाति (गांव से आता है) । यहां ग्राम और मनुष्य के विश्लेष में 'ग्राम' अवधिभूत होने से ध्रुवमपायेऽपादानम् (८९९) से अपादानसंज्ञक है । यह कृत् या समास आदि से उक्त भी नहीं अतः प्रकृतसूत्र से इस में पञ्चमी विभक्ति आ जाती है ।

धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) । यहां गिरने के व्यापार में दौड़ता हुआ घोड़ा अवधि है अतः इस की पूर्ववत् अपादानसंज्ञा हो कर प्रकृतसूत्र से पञ्चमी हो जाती है ।

अनभिहित अपादान में ही पञ्चमी विभक्ति होती है अभिहित में नहीं । यथा—बिभेत्यस्मादिति भीमः । यहां भीमादयोऽपादाने (३.४.७४) से 'भी' धातु से अपादान में मक् यह उणादि कृत्प्रत्यय किया गया है । अतः अपादान के उक्त हो जाने से प्रकृत सूत्र से पञ्चमी नहीं होती प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही हो जाती है । इसी प्रकार—उद्धृतौदना स्थाली (उद्धृत ओदनो यस्या असौ-उद्धृतौदना स्थाली, बहुव्रीहि-समासः)—यहां समासद्वारा अपादान के उक्त हो जाने से पञ्चमी नहीं होती पूर्ववत् प्रथमा हो जाती है ।

अपादानपञ्चमी के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः । (भर्तृ० नीति० ७४)

(२) गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् । (गीता० १.३०)

(३) स्वैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि । (स्वप्न० १.६)

(४) अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत् पत्नीं रथात् अवततार च ।। (रघु० १.५४)

वियोगजनक व्यापार का वह आश्रय नहीं अतः वह अपादान है । जब घोड़ा भी गिर रहा है तो उस के गिरने में वियोगजनकव्यापार का अनाश्रय कुडच आदि अपादान हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस अपाय का वर्णन हो रहा है उस अपाय का व्यापार जिस में न रहे वही ध्रुव या अवधिभूत समझना चाहिये उसी की शास्त्र में अपादानसंज्ञा की जाती है ।

परस्परस्माद् मेषौ अपसरतः (मेढ़े एक दूसरे से हट रहे हैं) - यहां अन्य मेष की क्रिया को ले कर दोनों का पृथक् पृथक् अवधित्व होता है और अपनी अपनी क्रिया को ले कर दोनों का कर्तृत्व भी पृथक् पृथक् सिद्ध हो जाता है ।

(५) शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ (भर्तृ० नीति० ६)

(६) पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।
दैवमचिन्त्यं बलवद् बलवान्ननु पुरुषकारोऽपि ॥ (पञ्च० ५.२६)

प्रश्नः ग्रामाद् याति, अश्वात् पतति --इत्यादियों में तो अपाय-विश्लेष के पाये जाने से अवधिभूत ग्राम आदियों की अपादानसंज्ञा युक्त प्रतीत होती है परन्तु 'ग्रामान्नायाति' (गांव से नहीं आता) 'अश्वान्न पतति' (घोड़े से नहीं गिरता) इत्यादियों में विश्लेष तो कोई हुआ नहीं पुनः अपादानसंज्ञा कैसे हो जाती है ?

उत्तर -क्रिया का प्रथम कारकों के साथ सम्बन्ध हो कर बाद में नञ् के साथ सम्बन्ध होता है। अतः नञ् द्वारा प्रतिपाद्य निषेध से पूर्व ही अपादान आदि संज्ञा हो जाने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। इसी प्रकार 'बाणेन न हन्ति, विप्राय गां न ददाति, फलानि नो भुङ्क्ते' - आदि अन्य कारकों के विषय में भी जानना चाहिये।

अब षष्ठीविभक्ति का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र का अवतरण करते हैं --

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(६०१) षष्ठी शेषे ।२।३।५०॥**

कारक-प्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः ॥

अर्थः---कारक और प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त स्व-स्वामिभाव आदि सम्बन्ध शेष है। उस शेष की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

व्याख्या—षष्ठी ।१।१। शेषे ।७।१। अर्थः---(शेषे) शेष में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। उक्तादन्यः शेषः। कहने से बचे हुए को शेष कहते हैं। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों में तथा प्रातिपदिकार्थ में विभक्तियों का विधान कर चुके हैं। अब इन से अतिरिक्त जो बच गया उसे यहां शेष कहा जा रहा है। वह क्या बच गया जिस में पहले विभक्ति विधान नहीं की गई ? इस जिज्ञासा में यही उत्तर प्राप्त होता है कि 'सम्बन्ध' बच गया है जिस का वर्णन पहले नही हुआ। अतः प्रकृतसूत्र से सम्बन्ध को कहने में षष्ठी का विधान किया जा रहा है।

यह सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। यथा —स्वस्वामिभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक स्वामी तथा दूसरा स्व (धन, सम्पत्ति आदि तदधिकृत वस्तु) होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)। यहां राजा स्वामी तथा पुरुष स्व=उस की सम्पत्ति है। अवयवावयविभावसम्बन्ध---इस सम्बन्ध में एक अङ्गी तथा दूसरा उस का अङ्ग होता है। जैसे तरोः शाखा (वृक्ष की शाखा)। यहां वृक्ष अङ्गी तथा शाखा उस का अङ्ग है। जन्यजनकभावसम्बन्ध --इस सम्बन्ध में एक जनक अर्थात् पैदा करने वाला तथा दूसरा जन्य अर्थात् पैदा होने वाला होता है। जैसे -पितुः पुत्रः

(बाप का बेटा) । यहां पिता पैदा करने वाला तथा पुत्र पैदा होने वाला है । प्रकृति-विकृतिभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक वस्तु प्रकृति (मूल वस्तु) तथा दूसरी विकृति (मूल से उत्पन्न विकार) होता है। जैसे—हिरण्यस्य कङ्कणम् (सोने का कंगन) । यहां सुवर्ण प्रकृति तथा कङ्कण उस की विकृति है । इसी प्रकार अन्य भी अनेक सम्बन्ध हो सकते हैं ।

सम्बन्ध स्वयं में एक होता हुआ भी सदा द्विष्ठ अर्थात् दो में स्थित रहता है। यथा—स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध 'स्वामी' और 'स्व' दो में रहता है। अवयवावयविभाव-सम्बन्ध 'अवयव' और 'अवयवी' दो में रहता है । जन्य-जनकभाव-सम्बन्ध 'पैदा करने वाले' और 'पैदा होने वाले' के बीच रहता है । प्रकृति-विकृतिभाव-सम्बन्ध 'प्रकृति' और 'विकृति' दो के बीच रहता है ।

सम्बन्ध बतलाने के लिये प्रकृतसूत्र से षष्ठी की जाती है। यथा राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) । यहां राजन् शब्द से षष्ठी विभक्ति की गई है। यह षष्ठी स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध में आई है अतः अर्थ हुआ कि राजा स्वामी है और पुरुष उस का स्व = सम्पत्ति-नौकर-चाकर आदि । इसी प्रकार— जनकस्य पुत्रः, हिरण्यस्य कुण्डलम् आदि में जानना चाहिये ।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सम्बन्ध तो दोनों में रहा करता है पुनः षष्ठी विभक्ति केवल राजन् से ही क्यों की जाती है ? पुरुष से क्यों नहीं होती ? अथवा दोनों से ही क्यों नहीं की जाती ? इस का उत्तर यह है कि सम्बन्ध प्रकट करने के लिये सदा प्रतियोगी से ही काम लिया जाता हैं अनुयोगी से नहीं अतः प्रतियोगी में ही षष्ठी होती है अनुयोगी में नही । जिस का सम्बन्ध बताया जाता है वह सम्बन्ध का प्रतियोगी और जिस में सम्बन्ध बताया जाता है वह सम्बन्ध का अनुयोगी होता है । यथा राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—यहा राजा का सम्बन्ध बतलाया गया है अतः वह सम्बन्ध का प्रतियोगी तथा पुरुष में सम्बन्ध बतलाया जा रहा है वह सम्बन्ध का अनुयोगी है । प्रतियोगी होने से 'राजन्' शब्द से ही षष्ठी होती है, 'पुरुष' शब्द से नहीं । हां यदि पुरुष को सम्बन्ध का प्रतियोगी और राजा को अनुयोगी अर्थात् पूर्वाशय से सर्वथा उलट कहना अभीष्ट हो तो 'पुरुषस्य राजा' (पुरुष का राजा) प्रयोग भी बन सकता है । अब शेष रही बात दोनों से विभक्ति करने की । इस का उत्तर यह है कि सम्बन्ध द्विष्ठ होता हुआ भी अपने आप में एक होता है । जब एक में विभक्ति लाने से उस का बोध हो जाता है तो पुनः दूसरी बार विभक्ति लाने का क्या प्रयोजन ? सार यह है कि सम्बन्ध को कहने वाली विभक्ति केवल एक में ही आती है और वह भी सम्बन्ध के प्रतियोगी में । अत एव कहा गया है—

भेद्यभेदकयोश्चैक-सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते ।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ॥

[भेद्य (विशेष्य = अनुयोगी) और भेदक (विशेषण = प्रतियोगी) इन दोनों में

परस्पर एक ही सम्बन्ध अभीष्ट है। यद्यपि सम्बन्ध दोनों में रहता है तथापि षष्ठी-विभक्ति की उत्पत्ति भेदक (विशेषण=प्रतियोगी) से ही होती है।]

अब कर्म आदियों की भी सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो दकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः॥

अर्थः—जब कर्म आदियों को भी सम्बन्धमात्र के रूप में कहने की इच्छा हो तो उन में षष्ठी ही होती है (द्वितीयादि नहीं)।

व्याख्या—जब कर्म, करण आदियों को कर्मत्व करणत्व आदि रूपों में कहना अभीष्ट न हो कर केवल सम्बन्धसामान्य के रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट होता है तब शेषत्व की विवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी विभक्ति हो जाती है द्वितीयादि विभक्तियां नहीं। उदाहरण यथा—

सतां गतम् (सज्जनसम्बन्धी गमन)। यहां 'गतम्' में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) द्वारा भाव में क्त प्रत्यय किया गया है। इस क्रिया का कर्ता सत्-सज्जन है। परन्तु वक्ता कर्ता को कर्तृरूप से प्रस्तुत नहीं कर रहा उसे केवल सम्बन्धी-रूप से कहना चाहता है। तब सम्बन्धसामान्य अर्थात् शेष में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी विभक्ति हो जाती है—सतां गतम्। ध्यान रहे कि यदि वक्ता को सम्बन्धसामान्य की विवक्षा न हो कर उसे कर्तृत्वरूप में कहने की इच्छा होगी तो **स्वतन्त्रः कर्त्ता** (६६३) से कर्तृसंज्ञा हो कर उस अनभिहित कर्ता में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८६५) से तृतीया विभक्ति हो जायेगी—सद्भिर्गतम् (सज्जनकर्तृक गमन)[1]।

सर्पिषो जानीते (घृतसम्बन्धी प्रवृत्ति करता है)। यहां 'जानीते' का अर्थ है—प्रवर्त्तते। इस प्रवृत्ति में सर्पिष्-घृत करण है परन्तु वक्ता इसे करणरूप से प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में कहना चाहता है। इस प्रकार सम्बन्धसामान्यरूप शेष में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी आ जाती है—सर्पिषो जानीते। यहां 'सर्पिष्' का षष्ठ्यन्त रूप 'सर्पिषः' प्रयुक्त किया गया है। यदि वक्ता की विवक्षा उसे करणरूप में प्रस्तुत करने की होगी तो **साधकतमं करणम्** (८६४) से उस की करणसंज्ञा हो कर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८६५) से तृतीया विभक्ति आकर 'सर्पिषा जानीते' प्रयोग बनेगा[2]।

---

१. कई वैयाकरणों का कहना है कि नपुंसकक्तान्त के साथ कर्ता में कर्तृत्वरूपेण विवक्षा ही नहीं होती इस में सदा अविवक्षा ही रहती है, अतः यहां सम्बन्धसामान्य में षष्ठी का ही प्रयोग होता है। इसलिये 'सद्भिर्गतम्' प्रयोग बनता ही नहीं। यदि कर्तृत्व विवक्षा हो तो सन्तोऽगमन् आदि ही कहना चाहिये। इस विषय में कृदन्त-प्रकरण सूत्र (८७०) पर इस व्याख्या का अवलोकन करें।

२. यह उदाहरण शताब्दियों से मूर्धाभिषिक्त उदाहरण के रूप में व्याकरण में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। इस के स्रोत का कुछ पता नहीं चलता। अतः इस का ठीक-ठीक

मातुः स्मरति (मातृसम्बन्धी या माता का स्मरण करता है)। यहां 'मातृ'शब्द 'स्मरति' क्रिया का कर्म है परन्तु वक्ता उसे कर्मरूप में प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में प्रस्तुत कर रहा है अतः उस सम्बन्धसामान्यरूप शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति हो जाती है। यदि वक्ता को उसे कर्मरूप में प्रस्तुत करने की इच्छा होगी तो **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) से कर्मसञ्ज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से अनभिहित कर्म में द्वितीया आ कर 'मातरं स्मरति' ही बनेगा।

एधो दकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जलसम्बन्धी उपस्कार या उस में गुणाधान करती है)। एधस् (नपुं०) या एध (पुं०) शब्द ईन्धन-लकड़ी के वाचक हैं। प्रथमाविभक्ति के एकवचन में दोनों का 'एधः' रूप बनता है। 'दक' (नपुं०) शब्द जलवाचक है— **जीवनं भुवनं दकम्** (अमरकोष)। लकड़ी जल को उपस्कृत करती है अर्थात् उस में उष्णता आदि विशेष गुण उत्पन्न कर देती है[1]। यहां 'दक' (जल) कर्म है परन्तु वक्ता उसे कर्म के रूप में प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। अतः उस सम्बन्धसामान्य अर्थात् शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति आ जाती है। कर्म की विवक्षा में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति हो कर 'एधो दकमुपस्कुरुते' प्रयोग बनेगा।[2]

भजे शम्भोश्चरणयोः (मैं शम्भु के चरणों का ध्यान करता हूं)। यहां 'भजे' में भज्धातु के लँट्-उत्तमपुरुष-एकवचन का प्रयोग किया गया है—भजे = अहम्भजे। इस भजनक्रिया में 'चरण' कर्म हैं परन्तु वक्ता उसे कर्मरूप में न कह कर सम्बन्धी के रूप में कहना चाहता है अतः उस सम्बन्धसामान्य रूप शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति

तात्पर्य भी निश्चितरूपेण नहीं कहा जा सकता। कुछ वैयाकरण इसे करणशेष का उदाहरण न मान कर कर्मशेष का उदाहरण मानते हुए 'घृतसम्बन्धी ज्ञान रखता या घी का विशेषज्ञ है' ऐसा अभिप्राय प्रकट करते हैं (देखें यहां पर तत्त्व-बोधिनी)।

१. निम्ब करञ्ज आदि ईन्धनविशेष के परिताप से जल में अनेक प्रकार के गुणों का आधान होना चिकित्साशास्त्र में प्रसिद्ध है। अथवा—क्वाथ के जल में निम्बादि काष्ठौषधियों के योग से नाना प्रकार के गुणों का समावेश सर्वविदित है।

२. 'उपस्कुरुते' में आत्मनेपद का विधान **गन्धनावक्षेपण०** (१.३.३२) सूत्र से किया गया है अतः परस्मैपद का प्रयोग वर्जित है। 'उप+कुरुते' में कृ के ककार से पूर्व सुँट् का आगम **उपात् प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च** (६८३) सूत्रद्वारा समझना चाहिये। उदाहृत वाक्य बहुत प्राचीन है। इस का मूल अन्वेष्टव्य है। प्राचीन वैयाकरण 'एधोदकस्य' को समस्त पद मानते हैं। 'एध+उदक' अथवा 'एधस्+दक' दोनों प्रकार से समाहारद्वन्द्व करने पर 'एधोदक' बनता है। उन के मत में अर्थ है—लकड़ी और जल को उपस्कृत अर्थात् शुद्ध करता है (यज्ञ में समिधाओं और जल की शुद्धि का शास्त्र में विधान है)।

हो जाती है। यदि चरणों का कर्मत्व अभीष्ट होगा तो उस में द्वितीया हो कर — 'भजे शम्भोश्चरणौ' प्रयोग बनेगा [ध्यान रहे कि 'शम्भोः' में षष्ठी अवयवावयविभावसम्बन्ध में हुई है उसे यहां उदाहरण नहीं समझना चाहिये]।

यदि यह कहा जाये कि कर्म आदियों की अविवक्षा में **अकथितं च** (८९२) से इन में कर्मसंज्ञा हो जायेगी तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां **दुह्याच्**—परिगणन किया गया है। केवल दुह्, याच् आदि धातुओं के योग में ही वह संज्ञा की जाती है अन्य धातुओं के योग में नहीं। यहां उपर्युक्त उदाहरणों में दुह् आदि धातुओं का कहीं प्रयोग नहीं किया गया अतः यहां कोई दोष नहीं आता।

यहां कर्म की अविवक्षा में तीन तथा कर्त्ता और करण की अविवक्षा में एक एक उदाहरण दिया गया है। बहुधा कर्म की अविवक्षा हुआ करती है अतः उस के लिये तीन उदाहरण दिये गये हैं।

कर्मादियों की अविवक्षा में शेषषष्ठी के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा —

(१) **कच्चिद् भर्तुः स्मरसि सुभगे ! त्वं हि तस्य प्रियेति।** (मेघदूत २.२२)

(२) **सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्।** (किरात० ७.२८)

(३) **पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।**
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥
(कुमार० १.४४)

(४) **न केवलं यो महतां विभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्**[1]।
(कुमार० ५.८३)

(५) **तामायुष्मन् मम च वचनाद् आत्मनश्चोपकर्तुं**
ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥ (मेघ० २.३८)

(६) **उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीम्**
अस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः। (माघ० ८.६४)

(७) **सुतोऽपि गङ्गासलिलैः पवित्वा सहाश्वमात्मानमनल्पमन्युः।**
ससीतयो राघवयोरधीयन् श्वसंकदुष्णं पुरमाविवेश॥
(भट्टि० ३.१८)

(८) **अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम्।**
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथापि॥
(नैषध० ३.७९)

(९) **हे प्रभो! दयस्व मे विषमस्थितस्य।** (व्या० च०)

(१०) **इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः** (ऋ० १०.८९.१०)।
(इन्द्र द्युलोक का स्वामी है, इन्द्र पृथ्वी का स्वामी है)

---

१. कुमारसम्भव का यह पाठभेद है। विट्ठल तथा शेषश्रीकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी की अपनी अपनी व्याख्या में इसे उद्धृत किया है।

(११) **शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः** (अथर्व० ४.३५.७)
(१२) **इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमति** (कौटिल्य अर्थ० १२.१.२)
(१३) **अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकः ।**
भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ॥ (भट्टि० ८.११८)
(१४) **यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।**
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ (रामायण २.८.१८)

अब सप्तमी का विधान करने के लिये सर्वप्रथम अधिकरणसंज्ञा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(६०२) आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५॥

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकम् अधिकरणं स्यात् ॥

अर्थः—कर्त्ता और कर्म के द्वारा उन में रहने वाली क्रिया का आधार जो कारक वह अधिकरणसंज्ञक होता है ।

व्याख्या - आधारः ।१।१। अधिकरणम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । अर्थः—(आधारः) आधार (कारकम्) कारक (अधिकरणम्) अधिकरणसंज्ञक होता है । यहां आधार की अधिकरणसंज्ञा की जा रही है परन्तु आधेय नहीं बताया गया[1] अतः किस के आधार की अधिकरणसंज्ञा हो ? यह यहां अन्वेष्टव्य है । यहां **कारके** का अधिकार आ रहा है । **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्** के अनुसार क्रिया के जनक को कारक कहते हैं । इस से यहां 'क्रियायाः' पद का अध्याहार हो कर क्रिया के आधार की अधिकरण संज्ञा हो—यह यहां अर्थ हो जायेगा । परन्तु यहां पुनः शङ्का होती है कि क्रिया के तो दो अंश होते हैं—व्यापार और फल । व्यापार कर्त्ता में तथा फल कर्म में रहा करता है तो क्या कर्त्ता और कर्म की ही अधिकरणसंज्ञा की जा रही है ? इस का उत्तर है कि नहीं । कर्त्ता और कर्म संज्ञाएं तो अष्टाध्यायी में इस सूत्र से परे पढ़ी गई है अतः वे परत्व के कारण इस का बाध कर लेंगी । इस से यहां क्रिया का आधार साक्षात् न ले कर परम्परा से मानना पड़ेगा अर्थात् कर्त्ता या कर्म के द्वारा उन में रहने वाली क्रिया का जो आधार कारक है वह अधिकरणसंज्ञक हो—यह अर्थ फलित होगा । तात्पर्य यह है कि यहां क्रिया का साक्षात् आधार नहीं लिया जायेगा अपितु क्रिया के आधार जो कर्त्ता या कर्म उन के आधार की अधिकरणसंज्ञा होगी, इस तरह वह आधार परम्परया कर्त्ता और कर्म में स्थित क्रिया का भी आधार समझा जायेगा । दूसरे शब्दों में आधार कर्त्ता या कर्म को गोदी में लेगा । क्रिया उन दोनों की गोदी में पहले से ही सवार है इस

१. आध्रियन्तेऽस्मिन्नित्याधारः, अधिकरणे घञ् । जिस पर या जिस में कोई वस्तु रखी जाती है उसे आधार कहते हैं । आधार पर रखी जाने वाली वस्तु को 'आधेय' कहते हैं । यथा—वृक्षे खगस्तिष्ठति (वृक्ष पर पक्षी बैठा है) । यहां 'वृक्ष' आधार तथा 'खग' आधेय है ।

प्रकार आधार तद्गतक्रिया का भी आधार बन जायेगा[1]। इसी बात को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

कर्तृ-कर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

(वाक्यपदीय ३.४.१४८)

अर्थात् कर्त्ता और कर्म के द्वारा क्रिया को परम्परया धारण करने वाले एवं क्रियासिद्धि में उपकारक को इस शास्त्र में अधिकरण कहा गया है। उदाहरण यथा—

कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)। यहां आसन-बैठना क्रिया का आधार उस का कर्त्ता है और कर्त्ता का आधार चटाई है तो इस प्रकार परम्परा से बैठना क्रिया का आधार 'कट' हो गया। अतः कर्ता के द्वारा क्रिया का आधार होने से 'कट' की अधिकरणसंज्ञा हो जाती है और तब उस में अग्रिमसूत्रद्वारा सप्तमी विभक्ति होती है।

स्थाल्यां तण्डुलान् पचति (बटलोई में चावल पकाता है)। यहां पचनक्रिया (विक्लित्तिरूप फल) का आधार उस का कर्म है और कर्म का आधार स्थाली है तो इस प्रकार परम्परा से पचनक्रिया का आधार स्थाली हुई। अतः कर्म के द्वारा क्रिया का आधार होने से 'स्थाली' की अधिकरणसंज्ञा हो जाती है और तब उस में सप्तमी होती है।

इस अधिकरण कारक के तीन भेद आगे कहे जायेंगे। उन की व्याख्या वहीं देखें। अब अग्रिमसूत्रद्वारा अधिकरण में सप्तमी का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९०३) सप्तम्यधिकरणे च ।२।३।३६।।**

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा ॥

अर्थः— (अनभिहित=अनुक्त) अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। 'च' के कारण दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी होती है। **औपश्लेषिकः**— आधार तीन प्रकार का होता है—(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक, (३) अभि-व्यापक।

व्याख्या—सप्तमी ।१।१। अधिकरणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अनभिहिते ।७।१।(यह अधिकृत है)। अर्थः (अनभिहिते) अनुक्त (अधिकरणे) अधिकरण में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है। सूत्र में 'च' का ग्रहण पीछे से '**दूरान्तिकार्थेभ्यः**

---

1. यदि कहें कि 'भूतले घटः' आदि में जहां क्रिया पढ़ी नहीं गई वहां क्रिया के अभाव के कारण आधार की कैसे अधिकरण संज्ञा होगी तो इस का उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर भी अस्ति, भवति आदि क्रिया का अध्याहार कर कर्ताद्वारा तन्निष्ठक्रिया का आधार होने से भूतल आदि की अधिकरणसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

।५।३।' पद के अनुकर्षणार्थ है। अतः दूर या समीप अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी हो जायेगी।

अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है—

पिछले सूत्र में अधिकरणसंज्ञा का वर्णन कर चुके हैं। अधिकरण यदि कृत् तद्धित समास आदि से उक्त न हो तो उस में सप्तमी विभक्ति हो जाती है[1]; यथा—**कटे आस्ते, स्थाल्यां** पचति आदि में **कट** और **स्थाली** अधिकरण हैं अतः इन में **सप्तमी विभक्ति** की गई है।

ग्रन्थकार यहां आधार या अधिकरण का वर्गीकरण करते हुए कहते हैं—**औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेति आधारस्त्रिधा**। अर्थात् आधार तीन प्रकार का होता है—(१) औपश्लेषिक; (२) वैषयिक; (३) अभिव्यापक।

औपश्लेषिक आधार—

उप=समीपे श्लेष. संयोगादिसम्बन्ध उपश्लेषः। उपश्लेषकृत औपश्लेषिकः। अर्थात् जहां आधार का आधेय के साथ संयोग आदि सम्बन्ध हो वहां औपश्लेषिक आधार होता है। यथा कटे आस्ते। यहां कट का बैठने वाले के साथ संयोगसम्बन्ध है अतः कट औपश्लेषिक आधार है। इसी प्रकार 'स्थाल्यां पचति' में समझना चाहिये। सामीप्यसम्बन्ध के कारण भी औपश्लेषिक आधार माना जाता है। यथा—गुरौ वसति (गुरु के पास रहता है), वटे गावः शेरते (वट के समीप गौएं सो रही हैं), गङ्गायां घोषः (गङ्गा के समीप ग्राम है)। **इको यणचि** (१५) में 'अचि' यह औपश्लेषिक आधार है। 'अच् के समीपस्थित जो अव्यवहित इक् उस के स्थान पर यण् आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है।

वैषयिक आधार—

विषयकृतो वैषयिकः। अर्थात् विषयतासम्बन्ध से जब किसी को आधार माना जाता है तब वह वैषयिक आधार होता है। यह आधार बौद्धिक होता है। यथा मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है)। यहां इच्छा का मोक्ष विषय है। या दूसरे शब्दों में सत्तारूप क्रिया का आधार 'इच्छा' यह कर्त्ता है और इस कर्त्ता का भी विषयत्वेन आधार 'मोक्ष' है। इस तरह कर्त्ता के द्वारा तन्निष्ठ सत्तारूप क्रिया का आधार होने से 'मोक्ष' की अधिकरणसंज्ञा हो कर उस में प्रकृतसूत्र से सप्तमी आ जाती है। इसी प्रकार—'व्याकरणे रुचिः' 'शिवे भक्तिः' 'अरिषु दारुणः' आदि में समझना चाहिये।

अभिव्यापक आधार—

जहां आधार के प्रत्येक अवयव में आधेय की सत्ता विद्यमान हो वहां अभि-

---

१. अधिकरण के अभिहित या उक्त होने की दशा में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है। यथा—वीराः पुरुषाः सन्त्यस्मिन् इति वीरपुरुषको ग्रामः। यहां समासद्वारा अधिकरण के उक्त हो जाने से सप्तमी न हो कर प्रथमा ही होती है।

व्यापक आधार समझना चाहिये। यथा—तिलेषु तैलम् (तिलों में तेल है)। तिलों के प्रत्येक अवयव में तेल की सत्ता विद्यमान होने से यहां 'तिल' अभिव्यापक आधार है। इसी प्रकार—सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा अर्थात् ईश्वर है)। यहां सत्ता-रूप क्रिया का आधार 'आत्मा' यह कर्त्ता है। इस कर्त्ता का भी अभिव्यापक आधार 'सर्व' है। इस प्रकार कर्त्ता के द्वारा तन्निष्ठ सत्तारूप क्रिया का आधार होने से 'सर्व' की **आधारोऽधिकरणम्** (९०२) से अधिकरणसंज्ञा हो कर उस में प्रकृतसूत्र से सप्तमी आ जाती है। इसी प्रकार—'दध्नि सर्पिः', 'पयसि घृतम्' आदि में समझ लेना चाहिये।

प्रकृतसूत्र में 'च' के ग्रहण के कारण **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्र से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति आ कर दूर तथा समीप अर्थ वाले शब्दों से प्रातिपदिकार्थमात्र में सप्तमी का विधान किया जाता है—वनस्य दूरे (वन के दूर)। वनस्य अन्तिके (वन के समीप)। यहां 'दूर' और 'अन्तिक' शब्दों से प्रकृतसूत्र से सप्तमी विभक्ति हुई है।

नोट—**दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्र के अनुसार दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी का विधान पहले अष्टाध्यायी में आचार्य कर चुके हैं। अतः अब सप्तमी को मिला कर कुल चार विभक्तियों का इन शब्दों से विधान समझना चाहिये। यथा

वनस्य दूरम्, वनस्य दूरेण, वनस्य दूरात्, वनस्य दूरे (वन के दूर)। वनस्यान्तिकम्, वनस्यान्तिकेन, वनस्यान्तिकात्, वनस्यान्तिके (वन के निकट)।

यहां यह और भी ध्यातव्य है कि **दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्** (२.३.३४) सूत्र से दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी और पञ्चमी कोई भी विभक्ति हो सकती है। ऊपर 'वन' शब्द से षष्ठी का प्रयोग दर्शाया गया है। पञ्चमी का प्रयोग भी हो सकता है। यथा—

वनाद् दूरम्, वनाद् दूरेण, वनाद् दूरात्, वनाद् दूरे (वन से दूर)।
वनादन्तिकम्, वनादन्तिकेन, वनादन्तिकात्, वनादन्तिके (वन के निकट)।

उपर्युक्त तीन प्रकार के आधारों के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

औपश्लेषिक आधार—

(१) गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। (हितोप० प्र० ३)
(२) हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा। (रघु० १.१०)
(३) स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श। (रघु० २.२९)
(४) लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः। (हितोप० १.२१)
(५) एतान्यपि चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि। (मुद्रा०)
अस्मासु = अस्माकं समीपे इत्यर्थः।
(६) द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति। (रामायण १.६६.५)
[यह जो उत्तम धनुष तेरे पास है इसे ये दोनों देखना चाहते हैं।]

(७) **ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ।** (व्या० च०; ऐतरेय ब्रा० ८.१)
[ऋषियों ने सरस्वती के तट पर यज्ञ किया ।]

(८) **ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ।**
(रघु० २.६२)

(९) **आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ।** (शाकुन्तल० १.१०)

(१०) **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।** (मेघदूत० १.६)

वैषयिक आधार—

(१) **मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।**
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ (हितोप० १.१४)

(२) **विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ।** (हितोप० १.१६)

(३) **भर्तृदाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता ।** (स्वप्न० १.७)

(४) **दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।**
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ (हितोप० प्र० १६)

(५) **मातरि वर्तितव्यं पितरि शुश्रूषितव्यम् ।** (महाभाष्य १.१.९)

(६) **कस्मिंश्चित् पूजार्हेऽपराद्धा शकुन्तला ।** (शाकुन्तल०)

(७) **गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।**
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
(रघु० ८.६७)

(८) **दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।** (सां० का० १)

अभिव्यापक आधार—

(१) **तोये शैत्यं दाहकत्वं च भानौ तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः ।**
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्ये च सर्पिर्यत्तच्छम्भो ! त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥
(स्कन्दपुराण

(२) **तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।**
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(श्वेता० १.१५)

इति विभक्त्यर्थप्रकरणम् ॥

(लघुकौमुदी में यहां विभक्त्यर्थप्रकरण समाप्त होता है ।)

अभ्यास (१४)

[१] कारक का क्या लक्षण है? कारक कितने और कौन कौन से हैं? सम्बन्ध को कारक क्यों नहीं माना जाता? सोदाहरण व्याख्या करें ।

[२] प्रातिपदिकार्थ में ही जब लिङ्ग और परिमाण का अन्तर्भाव हो जाता है तो पुनः सूत्र में उन के पृथक् ग्रहण का क्या प्रयोजन? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

[३] व्याख्या करें—
(क) नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । (ख) अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । (ग) कर्मयुक् स्यादकथितम् । (घ) कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । (ङ) अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । (च) क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् ।

[४] 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र में 'ध्रुवम्' का क्या अभिप्राय लिया जाता है ? सहेतुक समझाते हुए सूत्र की व्याख्या करें :

[५] कारकप्रकरण में उक्त अनुक्त का क्या अभिप्राय होता है ? कर्त्ता या कर्म के उक्त वा अनुक्त होने से वाक्य में क्या अन्तर पड़ता है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

[६] दुह्याच्—कारिका की सोदाहरण खोल कर व्याख्या करते हुए यह भी लिखें कि इन धातुओं को दो विभागों में क्यों बांटा गया है ?

[७] आधार कितने प्रकार का होता है ? खोल कर समझाइये ।

[८] दूर-समीपार्थकों के साथ तथा इन के योग में कौन कौन सी विभक्तियां होती हैं ? सोदाहरण सप्रमाण लिखें ।

[९] 'ग्रामान्नायाति' यहां विश्लेष न होते हुए भी कैसे अपादानसंज्ञा हो जाती है ?

[१०] 'रजकाय वस्त्रं ददाति' वाक्य के शुद्ध या अशुद्ध होने की विवेचना करें ।

[११] प्रत्येक कारक के उक्त और अनुक्त के दो दो उदाहरण दीजिये ।

[१२] सम्बन्ध द्विष्ठ होता है पुनः सम्बन्धविभक्ति (षष्ठी) केवल एक से ही क्यों की जाती है ?

[१३] निम्नस्थ उदाहरणों मे विभक्तिविधायकसूत्र को समझा कर घटाइये—
एधो दकस्योपस्कुरुते । रामेण बाणेन हतो बाली । गां दोग्धि पयः । द्रोणो व्रीहिः । मोक्ष इच्छास्ति । धावतोऽश्वात्पतति । मातुः स्मरति ।

[१४] सूत्रों की व्याख्या करें —
षष्ठी शेषे । अकथितं च । कर्तुरीप्सिततमं कर्म । आधारोऽधिकरणम् । साधकतमं करणम् । कर्मणा यमभिप्रैति० । नमःस्वस्ति० ।

[१५] निम्नस्थ वाक्यों को कर्मवाच्य में बदलिये—
गां दोग्धि पयः । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । ग्राममजां नयति । बलिं याचते वसुधाम् ।

———:०:———

अथ विभक्त्यर्थ-परिशिष्ट

विभक्त्यर्थप्रकरण या कारकप्रकरण पर सिद्धान्तकौमुदी में कुल ११५ सूत्र व्याख्यात हैं । परन्तु यहां लघुकौमुदी मे बालकों के लिये केवल १६ सूत्रों का ही संक-

लन किया गया है जो स्पष्टत. इस प्रकरण के ज्ञान के लिये बहुत अपर्याप्त है। इसे देखते हुए हम इस प्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का यहां अर्थ और उदाहरण सहित संक्षिप्त व्याख्यान प्रस्तुत कर रहे हैं आशा है आरम्भिक विद्यार्थियों को अनुवाद आदि में इस से पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रथमा तथा सम्बोधन

प्रथमा तथा सम्बोधन के विषय में पीछे मूल की व्याख्या करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। वह काफी है।

द्वितीया

पूर्वोक्त मूलसूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपयोगी सूत्र नीचे दे रहे है -

(१) गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माऽकर्मकाणाम् अणि कर्त्ता स णौ ।१।४।५२॥

गमनार्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हो जाती है। कर्मसंज्ञा होने पर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से अनभिहित कर्म में द्वितीया हो जाती है। यथा--सेवको ग्रामं गच्छति (सेवक गांव को जाता है)। यहां अण्यन्तावस्था में गमनार्थक गम् धातु के प्रयोग में 'सेवकः' कर्त्ता है। यही कर्त्ता धातु की ण्यन्तावस्था में कर्म हो जाता है और तब इस मे द्वितीया हो जाती है स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति (स्वामी सेवक को गांव भेजता है)। इन धातुओं के उदाहरणों का कोष्ठक यथा—

धातु	अण्यन्त-अवस्था	ण्यन्त अवस्था
(गमनार्थक)	सेवको ग्रामं गच्छति।	स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति।
(ज्ञानार्थक)	शिष्या व्याकरणं विदन्ति।	गुरुश्शिष्यान् व्याकरणं वेदयति।
(भक्षणार्थक)	बालो भोजनं भुङ्क्ते।	माता बालं भोजनं भोजयति।
(शब्दकर्मक)	छात्रा वेदम् अधीयते।	छात्रान् वेदम् अध्यापयत्युपाध्यायः।
(अकर्मक)	शिशुः शेते।	शिशुं शाययति माता।

अब निम्नस्थ वार्त्तिकों द्वारा इस नियम के अपवाद कहते हैं

(२) वा०--नी-वह्योर्न ॥

नी और वह् धातुओं के अण्यन्त कर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती। (अण्यन्त) भृत्यो भारं नयति। (ण्यन्त) स्वामी भृत्येन भारं नाययति। (अण्यन्त) भृत्यो भारं वहति। (ण्यन्त)स्वामी भृत्येन भारं वाहयति। 'भृत्य' की कर्मसंज्ञा न होने से ण्यन्तावस्था में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

(३) वा०-- आदि-खाद्योर्न ॥

अद् और खाद् धातुओं के अण्यन्तकर्त्ता की ण्यन्तावस्था मे कर्मसंज्ञा नहीं होती। (अण्यन्त) देवदत्तोऽन्नम् अत्ति। (ण्यन्त) देवदत्तेन अन्नम् आदयति यज्ञदत्तः। (अण्यन्त) बालक ओदनं खादति। (ण्यन्त) बालकेन ओदनं खादयति माता।

(४) हृक्रोरन्यतरस्याम् ।१।४।५३॥

हृ (हरना-ले जाना) और कृ (करना) धातुओं का अण्यन्तकर्त्ता ण्यन्त में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है। उदाहरण यथा –

हृ –(अण्यन्त) **भृत्यः** सन्देशं हरति। (ण्यन्त) { **भृत्यं** संदेशं हारयति स्वामी। **भृत्येन** संदेशं हारयति स्वामी।

कृ––(अण्यन्त) **देवदत्तः** कटं करोति। (ण्यन्त) { **देवदत्त** कटं कारयति यज्ञदत्तः। **देवदत्तेन** कटं कारयति यज्ञदत्तः।

(५) **अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म** ।१।४।४६।।

शीङ् (सोना), स्था (ठहरना) और आस् (बैठना) धातुएं यदि अधिपूर्वक हों तो इन के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा –

अधिशीङ्– ब्रह्मचारी **काष्ठपीठम्** अधिशेते (ब्रह्मचारी तख्त पर सोता है)।

अधिस्था –**गृहं** नाधितिष्ठन्ति यतयः (यति लोग घर में नहीं रहते)।

अधि-आस्––**आसनम्** अध्यास्त आचार्यः। (आचार्य आसन पर बैठे हैं)।

(६) **अभिनि-विशश्च** ।१।४।४७।।

अभि और नि इसी क्रम से ये इकट्ठे दोनों उपसर्ग यदि पूर्व में हों तो विश् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा––

सन्मार्गम् अभिनिविशन्ते सन्तः (सज्जन सन्मार्ग में दृढ़ता से लग जाते है)।

एक उपसर्ग के पूर्व होने पर कर्मसंज्ञा न होगी––**निविशते यदि शूकशिखा पदे** (नैषध० ४.११)। आधार में सप्तमी हो जाती है।

(७) **उपान्वध्याङ्-वसः** ।१।४।४८।।

उप, अनु, अधि या आङ् इन में से कोई उपसर्ग यदि पूर्व में हो तो वस् (रहना) धातु के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा––

राजा **नगरम्** उपवसति (राजा नगर में रहता है)। राजा **नगरम्** अनुवसति। राजा **नगरम्** अधिवसति। राजा **नगरम्** आवसति।

(८) **अन्तराऽन्तरेणयुक्ते** ।२।३।४।।

अन्तरा (मध्य में) और अन्तरेण (विना) इन अव्ययों के योग मे द्वितीया विभक्ति होती है। यथा––

अन्तरा––अन्तरा **ग्रामद्वयं** नदी प्रवहति (दो गांवों के बीच नदी बहती है)।

अन्तरेण––**प्रमाणम**न्तरेण न विश्वसन्ति प्रामाणिकाः (प्रमाण के विना प्रामाणिक विश्वास नहीं करते)। न चान्तरेण **नावं** तरीतु शक्येयं सरित् (नौका के विना यह नदी पार नहीं की जा सकती)।

(९) **कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे** ।२।३।५।।

अत्यन्त संयोग गम्य हो तो कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है। यथा –(कालवाचक) **मासम**धीते-महीना भर लगातार पढ़ता है। **त्रीणि वासराणि** धारासारेण वृष्टो देवः––तीन दिन लगातार मूसलाधार वर्षा हुई।

(मार्गवाचक) **क्रोशम्** अधीते—कोस भर लगातार पढ़ता है। **क्रोशं** गिरिः – कोस भर पर्वत है। **क्रोशं** कुटिला नदी—(कोस तक नदी टेढ़ी है)।

(१०) वा०—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

तस्प्रत्ययान्त उभ और सर्व शब्दों के योग में, धिक् अव्यय के योग में तथा आम्रेडितान्त उपरि, अधस् और अधि के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। इन से अतिरिक्त कहीं कहीं अन्यत्र भी द्वितीया देखी जाती है।

उभयतः के योग में -उभयतो **मार्गं** वृक्षाः (मार्ग के दोनों ओर पेड़ हैं)।

'सर्वतः' के योग में—सर्वतो **नगरं** प्राकारः (नगर के चारों ओर परकोटा है)।

'धिक्' के योग में—धिङ् **दासमधन्यम्**। धिक् **त्वां** जाल्म !। 'धिङ् मूर्ख' आदि में 'त्वाम्' का अध्याहार करना चाहिये। धिग् **नास्तिकम्**। **धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च** (भर्तृ० नीति० २)।

उपरि उपरि के योग में—उपरि उपरि **दुर्गं** राष्ट्रपताका चलति।

अधोऽधः के योग में -अधोऽधः **समुद्रं** याति भग्नपोतः[१]।

अध्यधि के योग में—अध्यधि **हिमगिरिं** सिद्धानामाश्रयः।

कहीं कहीं अन्यत्र भी—**ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः** (गीता० ११.३२)। यहां 'ऋते' के योग में 'त्वाम्' में द्वितीया आई है। 'ऋते' के योग में **अन्यारादितरर्ते०** (२.३.२९) सूत्र द्वारा पञ्चमी का विधान आगे आयेगा। इसी प्रकार 'प्रतिभाति' 'यावत्' आदि के योग में भी द्वितीया देखी जाती है—**बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्** (महाभाष्य० २.३.२)। **न साम्परायः**[२] **प्रतिभाति बालम्** (अज्ञानी को परलोक नहीं सूझता कठो० २.६)। **कियन्तमवधिं यावद् अस्मच्चरितं चित्रकारेणालिखितम्** (उत्तर० १)। **स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व** (उत्तर० ७)।

(११) वा०—अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि॥

अभितः (दोनों ओर), परितः (चारों ओर), समया (समीप), निकषा (समीप), हा (शोक) और प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

अभितः—अभितोऽ**ध्वानं** जम्बूपादपा विलसन्ति।

परितः—**दुर्गं** परितः परिखा (किले के चारों ओर खाई है)।

समया—**ग्रामं** समया रम्या पुष्पवाटिका।

---

१. **अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते। उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥** इत्यादियों में 'जनान्' का अध्याहार करना चाहिये। अधोऽधो जनान् पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते- इस प्रकार अर्थ करना चाहिये।

२. 'साम्परायः' के स्थान पर लोक मे 'सम्परायः' का ही प्रयोग होता है।

निकषा—निकषा **नगरं** देवालयः (गांव के निकट देवमन्दिर है[1])।

हा—हा **नास्तिकं वेदनिन्दकम्।**

प्रति—**मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति।** (शाकुन्तल० १)

चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि। (मुद्रा० १)

(१२) **वा०—क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं चेष्यते॥**

क्रियाविशेषण भी कर्म होते हैं और इन का नपुंसकलिङ्ग की द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्रयोग होता है। यथा—**मन्दं** गच्छति। **मधुरं** भाषते। **सत्वरं** धावति। **शोभनं** पठति। **सक्रोडमाह।** **साधु** भवानास्ताम् (आप अच्छी तरह बैठिये)। क्रियाविशेषणों का विवरण इस प्रकार किया जाता है—मन्दं यथा भवति तथा गच्छतीति मन्दं गच्छति।

तृतीया

अनभिहित कर्त्ता और करण में तृतीया का विधान कर चुके हैं। अब अन्यत्र तृतीया का विधान दर्शाते हैं—

(१३) **सहयुक्तेऽप्रधाने** ।२।३।१९॥

सह तथा सह के पर्यायवाची साकम्, सार्धम्, समम्, सत्रा आदि के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। उदाहरण यथा—**पुत्रेण** सह आगतः पिता (पुत्र के साथ पिता आया)। यहां 'आगतः' में क्त कर्त्ता में हुआ है अतः कर्त्ता 'पिता' यहां प्रधान है 'पुत्र' अप्रधान[2]। अप्रधान में तृतीया हो जाती है। इसी प्रकार साकम् आदि के योग में समझना चाहिये।

'सह' आदियों का योग न होने पर भी यदि 'सह' का अर्थ गम्यमान हो तो भी तृतीया हो जाती है। यथा—**सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति** (उत्तर० २.१)। **मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः** (मेघ० २.५८)।

(१४) **येनाऽङ्गविकारः** ।२।३।२०॥

जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी (देह) का विकार प्रतीत होता है उस अङ्गवाचक शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**अक्ष्णा** काणः। **पादेन** खञ्जः। **पृष्ठेन** कुब्जः। **पाणिना** कुणिः (हाथ से लुञ्जा)।

(१५) **इत्थम्भूतलक्षणे** ।२।३।२१॥

वह इस प्रकार का है—इस तरह बतलाने में लक्षण अर्थात् चिह्नवाचक शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**जटाभिस्तापसः** (वह जटाओं से तपस्वी प्रतीत होता है)। **आकृत्या** शूरः (वह आकृति से शूर लगता है)। **वेषेण** यतिः [वह

---

१. प्रक्रियासर्वस्व में अभितः आदि चारों का श्लोकबद्ध सुन्दर उदाहरण यथा—

अभितः केशवं गोपा गावस्तं परितः स्थिताः।

समया तं स्थिता राधा निकषा तां सखीजनः॥ (प्र० स० सुबर्थ० पृष्ठ ११६)

२. जिस का सीधा क्रिया से अन्वय हो वह प्रधान होता है।

वेष से यति (संन्यासी) लगता है]। **इन में** जटा आदि चिह्न हैं जिन से व्यक्ति का तापसत्व आदि कहा जाता है।

(१६) **हेतौ** ।२।३।२३॥

हेतु अर्थात् कारण में तृतीया विभक्ति होती है। यथा—**पुण्येन** दृष्टो हरिः। **पुत्रेण** हर्षः। **कन्यया** शोकः। **धनेन** कुलम्।

हेतु और करण में यह भेद होता है कि करण केवल क्रिया का साधक होता है परन्तु हेतु द्रव्य, गुण और क्रिया किसी का भी साधक हो सकता है। इस के अतिरिक्त करण सदा व्यापारयुक्त होता है परन्तु हेतु व्यापाररहित या व्यापारसहित दोनों प्रकार का हो सकता है। विशेष विवेचन आकरग्रन्थों में देखें।

(१७) **अपवर्गे तृतीया** ।२।३।६॥

फलप्राप्ति गम्यमान हो तो अत्यन्तसंयोग में काल और मार्ग वाचक शब्दों से तृतीया हो जाती है। पीछे **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) से द्वितीया का विधान कर चुके हैं यह उस का अपवाद है। उदाहरण यथा—**मासेना**धीतोऽनुवाकः (महीने भर में अनुवाक पढ़ लिया)। **क्रोशेना**धीतोऽनुवाकः (कोस भर चलते चलते अनुवाक पढ़ लिया)। इसी प्रकार—**द्वादशभिर्वर्षै**र्व्याकरणं श्रूयते (बारह वर्षों के निरन्तर अध्ययन से व्याकरण समाप्त हो जाता है)। **त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवान् इदमद्भुतम्।** (महाभारत १.६२.५२)।

(१८) **वा०—प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्।**

प्रकृत्यादिगणपठित शब्दों से तृतीया विभक्ति हो जाती है – **प्रकृत्या** चारुः (स्वभाव से सुन्दर)। **गोत्रेण** गार्ग्यः। **समेन** धावति (सीधा दौड़ता है)। **विषमेण** धावति (टेढ़ा दौड़ता है)। **नाम्ना** सुतीक्ष्णः। **आत्मना** चतुर्थः। **सुखेन** याति। **दुःखेन** याति। प्रकृत्यादि आकृतिगण है।

(१९) **पृथग्विना-नानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्** ।२।३।३२॥

पृथक्, विना और नाना इन के योग में द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति होती है। ये तीनों विनार्थक अव्यय हैं। उदाहरण यथा (पृथक्)—**धर्मं** पृथग् न हि सुखम्। **धर्मेण** पृथग् न हि सुखम्। **धर्मात्** पृथग् न हि सुखम्। (विना) **विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना। विना हस्तिकृतान् दोषान् केनेमौ पातितौ द्रुमौ** (काशिका)। **शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निः** (रघु० २.१४)। **गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया** (किरात० १.१२)। **अतिकायाद् विना पाशं को वा छेत्स्यति वारुणम्** (भट्टि० १६.३)। (नाना) नाना **नारीं (नार्या, नार्याः)** निष्फला लोकयात्रा।

(२०) **वा०—गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका॥**

अर्थात् यदि कोई क्रिया वाक्य में शब्दद्वारा न कही गई हो परन्तु प्रतीत हो रही हो तो वह क्रिया भी कारकविभक्ति का निमित्त बन जाती है। यथा—अलं **श्रमेण**। यहां निषेधार्थक 'अलम्' के प्रयोग में साधन (सिद्ध होना) क्रिया गम्यमान है। अतः उस का करण होने से 'श्रम' शब्द से तृतीया हो जाती है। वाक्य का तात्पर्य यह है कि—

'श्रमेण न किमपि मेत्स्यति' अर्थात् श्रम से कुछ भी सिद्ध न होगा, श्रम न करो । इसी प्रकार—अलं **रुदितेन**; अलं **प्रलपितेन**; अलम् **अतिविस्तरेण**; **अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्** (रघु० २.३४) । **कस्मात् त्वम् ? नद्याः** [तू कहां से (आ रहा है—यह गम्यमान है) ? मैं नदी से] यहां गम्यमान आगमनक्रिया के कारण प्रश्न में 'कस्मात्' से तथा उत्तर में 'नद्याः' से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । अन्य कारकविभक्तियों में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये ।

चतुर्थी

सम्प्रदान में चतुर्थी का विधान कर चुके है । अब कुछ अन्य सूत्रों से सम्प्रदान-संज्ञा करते हैं—

(२१) **रुच्यर्थानां प्रीयमाणः** ।१।४।३३।।

'पसन्द आना' अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में 'जो प्रसन्न होता है उस कारक की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा —**मह्यं** मोदकं रोचते (मुझे लड्डू पसंद है) । यहां प्रसन्न होने वाला कारक 'अस्मद्' है अतः उस की सम्प्रदानसंज्ञा हो कर चतुर्थी हो जाती है । इसी प्रकार—न **मे** स्वदतेऽपूपः (मुझे पुआ पसंद नहीं) ।

(२२) **धारेरुत्तमर्णः** ।१।४।३५।।

धारि (धृङ्+णिच्; धारण करना) धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण (साहूकार, ऋण देने वाला) की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा—**देवदत्ताय** शतं धारयति (देवदत्त के सौ धारण करता है अर्थात् देवदत्त से सौ ऋण लेता है) । यहां धारि के प्रयोग में 'देवदत्त' उत्तमर्ण है अतः उस की सम्प्रदान संज्ञा हो कर चतुर्थी हो जाती है ।

(२३) **स्पृहेरीप्सितः** ।१।४।३६।।

स्पृह-चाहना (अदन्त चुरा०) धातु के प्रयोग में इष्ट पदार्थ की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा—**पुष्पेभ्यः** स्पृहयति (फूलों को चाहता है) । **परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये** (भर्तृ० नीति० ३६) --कोई क्षीण पुरुष तो मुट्ठी भर जौ के लिये तरसा करता है ।

(२४) **क्रुध-द्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः** ।१।४।३७।।

क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्य् और असूय (कण्ड्वादि) धातुओं या इन के समानार्थक धातुओं के प्रयोग में जिस के प्रति कोप हो उस की सम्प्रदानसंज्ञा हो जाती है । यथा **देवदत्ताय** क्रुध्यति द्रुह्यति ईर्ष्यति असूयतीति वा । रुष्यति माता **पुत्राय** । **अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते** (ऋ० ७.८६.३) -- यह वरुण भगवान् तुझ से क्रुद्ध है । गुरुः **शिष्याय** क्रुध्यति ।

(२५) **गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि** ।२।३।१२।।

गत्यर्थक धातुओं के कर्म मे द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियां हो जाती हैं यदि गति चेष्टात्मिका (शारीरिक हरकत) हो और मार्ग कर्म न हो । यथा **ग्रामं** गच्छति । **ग्रामाय** गच्छति । **ग्रामं** याति । **ग्रामाय** याति । मनसा हरिं गच्छति यहां शारीरिक

हरकत न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। पन्थानं गच्छति—यहां मार्ग कर्म है अतः सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

(२६) **वा०—तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ॥**

तादर्थ्य अर्थात् 'यह उसके लिये है' इस अर्थ में जिस के लिये कोई वस्तु है उस के वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। यथा—काव्यं **यशसे** (काव्य यश के लिये होता है)। **यूपाय** दारु (खूंटे बनाने के लिये लकड़ी); **कुण्डलाय** हिरण्यम् (कुण्डल बनाने के लिये सुवर्ण); **रन्धनाय** स्थाली (रांधने-पकाने के लिये देगची); **मुक्तये** हरिं भजति (मुक्ति के लिये हरि को भजता है)। इसी प्रकार **विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय** (सुभाषित)। **रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः** (मनु० १.६५)।

पञ्चमी

अपादान में पञ्चमी का विधान बता चुके हैं। अब इस विषय के कुछ अन्य सूत्र वा वार्तिक यहां दिये जा रहे हैं—

(२७) **वा० -जुगुप्सा-विराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥**

जुगुप्सा (घृणा, निन्दा), विराम (रुकना-हटना-थमना) और प्रमाद (लापरवाही-ध्यान न देना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिस से घृणा की जाये, जिस से रुका जाये और जहां प्रमाद किया जाये उस की अपादानसंज्ञा होती है। यथा **पापाज्जुगुप्सते** (पाप से घृणा करता है)। **पापाद्** विरमति (पाप से हटता है)। **धर्मात्** प्रमाद्यति (धर्म में प्रमाद करता है)। इसी प्रकार --**स्वाध्यायान्मा प्रमदः** (वेदपाठ में प्रमाद मत कर)। **सत्यान्न प्रमदितव्यम्** (तै० उ० १.११.१)। **स्वाधिकारात् प्रमत्तः** (मेघ० १.१)। **प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्** (भर्तृ० नीति० २६)। **सम्भूतघोरसमराद् विरराम रामः** (चम्पूरामायण १.११२)।

संयोगपूर्वक विश्लेष अपाय कहाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में वास्तविक संयोग-वियोग नहीं होता अपितु बौद्धिक होता है अतः यह वार्तिक आरम्भ करना पड़ा।

(२८) **भी-त्रार्थानां भयहेतुः** ।१।४।२५॥

डरना और रक्षा करना अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिस से डरा जाये या जिस से रक्षा करनी हो उस की अपादानसंज्ञा हो जाती है। यथा- **चौराद्** बिभेति (चोर से डरता है)। **चौरात्** त्रायते (चोर से बचाता है)। इसी प्रकार—**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** (महाभारत १.१.२६८)। **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गीता २.४०)। **सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव** (मनु० २.१६२; सम्मान से ब्राह्मण नित्य ऐसे डरे जैसे विष से)। **तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष रक्ष मां श्लथबन्धनात्। आखुभ्यः परहस्तेभ्य इति वदति पुस्तिका ॥**

(२९) **वारणार्थानामीप्सितः** ।१।४।२७॥

रोकना अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग मे जिस से रोकना अभीष्ट है उस की

अपादानसंज्ञा हो जाती है। यथा—**यवेभ्यो** गां वारयति (जौ से गाय को रोकता है)। **परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय** (शार्ङ्गधरपद्धति १४२३; परनिन्दारूप घास से चरती हुई गो=वाणी को हटाओ)।

(३०) **अन्तर्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति** ।१।४।२८।।

व्यवधान अर्थात् ओट के होने पर छिपने वाला जिस से अपना अदर्शन चाहता है उस की अपादानसंज्ञा होती है। यथा—**मातुर्निलीयते** कृष्णः (कृष्ण माता से छिपता है)। इसी प्रकार—**अन्तर्धत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर** (भट्टि० ५.३२)।

(३१) **आख्यातोपयोगे** ।१।४।२९।।

नियमपूर्वक विद्याग्रहण के विषय में आख्याता (=व्याख्याता=प्रवक्ता=पढ़ाने वाला) अपादानसंज्ञक होता है। यथा—**गुरोरधीते**। इसी प्रकार—**अशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्** (रघु० ३.३१)।

(३२) **जनिकर्तुः प्रकृतिः** ।१।४।३०।।

पैदा होने वाले का कारण अपादानसंज्ञक होता है। यथा—**ब्रह्मणः** प्रजाः प्रजायन्ते (ब्रह्मा से प्रजा पैदा होती हैं)। **गोमयाद्** वृश्चिको जायते (गोबर से बिच्छू पैदा होता है)। **पङ्कात्** तामरसं जायते (कीचड़ से कमल पैदा होता है)। शशाङ्क **उदधे**-र्जायते। **कामात् क्रोधोऽभिजायते** (गीता २.६२)।

(३३) **भुवः प्रभवः** ।१।४।३१।।

प्र+भू धातु के कर्त्ता का प्रभव (प्रथम प्रकट होने का स्थान) अपादान-संज्ञक होता है। यथा—**हिमवतो** गङ्गा प्रभवति (हिमालय से गङ्गा निकलती है)। **काश्मीरेभ्यो** वितस्ता प्रभवति (काश्मीर से जेहलम निकलती है)।

(३४) **अन्याऽऽरादितरर्त्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** ।२।३।२९।।

अन्य, आरात् (दूर या निकट), इतर, ऋते (विना), दिक्शब्द (दिशावाचक शब्द, चाहे अब वे दिशावाचक न भी हों), अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहि-प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अन्य—अन्यः **कृष्णात्**। अन्य के पर्यायों का भी ग्रहण होता है—भिन्नः **कृष्णात्**। इतरः **कृष्णात्**। आरात्—**ग्रामाद्** आराद् आरामः (व्या० च०) (गांव के निकट बगीचा है)। **आराच्छत्रोर्व**सेत् सदा (शत्रु से सदा दूर रहे)। दुबारा 'इतर' का ग्रहण विस्तार से समझाने के लिये है। ऋते—ऋते **ज्ञानान्न** मुक्तिः (ज्ञान के विना मुक्ति नहीं)। दिक्शब्द—पूर्वो **ग्रामात्**। दक्षिणो **ग्रामात्**। उत्तरो **ग्रामात्**। **चैत्रात्** पूर्वः फाल्गुनः। अञ्चूत्तरपद—प्राग् **ग्रामात्**। प्रत्यग् **ग्रामात्**। आच्प्रत्ययान्त—दक्षिणा **ग्रामात्**। आहिप्रत्ययान्त—दक्षिणाहि **ग्रामात्** (गांव के दक्षिण में)। प्रभृति, आरभ्य, बहिः, ऊर्ध्वम्, अनन्तरम् आदि के योग में भी पञ्चमी होती है—**ततः** प्रभृति। **तस्माद्** आरभ्य। **ग्रामाद्** बहिः। **स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः** (मनु० २.१०३)। **अत** ऊर्ध्वम्।

(३५) **अपपरी वर्जने** ।१।४।८७।।

वर्जन (छोड़ना) अर्थ में अप और परि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

(३६) **आङ् मर्यादावचने** ।१।४।८८।।

मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् की **कर्मप्रवचनीयसंज्ञा** होती है । इन दोनों अर्थों का विवेचन पीछे पूर्वार्ध में (५५) सूत्र पर सोदाहरण कर चुके है वहीं देखें ।

(३७) **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** ।२।३।१०।।

अप, आङ् और परि—इन कर्मप्रवचनीयों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है । अप—अप **त्रिगर्तेभ्यो** वृष्टो देवः (त्रिगर्तदेश को छोड़ कर मेघ बरसा) । परि—परि **त्रिगर्तेभ्यो** वृष्टो देवः(वही अर्थ) । आङ् –आ **विन्ध्याद्** उत्तरापथः(विन्ध्य तक अर्थात् विन्ध्य को छोड़ कर उत्तरापथ है) । आ **कुमारेभ्यो** यशः पाणिनेः (पाणिनि का यश कुमारों तक फैला हुआ है । यहां अभिविधि अर्थ में आङ् है) ।

(३८) **प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः** ।१।४।९१।

प्रतिनिधि (स्थानापन्न, एज्जी) या प्रतिदान (बदले में देना) अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है ।

(३९) **प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात्** ।२।३।११।।

जिस का प्रतिनिधि हो या जिस के बदले में दिया जाये उस से कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । यथा –

[प्रतिनिधि] प्रद्युम्नः **कृष्णात्** प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है) । [प्रतिदान]—**तिलेभ्यः** प्रति यच्छति माषान् (तिलों के बदले माष देता है) ।

षष्ठी

सम्बन्धसामान्य मे षष्ठी कह चुके हैं। अब षष्ठीविधायक कुछ अन्य आवश्यक सूत्रों का यहां संकलन प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४०) **कर्तृकर्मणोः कृति** ।२।३।६५।।

कृत्प्रत्ययान्त के साथ अर्थद्वारा योग होने पर कर्त्ता या कर्म में षष्ठी विभक्ति हो जाती है । इसे कृद्योगलक्षणा षष्ठी कहते हैं। उदाहरण यथा (कर्त्ता में)—**कृष्णस्य** कृतिः । **सूत्रकारस्य** कृतिः । यहां क्तिन्प्रत्ययान्त कृदन्त 'कृति' के योग में कर्त्ता(कृष्ण, सूत्रकार) में षष्ठी विभक्ति आई है । (कर्म में)—**जगतः** कर्त्ता परमेश्वरः । **ग्रन्थस्य** प्रणेता । **वज्रस्य** भर्त्ता । **पुरां** भेत्ता । यहां तृजन्त कृदन्त के योग में जगत् आदि कर्म मे षष्ठी हुई है । **तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्** (रघु० २.५०) । **अनभिहिते** (२.३.१) की अनुवृत्ति आ रही है अतः कृद्योग में अनुक्त कर्त्ता और अनुक्त कर्म में ही षष्ठी होती है उक्त में नही- -वास्तव्योऽहम्, कर्त्तव्यः कटः । यहां 'अस्मद्' और 'कट' क्रमशः उक्त कर्त्ता और उक्त कर्म हैं अतः इन में कृद्योगलक्षणा षष्ठी नही हुई ।

(४१) **कृत्यानां कर्त्तरि वा** ।२।३।७१।।

कृत्यप्रत्ययान्तों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी हो जाती है। षष्ठी के अभाव में अनुक्त कर्त्ता में तृतीया होती है । यथा– **ममेद** कर्त्तव्यम् । **मयेदं** कर्त्तव्यम् ।

तव पुष्पाण्यवचेयानि । **त्वया** पुष्पाण्यवचेयानि । **गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्** (मेघ० ७) ।

(४२) **क्तस्य च वर्त्तमाने** ।२।३।६७।।

वर्त्तमानकाल में विहित क्तप्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति हो जाती है । यथा --**राज्ञां** मतः । **राज्ञां** बुद्धः । **राज्ञां** पूजितः । यहां **मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) सूत्र से वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय हुआ है । ध्यान रहे कि यहां **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) इस वक्ष्यमाणसूत्र से कृद्योग में षष्ठी का निषेध प्राप्त था । उसे रोकने के लिये यह सूत्र रचा गया है ।

(४३) **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** ।२।३।६९।।

ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन्—इन कृत् प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती ।

ल—से लादेश शतृ शानच् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है । यथा--**ओदनं** पचन्; **ओदनं** पचमानः; **कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः** (हितोप० १. १३२) ।

उ (उ तथा इष्णुच्)—**कटं** चिकीर्षुः । **ओदनं** बुभुक्षुः । **तत्त्वं** बुभुत्सुः (तत्त्व को जानने की इच्छा वाला) । **कन्याम्** अलङ्करिष्णुः ।

उक (उकञ्)—**दैत्यान्** घातुको हरिः ।

अव्यय (क्त्वा, ल्यप्, तुमुँन्, णमुँल्)—**जगत्** सृष्ट्वा । **सुखं** कर्तुम् । **ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् । अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते** (हितोप० १.२०) । **शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः** (हितोप० १.१७१) । **ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति** (शाकुन्तल १.१८) । **स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः** (प्रौढमनोरमा) ।

निष्ठा (क्त, क्तवतुँ)—**त्वया** कृतम् । **मया** कृतम् । **ओदनं** भुक्तवान् । **स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः** (रघु० १.७८) ।

खलर्थ---ईषत्करः कटो **भवता** । **दुस्तरो जीवता देवि मयाऽयं शोकसागरः** (रामायण २.५९.३२) । **दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि** (नैषध ५.१०९) । **सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैः** (रघु० २.२७) ।

तृन्[1] —कर्ता **लोकान्** । वदिता **जनापवादान्** ।

नोट —ध्यान रहे कि यह सब निषेध कारकषष्ठी अर्थात् कृद्योगलक्षणा षष्ठी का ही है। शेष की विवक्षा में तो षष्ठी निर्बाध होगी ही । यथा--**इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे**

---

१. 'तृन्' से यहां प्रत्याहार लिया जाता है । अष्टाध्यायीस्थ **लटः शतृ०** (३.२.१२४) सूत्रस्थ 'तृ' से ले कर **तृन्** (३.२.१३५) सूत्र के नकार तक 'तृन्' प्रत्याहार बनता है । इस प्रत्याहार में शानच्, शानन्, चानश्, शतृँ और तृन् इन प्रत्ययों का ग्रहण होता है । **सोमं** पवमानः (शानन्) । अधीयन् **पारायणम्** (शतृँ) ।

त्वदधीना हि सिद्धयः (रघु० १.७२)। **ब्राह्मणस्य** कुर्वन्। **नरकस्य** जिष्णुः (नरक का जीतने वाला)।

(४४) **षष्ठी हेतु-प्रयोगे** ।२।३।२६।।

हेतुशब्द के प्रयोग में हेतुद्योत्य होने पर हेतु के द्योतक शब्द से तथा हेतुशब्द से भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है। यथा--**अन्नस्य हेतोर्**वसति (अन्न के कारण रहता है)। **अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्** (रघु० २.४७)। **निवासहेतोरुटजं वितेरुः** (रहने के लिये कुटिया दी—रघु० १४.८१)। **हेतौ** (२.३.२३) द्वारा हेतु में प्राप्त तृतीया का यह अपवाद है।

(४५) **सर्वनाम्नस्तृतीया च** ।२।३।२७।।

हेतु द्योतक सर्वनाम और हेतु दोनों के प्रयोग में दोनों से षष्ठी या तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**कस्य हेतोर्**वसति, **केन हेतुना** वसति (किस कारण रहता है)। वार्त्तिककार इस में संशोधन प्रस्तुत करते हैं --

(४६) **वा०—निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्** ।।

निमित्त शब्द या उस के पर्याय—कारण, हेतु, प्रयोजन आदि शब्दों का प्रयोग होने पर हेतु द्योतक तथा तत्समानाधिकरण शब्द दोनों से प्रायः सब विभक्तियों का प्रयोग होता है। यथा—(प्रथमा) किं निमित्तम्। (द्वितीया) किं निमित्तम्। (तृतीया) केन निमित्तेन। (चतुर्थी) कस्मै निमित्ताय। (पञ्चमी) कस्मान्निमित्तात्। (षष्ठी) कस्य निमित्तस्य। (सप्तमी) कस्मिन्निमित्ते। इसी प्रकार --किं कारणम्, किं कारणम्, केन कारणेन, कस्मै कारणाय, कस्मात् कारणात्, कस्य कारणस्य, कस्मिन् कारणे। को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद् हेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ। इसी तरह प्रयोजन आदि शब्दों के साथ भी। सर्वनाम के अतिरिक्त यदि कोई अन्य समानाधिकरण में हो तो प्रथमा और द्वितीया को छोड़ अन्य सब विभक्तियों का प्रयोग होता है[1]। यथा—ज्ञानेन निमित्तेन, ज्ञानाय निमित्ताय, ज्ञानात् निमित्तात्, ज्ञानस्य निमित्तस्य, ज्ञाने निमित्ते।

सप्तमी

अधिकरण में सप्तमी का विधान प्रतिपादित कर चुके हैं। अब कुछ अन्य स्थानों पर सप्तमी का विधान करते हैं --

(४७) **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** ।२।३।३७।।

जिस की प्रसिद्ध क्रिया से किसी अन्य की दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस क्रियावान् से सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यथा **गोषु दुह्यमानासु** गतः (जब गौएं दुही जा रही थीं वह तब गया या गौओं के दुहे जाने पर गया)। यहां गौओं की दोहन क्रिया से किसी दूसरे की गमनक्रिया लक्षित होती है अतः 'गो' से सप्तमी हो जाती है। उस के विशेषण 'दुह्यमाना' में भी सामानाधिकरण्यवश सप्तमी हो जाती है।

---

१. वार्त्तिक में 'प्रायदर्शनात्' में 'प्राय' के ग्रहण के कारण ऐसी व्याख्या की जाती है।

यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि यह सब एक ही वाक्य में होता है और लक्षणक्रिया प्रायः कृत्प्रत्ययद्वारा कही जाती है। जहां क्रिया न भी कही गई हो वहां 'सति, सत्याम्' आदि लगा लिया जाता है। अत एव इस सप्तमी को भावसप्तमी या सतिसप्तमी भी कहते हैं। इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

[१] **सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात्।** (व्या० च० गो० ध० १.६.४)
(धन होते हुए मनुष्य जीर्ण या मलिन कपड़े न पहने)

[२] **नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति** (शत्रन्त) **निमीलति।**
(हितोप० ३.१४५)

[३] **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।** (कुमार० १.५६)

[४] **वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।** (सुभाषित)

[५] **अग्निषु हूयमानेषु स गतो हुतेषु चागतः।** (व्या० च०)

[६] **ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने।**
(रघु० २.१४)

[७] **क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।** (मुद्रा० १)।

[८] **यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु।** (हितोप० २.३७)

(४८) **यतश्च निर्धारणम्**।२।३।४१।।

जाति, गुण, क्रिया या संज्ञा के द्वारा किसी समुदाय से उस के एकदेश का (उत्कर्ष या अपकर्ष बतलाने के लिये) अलग निर्देश करना निर्धारण कहाता है। निर्धारण में समुदाय वाचक शब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—(जातिद्वारा)—**नृणां** ब्राह्मणः श्रेष्ठः, **नृषु** ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों मे ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। यहां नृसमुदाय में से उस के एकदेश ब्राह्मणजाति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है अतः समुदायवाचक 'नृ' शब्द से षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार—**मनुष्याणां मनुष्येषु** वा क्षत्रियः शूरतमः। (गुण द्वारा)—**गवां गोषु** वा कृष्णा बहुक्षीरा (गौओं में काली गाय बहुत दूध देती है)। (क्रिया द्वारा)—**गच्छतां गच्छत्सु** वा धावन् शीघ्रः (गमन करने वालों में दौड़ने वाला शीघ्र होता है)। (संज्ञा-द्वारा) **छात्त्राणां छात्त्रेषु** वा मैत्रः पटुः (छात्रों में मैत्र चतुर है)। यहां यह ध्यातव्य है कि निर्धारण में उद्भूतावयव समुदाय की विवक्षा होने से प्रायः समुदायवाचक शब्द से बहुवचन का ही प्रयोग होता है।

इस के साहित्यगत कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(क) **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।** (मनु० ४.२३३)

(ख) **ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।**
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते।। (हितोप० ३.५६)

(ग) **धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।**
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात् प्राणधारणम्।। (हितोप० ३.५५)

(घ) **भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।**
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ।। (मनु० १.९६)
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ।। (मनु० १.९७)

(ङ) **सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते ।** (चरक सूत्र० १२.११)

(च) **द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखम् ।** (भर्तृ० शृङ्गार० ७)

(छ) **अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमादवे वदतां वरः ।** (रघु० १.५९)

(४९) **पञ्चमी विभक्ते** ।२।३।४२।।

जहां विभिन्न दो वस्तुओं या समुदायों में से किसी एक का निर्धारण हो वहां अवधिभूत से पञ्चमी विभक्ति होती है । यथा —माथुरा **पाटलिपुत्रकेभ्य** आढचतराः (मथुरानिवासी पटनानिवासियों से अधिक सम्पन्न हैं) । यहां मथुरानिवासी और पटनानिवासी दोनों परस्पर भिन्न विवक्षित हैं इन का कोई एक समुदाय नहीं । अतः इन में से एक के निर्धारण में अवधिभूत 'पाटलिपुत्रक' से पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

पूर्वसूत्र और इस सूत्र में यह अन्तर है कि जहां पूर्वसूत्र का विषय एक समुदाय होता है जिस में से उस के एक अंश का निर्धारण किया जाता है वहां इस सूत्र का विषय दो विभिन्न वस्तुएं व्यक्तियां वा समुदाय होती हैं जिन में एक की अपेक्षा दूसरे का निर्धारण किया जाता है ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा- -

(क) **इमामनूनां सुरभेरवेहि ।** (रघु० २.५४)

(ख) **नास्ति सत्यात् परो धर्मः ।** (मनु० ८.७)

(ग) **मौनात् सत्यं विशिष्यते ।** (सुभाषित)

(घ) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।** (गीता० ३.८)

(ङ) **धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।** (गीता० २.३१)

(च) **सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।** (गीता० २.३४)

(छ) **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।**
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ।। (उत्तर० २.७)

(ज) **पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ।** (पञ्च० ५.२०)

(झ) **तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।**
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति ।। (सुभाषित)

अभ्यास (१५)

[१] सूत्रों और वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

सहयुक्तेऽप्रधाने । कृत्यानां कर्त्तरि वा । न लोकाव्ययनिष्ठा० । अधिशीङ्स्थासां कर्म । उभसर्वतसोः कार्या० । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं० । आख्यातोपयोगे । इत्थम्भूतलक्षणे । गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ० । यस्य च

भावेन भावलक्षणम् । उपान्वध्याङ्वसः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका ।

[२] निम्नस्थ उदाहरणों में विभक्तिविधायक सूत्र का समन्वय करें—
१. नृषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः। २. गोषु दुह्यमानासु गतः। ३. कस्मिन् निमित्ते। ४. कर्त्ता लोकान्। ५. ओदनं बुभुक्षुः। ६. राज्ञां मतः। ७. जगतः कर्त्ता परमेश्वरः। ८. तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्। ९. आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। १० ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ११. हिमवतो गङ्गा प्रभवति। १२. चौरात् त्रायते। १३. धर्मान्न प्रमदितव्यम्। १४. काव्यं यशसे। १५ पुष्पेभ्यः स्पृहयति। १६. सतां सद्भिः सङ्गः। १७. जटाभिस्तापसः। १८. कन्यया शोकः। १९. नगरमधिवसति। २०. स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति। २१. क्रोशं कुटिला नदी। २२. ग्रामं समया। २३. स्वामी भृत्येन भारं हारयति। २४. देवदत्ताय शतं धारयति।

[३] 'यतश्च निर्धारणम्' और 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्रों के विषय का विवेचन करें।

[४] तादर्थ्य किसे कहते हैं ? इस में कौन सी विभक्ति आती है ? इस के तीन उदाहरण दीजिये।

[५] निम्नस्थों के योग में कौन कौन सी विभक्ति आती है सप्रमाण उदाहरण दर्शा कर स्पष्ट करें—
नाना, अभितः, आरात्, नमः, समया, अन्तरा, सह, उभयतः, हा, अलम्, पृथक्, स्वाहा, कृत्प्रत्यय, कृत्यप्रत्यय, खलर्थप्रत्यय।

[६] सप्रमाण समझाते हुए अशुद्धिशोधन कीजिये—

भुजङ्गः प्रकृतेः क्रूरो वेषात् संलक्ष्यते यतिः।
उपर्युपरि नीरस्य तरन्ति स्नेह-बिन्दवः ॥१॥

अभिशेते मृगो मार्गे नगरे नाऽऽवसेद् मुनिः।
न चान्तरेण पुत्रेण गृहस्थः शोभते क्वचित् ॥२॥

कुप्यन्ति गुरवः शिष्ये ग्राममाराद् वसेद् बुधः।
कर्णयोर्बधिरो नैव परोक्तं बुध्यते क्वचित् ॥३॥

न रोचे पठनं ग्रन्थं शस्त्रात्तेन रिपुर्हतः।
पर्वतेभ्यः समस्तेभ्य एष उच्चतमो गिरिः ॥४॥

प्रासादे परितो वृक्षा नमामि परमात्मने।
गुरोः सत्रा गमिष्यामि धिङ् नीचाय दुरात्मने ॥५॥

अधीत्य त्रीणि वर्षाणि सफलोऽसावजायत।
अधिवस्तुमरण्येऽस्मिन् यतन्ते सर्वदेवताः ॥६॥

नकुलोऽयं प्रभुः सर्वेऽध्ययनं **कं न रोचते ।**
पापिनं **न धनं दद्याद्** मृत्युना **न परं भयम्** ॥७॥
प्रमादलं **महीपाल !** तव **नाथेऽशुभं कुतः ।**
वाहयन्ति रथान् सूतः हयान् श्वेतानलङ्कृतान् ॥८॥
अध्यास्ते पर्णशालायां **भीतः** सिंहेन **बालकः ।**
अद्रुह्यदर्जुनं कर्ण ऋते धर्मे **कुतः सुखम्** ॥९॥
जननी खादयत्यन्नं निजान् पुत्रान् **विशेषतः ।**
धर्मे **योऽभिनिवेशः स्याच्छिष्योऽधीते** गुरौ **सदा** ॥१०॥
केन **हेतोरिमे बालाः क्रुध्यन्ति** निजमातरि ।
शूराय **दुर्जयः कामो** दैत्यानां **घातुको** हरिः ॥११॥
युवयोरन्तरा **कोऽस्ति** ग्रामस्य **निकषा सरः ।**
क्षुत्पिपासापरीतस्य **संगीतं प्रतिभाति किम् ?** ॥१२॥
स्पृहयन्ति मृगा घासं क्रोशेन **कुटिला सरित् ।**
स्वाध्यायेन **प्रमादश्चेद्** विप्राय **मरणं मतम्** ॥१३॥
निवारयतु कीर्त्यर्थी स्वां जिह्वां परनिन्दया ।
वज्रेणापि **कठोरत्वं यात्युक्तं दुर्वचः क्वचित्** ॥१४॥

इति विभक्त्यर्थ-परिशिष्टम् ।

(यहां पर विभक्त्यर्थप्रकरण का परिशिष्ट समाप्त होता है ।)

मुनि-राम-नभो-नेत्रे　वैक्रमे　शुभवत्सरे ।
आश्विनस्य सिते पक्षे दुर्गाष्टम्यां तिथौ तथा ॥१॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
कृदन्तकारकाख्योऽयं　तृतीयः　पूर्तिमागतः ॥२॥
(आश्विन २०३७ वैक्रमाब्द; अक्तूबर सन् १९८०)

इति भूतपूर्वाखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्ति-डेराइस्माईलखाना-
ख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-
भृता वंशेन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां
कृदन्त-विभक्त्यर्थात्मक-
स्तृतीयो भागः
पूर्तिमगात्

—:o:—

(१) परिशिष्ट—अष्टाध्यायी-सूत्र-तालिका

[यहां इस ग्रन्थ में आये अष्टाध्यायीस्थ सूत्रों की सूची दी जा रही है। स्थूलाक्षरों में मुद्रित सूत्र मूल लघुकौमुदी के हैं। सूक्ष्माक्षरों वाले सूत्र व्याख्याकार द्वारा उपबृंहित कर व्याख्यात किये गये हैं। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या दी गई हैं।]

(२) परिशिष्ट—वार्त्तिक-तालिका

[इस परिशिष्ट में इस भाग के अन्तर्गत मूल तथा भैमी-व्याख्या में आये वार्त्तिकों की सूची दे रहे हैं। मोटे टाइप में मूलगत वार्त्तिक हैं। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(३) परिशिष्टे—कारिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में भैमीव्याख्या के इस भाग में व्याख्यात व्याकरणसम्बन्धी कारिकाओं तथा श्लोकों की तालिका प्रस्तुत की जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(४) परिशिष्टे--परिभाषादि-तालिका

[इस परिशिष्ट में इस ग्रन्थ में व्याख्यात परिभाषाओं, न्यायों तथा अन्य विशेषवचनों की सूची दी जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या निर्दिष्ट है।]

(५) परिशिष्टे—विशेषद्रष्टव्यस्थलतालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कुछ द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है]

६. परिशिष्टे—

भैमीव्याख्या तृतीय भाग के

विशेष स्मरणीय पद्य व वचन

(१) नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः ।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ॥
(पृष्ठ ७)

(२) भिदेलिमानि काष्ठानि शालयोऽमी पचेलिमाः ।
छिदेलिमा जीर्णरज्जुस्तृणजालं दहेलिमम् ॥
(पृष्ठ १३)

(३) क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥
(पृष्ठ १३)

(४) शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी । (पृष्ठ १५)

(५) गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥
(पृष्ठ १८)

(६) हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयं प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम् ।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सिताऽसितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः ॥
(पृष्ठ १८)

(७) हेयं दुःखमनागतम् । (पृष्ठ १८)

(८) ईङ् गताविति धातोर्यत् तस्मादेयमिति स्थिते ।
एङीति पररूपे स्याद् उपेयमिति न त्विणः ॥
(पृष्ठ २०)

(९) धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ।
(पृष्ठ २५)

(१०) यस्मिन् दश सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति ॥
(पृष्ठ ५१)

(११) जन्मतः स्वजनशोककारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका ।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥
(पृष्ठ ५५)

(१२) स्वमाने परमाने चोभयत्रापि स्मृतो णिनिः ।
परं खशो विधानं तु स्वमान एव केवलम् ॥
(पृष्ठ ७३)

(१३) अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थ-दृश्वरीम् ।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ॥
(पृष्ठ ८०)

(१४) विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः ॥
(पृष्ठ ९१)

(१५) तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम् ।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः ॥
(पृष्ठ १००, विद्युन्मालावृत्तम्)

(१६) उणादयो ह्यव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ।
(पृष्ठ १६६)

(१७) नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
(पृष्ठ १६६)

(१८) उणादिप्रत्ययाः सन्ति पादोत्तरशतत्रयम् ।
(पृष्ठ १६६)

(१९) सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥
(पृष्ठ १७०)

(२०) तुमुन्क्त्वाप्रत्ययादीनां सत्त्वभूतार्थवर्जनात् ।
सामान्योक्तः सुरेव स्यादिति न्यासादिषु स्थितम् ॥
(पृष्ठ १७८)

(२१) पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने ।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥
(पृष्ठ १८२)

(२२) कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते ।
(पृष्ठ १९४)

(२३) घञबन्तः (पुंसि) (पृष्ठ १९४)

(२४) घाजन्तश्च (पुंसि) (पृष्ठ १९९)

(२५) ददातिश्च दधातिश्च मिनोतिर्लभिरित्यपि ।
क्रीणातिश्च करोतिश्च बिभर्त्यथ पचिर्वपिः ।
पाणिनीये महातन्त्रे नवैते धातवो ड्वितः ।
प्रत्ययः क्त्रिर्भवेद् भावे निर्वृत्ते मप् ततः स्मृतः ॥
(पृष्ठ २०७)

(२६) अकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च ।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ॥
(पृष्ठ २२०)

(२७) क्रियाजनकत्वं कारकत्वम् । (पृष्ठ २९५)

(२८) कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट् ॥
(पृष्ठ २९६)

(२९) विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । (पृष्ठ २९६)

(३०) नियतोपस्थिकः प्रातिपदिकार्थः । (पृष्ठ २९७)

(३१) द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।
(पृष्ठ २९७)

(३२) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥
(पृष्ठ २९८)

(३३) सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् ।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥
(पृष्ठ ३०२)

(३४) यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥
(पृष्ठ ३०५)

(३५) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ।
(पृष्ठ ३०६)

(३६) दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छि-चिब्रूशासुजिमथ्-मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥
(पृष्ठ ३०७)

(३७) अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । (पृष्ठ ३०८)

(३८) गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम् ।
(पृष्ठ ३०८)

(३९) प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्त्तुरिष्यते ॥
(पृष्ठ ३१४)

(४०) वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ॥
(पृष्ठ ३१६)

(४१) भेद्यभेदकयोश्चैक-सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते ।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ॥
(पृष्ठ ३२६)

(४२) कर्तृकर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
(पृष्ठ ३३१)

(४३) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥
(पृष्ठ ३३८)

(४४) क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं चेष्यते । (पृष्ठ ३३९)

* * *

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2007

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था** । सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये है । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का सकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषतः प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुतः इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है। यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है। जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है। यह शोधप्रबन्ध छ: अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है। इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है। इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है। इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है। सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

शोधपूर्ण इस निबन्ध में 'अइउण्' आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं। ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**—इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है। **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके।